राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक—फतहसिंह, एम.ए., डी.लिट्.

[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

ग्रन्थाङ्क ६४

महाकवि - बाणभट्ट - विरचितं

चण्डीशतकम्

मेदपाटेश्वर-महाराणा-कुम्भकर्णप्रणीतया अज्ञातकर्तृकृतया टीकया च संवलितम्
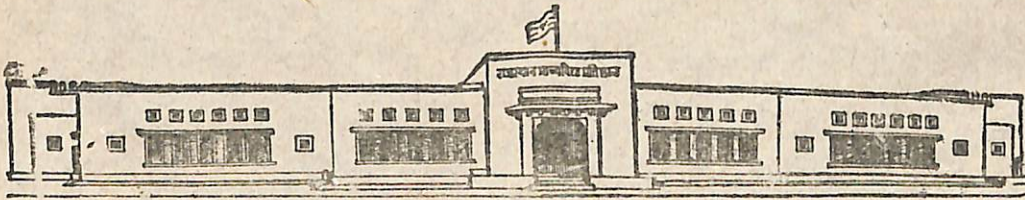
प्रकाशक

राजस्थान-राज्य-संस्थापित

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, JODHPUR.

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान-राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिलभारतीय तथा विशेषतः राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट-ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक

फतहसिंह, एम.ए.,डी.लिट्.
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

ग्रन्थाङ्क ९४

महाकवि - बाणभट्ट - विरचितं

चण्डीशतकम्

मेदपाटेश्वर-महाराणा-कुम्भकर्णप्रणीतया अज्ञातकर्तृकृतया टीकया च संवलितम्

प्रकाशक

राजस्थान-राज्याज्ञानुसार

निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

१९६८ ई०

वि० सं० २०२५ भारतराष्ट्रीय शकाब्द १८९०

प्रधान-सम्पादकीय वक्तव्य

प्रतिष्ठान के भूतपूर्व उपनिदेशक श्री गोपालनारायण बहुरा द्वारा सम्पादित चण्डीशतक के इस संस्करण की सर्वाधिक विशेषता यह है कि इसमें बाण-कृत चण्डीशतक की दो अप्रकाशित टीकाएं भी प्रकाशित की जा रही हैं। इन टीकाओं में से एक तो किसी अज्ञात टीकाकार की कृति है और दूसरी के कर्ता इतिहास-प्रसिद्ध तथा संगीतराज नामक महाग्रंथ के यशस्वी लेखक महाराणा कुंभा हैं। महाराणा कुम्भा की टीका पाण्डित्यपूर्ण टीकाओं में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करती है। उन्होंने प्रत्येक विषय को जिस सूक्ष्म और पैनी दृष्टि से देखा है वह अन्यत्र बहुत कम ही प्राप्त होगी। इस टीका को एक आदर्श टीका मान कर यदि इसका विविध दृष्टिकोणों से अध्ययन प्रस्तुत किया जा सके तो शोध-छात्रों के लिये बहुत उपादेय हो सकता है।

विद्वान् सम्पादक ने चण्डीशतक के लेखक बाणभट्ट और उनके टीकाकार महाराणा कुंभा पर अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। उन्होंने अपने गुरु-कल्प मित्र पं०मोतीलाल शास्त्री के विचारों पर आधारित चण्डीशतक के मूल देवी-तत्त्व पर भी एक दार्शनिक व्याख्या को सुबोध शैली में प्रस्तुत किया है। उन्होंने एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है, महाराणा कुम्भा की रचित टीका की प्रति का जिस प्रति के आधार पर सम्पादन किया गया है उसको एक प्रसिद्ध जैन-साधु श्रीवल्लभोपाध्याय ने स्वयं अपने हाथ से तैयार किया था। यह जैन-साधु स्वयं बड़े यशस्वी लेखक और विद्याप्रेमी थे जिनके विषय में हमारे प्रतिष्ठान के ही महोपाध्याय विनयसागर ने 'अरजिनस्तव' का सम्पादन करते हुए अपनी भूमिका में विस्तार के साथ लिखा है।

श्री गोपालनारायण बहुरा के सुन्दर सम्पादन के लिये मैं प्रतिष्ठान की ओर से हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ और आशा करता हूँ कि वे प्रतिष्ठान के शोधकार्य में पूर्ववत् सहायता करते रहेंगे।

माघ शुक्ला अष्टमी, सं. २०२४
जोधपुर.

फतहसिंह

प्रास्ताविक परिचय

महाकवि-बाण-रचित कादम्बरी, हर्षचरित, चण्डीशतक, शिवशतक अथवा शिवस्तुति, मुकुटताडितक, शारदचन्द्रिका और पार्वतीपरिणय के उल्लख मिलते हैं। कादम्बरी कथा है, हर्षचरित आख्यायिका, चण्डीशतक और शिवस्तुति दोनों स्तुति-काव्य हैं, मुकुटताडितक, शारदचन्द्रिका और पार्वती-परिणय नाटक हैं। इनमें से कुछ कृतियाँ उपलब्ध हैं, कुछ में से उद्धरण प्राप्त हैं और कुछ के नाममात्र सुने जाते हैं अथवा अन्य साहित्यकारों की रचनाओं में उनका संकेत-मात्र मिलता है।

वस्तुतः कादम्बरी के साथ ही बाण का नाम अभिन्नरूप से जुड़ गया है। जिन लोगों ने इस कथा को पढ़ सुन कर उसका आस्वाद नहीं भी किया है वे भी इतना अवश्य जानते हैं कि बाणभट्ट और कादम्बरी, ये दोनों नाम आपस में अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध हैं; फिर, जिन रसज्ञों ने इसका पान किया है उनका तो खाना-पीना ही छूट जाता है, वे बाणाहत से होकर प्रत्येक पदक्रम पर कुरङ्गचापल्य का प्रदर्शन करते हैं। निश्चय ही कादम्बरी बाणभट्ट की अन्तिम और प्रौढतम रचना है। दुर्भाग्य से बाण स्वयं इसको पूरा नहीं कर सका और बीच ही में दिवंगत हो गया। उसके विनयी एवं आज्ञाकारी भूषण-भट्ट अथवा पुलिन्द-नामा पुत्र ने इसे पूर्ण किया :—

"याते दिवं पितरि तद्वचसैव सार्धं,
विच्छेदमाप भुवि यस्तु कथाप्रबन्धः।
दुःखं सतां तदसमाप्तिकृतं विलोक्य,
प्रारब्ध एव स मया न कवित्वदर्पात्॥

कादम्बरी के सौष्ठव ने भारतीय साहित्य-रसिकों पर ऐसी छाप जमा दी कि बाणभट्ट की अन्य रचनाएं उनके लिए उपेक्षितप्राय हो गईं। और तो क्या, हर्षचरित भी, जो बाणभट्ट ही नहीं, संस्कृत-साहित्य के अन्य कविपुङ्गवों के अस्तित्व के तिथि-निश्चितीकरण में दिङ्निर्देशक ध्रुव-नक्षत्र के समान है, एक बार तो प्रायः भुलाया जा चुका था। काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण आदि में ही इसके इक्के-दुक्के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। बाद के अनुशीलन से पाया गया कि आनन्दवर्धन, नमिसाधु और रुय्यक आदि ने भी अपने ग्रन्थों में महाकवि बाणभट्ट की इस कृति को सन्दर्भित किया है।

मुकुटताडितक नाटक का उल्लेख केवल भोजदेव के शृङ्गारप्रकाश और त्रिविक्रमभट्ट-कृत नलचम्पू की दण्डपाल अथवा चण्डपाल एवं गुणविनयगणि लिखित व्याख्याओं में ही मिलता है; मूल नाटक का अभी तक उपलब्ध न होना ही पाया जाता है। उक्त व्याख्या में इस नाटक का जो पद्य उद्धृत किया गया है वह इस प्रकार है :—

यदाह मुकुटताडितके बाणः—

आशाः प्रोषितदिग्गजा इव गुहाः प्रध्वस्तसिंहा इव
द्रोण्यः कृत्तमहाद्रुमा इव भुवः प्रोत्खातशैला इव।
बिभ्राणाः क्षयकालरिक्तसकलत्रैलोक्यदृष्टां दशां
जाताः क्षीणमहारथाः कुरुपतेर्देवस्य शून्यास्सभाः॥

पाण्डव भीम द्वारा दुर्योधन का उरुभङ्ग ही इस नाटक का प्रसंग है।

'पार्वतीपरिणय नाटक' का विषय कुमारसम्भव में वर्णित शिव-पार्वती-विवाह है। आधुनिक संशोधकों का मत है कि यह कृति कादम्बरी के कर्ता बाणभट्ट की न होकर अभिनव बाण अर्थात् वामनभट्ट बाण की है।[1]

'शारदचन्द्रिका' की सूचना हमें शारदातनय-विरचित 'भावप्रकाशनम्' में मिलती है। चन्द्रापीड़ की कथा के प्रसंग को लेकर वह कहता है—

कल्पितं बाणभट्टेन यथा शारदचन्द्रिका।
दिव्येन मर्त्यस्य वधः काव्यस्यावश्यभावतः॥[2]

धनञ्जय ने दशरूपक में शारदचन्द्रिका को उत्सृष्टिकाङ्क का उदाहरण माना है—

चन्द्रापीडस्य मरणं यत्प्रत्युज्जीवनान्तिकम्।
कल्पितं भट्टबाणेन यथा शारदचन्द्रिका॥

शिवशतक अथवा शिवस्तुति का नाम ही अर्थ-बोधक है, परन्तु इस कृति के कुछ पद्य ही स्फुट सङ्ग्रहों में प्राप्त होते हैं।

इनके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा में निम्न पद्य उद्धृत करते हुए यह कहा है कि यह कादम्बरी की विरहावस्था का चित्रण है —

"हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि
प्रालेयशीकरमुचस्तु हिमांशुभासः।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि
निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः॥

---

१. कादम्बरी पर पी. पीटरसन की भूमिका; पृ० ७।
२. भावप्रकाश, २५२, गायकवाड ओरियण्टल सिरीज्।

अत्र विप्रलम्भभरभग्नधैर्याया: कादम्बर्या विरहावस्थावर्णनं माधुर्यसौकुमार्यादिगुणयोगेन पूर्णेन्दुवदनेन प्रियंवदत्वेन हृदयानन्ददायिनीं दयिततमामातनोति ।"

इस सन्दर्भ ने संशोधकों को यह निष्कर्ष निकालने को उत्साहित कर दिया कि महाकवि बाण ने पद्यमयी कादम्बरी कथा का भी प्रणयन किया होगा।

आनन्दजीवन नामक विद्वान् ने अनुभवानन्द-कृत न्यायरत्नदीपावली पर तत्त्वविवेक टीका लिखी है, जिसमें उसने बाण-विरचित किसी वेदान्त-ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि वह वेदान्तविज्ञ भी था।[१]

काव्यप्रकाश में मम्मट के इस उल्लेख से कि बाण को काव्यरचना के फलस्वरूप हर्ष से धन की प्राप्ति हुई थी, इस अनुमान का भी जन्म हुआ है कि रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द भी बाण की ही रचनाएं हैं।

कैटेलागस् कैटेलागरम्[२] में थियोडॉर ऑफ्रेट ने 'सर्वचरित' नाटक भी बाणभट्ट के नाम से ही लिखा है।

कादम्बरी और हर्षचरित के बाद चण्डीशतक ही ऐसी रचना है जिसको बाण-विरचित होने की मान्यता देने में कवि-विपश्चितों ने कम से कम आपत्ति की है, यद्यपि सन्देह ने कितनों ही का पीछा इसको लेकर भी नहीं छोड़ा है। ऊपर बाण के नाम से जिन कृतियों का परिचय दिया गया है उनके नामों से ही विदित हो जाता है कि बाणभट्ट साम्ब-शिव का अनन्य उपासक था। जहाँ-जहाँ भी अवसर आया है उसने इष्टदेव का स्मरण अथवा उनकी चरित्र-चर्चा करने में प्रमाद नहीं किया है। कादम्बरी में भी मङ्गलाचरण में त्रिगुणात्मक अज को स्तुति के उपरान्त तुरन्त ही वह शिव का स्तवन करता है—

जयन्ति बाणासुरमौलिलालिता:
दशास्यचूडामणिचक्रचुम्बिन:।
सुरासुराधीशशिखान्तशायिनो
भवच्छिदस्त्र्यम्बकपादपांसव:॥[३]

---

१. History of Classical Sanskrit Literature by M. Krishnamachariar, p. 452

२. भा० १, पृ० ३६८

३. त्र्यम्बक वास्तव में उमा-माहेश्वर का नाम है। ईश्वर में जगत् का पितृत्व और मातृत्व दोनों निहित है, अत: उसके स्त्री-पुंरूप में स्त्री पुं की अम्बा है और पुं स्त्री का पिता है, इसीलिए 'स्त्री अम्बा यस्य स: त्र्यम्बक:' ऐसी व्युत्पत्ति की गई है।

इसी प्रकार चण्डिका-मण्डप का ससत्त्व और सशक्त वर्णन भी बाण की साम्ब-शिव-भक्ति का समर्थ उदाहरण है। यही नहीं, सामान्य वर्णनों में श्लेष का आश्रय लेकर उसने अपने मन को इष्ट से कभी विश्लिष्ट नहीं होने दिया है। वह चाण्डाल-कन्यका में भी किरातवेषा भवानी[1] और महिषासुरमर्दिनी[2] कात्यायनी के स्वरूप का दर्शन करता है, विन्ध्याटवी में भी सर्वव्यापिनी महामाया के लीला-विग्रह का साक्षात्कार करता है[3], उसकी कथा के पात्रों के अङ्ग चण्डिका की सेवा के लिए निर्मित हैं और उन पर उसका प्रतीक चिह्न वर्तमान है[4], रुद्राक्षवलयग्रहणनिपुण महामुनि जाबालि में अम्बिका-करतल की कल्पना और उनके भस्मपाण्डुरोमाश्लिष्ट शरीर में पशुपति विग्रह की वर्तमानता सत्यव्रती साम्बशिव-सेवी बाण की ही अनुभूति है। इन्हीं महामुनि की पशुपति से अभिन्नता की दूसरी कल्पना भी बहुत ही सुन्दर है। 'अहो यह जरा भी कितनी साहस वाली है कि जिसकी ओर प्रलयकाल के सूर्य का किरणजाल भी नहीं देख सकता, ऐसे इनके चन्द्रकिरण के समान सफेद बालों के जटाभार पर वह इस तरह उतर आई है जैसे शिवजी के मस्तक पर फेनपुञ्जधवला गङ्गा उतर आई हो। यही नहीं, प्राकृतिक दृश्यों में भी पद-पद पर उसे कण-कण में व्याप्त त्र्यम्बकात्म-स्वरूप की ही प्रतीति होती है; चन्द्राभरणालङ्कृत अम्बरतल से अवतरित ज्योत्स्नाप्रवाह को देख कर उसका मन त्र्यम्बक के उत्तमाङ्ग से प्रवाहित होकर धरणीतल और सागरों को आपूरित करती हुई हंसधवला गङ्गा के ध्यान में मग्न हो जाता है। सफेद टीके वाला इन्द्रायुध अश्व भी

---

१. 'आकलितगोरोचनारचिततिलकतृतीयलोचनामीशानरचितानुरचितकिरातवेषामिव भवानीं'
चाण्डालकन्यकावर्णन, कादम्बरी, अनुच्छेद ८

२. अलक्तकरसरागपल्लवितपादपङ्कजामचिरमृदितमहिषासुररक्तचरणामिव कात्यायनीम्।
वही, अनु० ८

३. कात्यायनीव प्रचलितखड्गभीषणा, कल्पान्तप्रदोषसन्ध्येव प्रनृत्तनीलकण्ठा, गिरितनयेव स्थाणुसङ्गता मृगपतिसेविता च।
विन्ध्याटवीवर्णन, का०, अनु० १७

४. आजानुलम्बेन कुञ्जरकरप्रमाणमिव गृहीत्वा निर्मितेन चण्डिकारुधिरबलिप्रदानार्थमसकृन्निशितशस्त्रोल्लेखविषमितशिखरेण भुजयुगलेनोपशोभितं, अकारणेऽपि क्रूरतया बद्धत्रिपताकोग्रभ्रुकुटिकराले ललाटफलके प्रबलभक्त्याराधितया मत्परिग्रहोऽयमिति कात्यायन्या त्रिशूलेनेवाङ्कितं; अचलराजकन्यकाकेशपाशमिव नीलकण्ठचन्द्रकाभरणं, अम्बिकात्रिशूलमिव महिषरुधिरार्द्रकायम्॥
शबरसेनापतिवर्णन, का०, अनु० २८

इसी प्रकार चण्डिका-मण्डप का ससत्त्व और सशक्त वर्णन भी बाण की साम्ब-शिव-भक्ति का समर्थ उदाहरण है। यही नहीं, सामान्य वर्णनों में श्लेष का आश्रय लेकर उसने अपने मन को इष्ट से कभी विश्लिष्ट नहीं होने दिया है। वह चाण्डाल-कन्यका में भी किरातवेषा भवानी[1] और महिषासुरमर्दिनी[2] कात्यायनी के स्वरूप का दर्शन करता है, विन्ध्याटवी में भी सर्वव्यापिनी महामाया के लीला-विग्रह का साक्षात्कार करता है[3], उसकी कथा के पात्रों के अङ्ग चण्डिका की सेवा के लिए निर्मित हैं और उन पर उसका प्रतीक चिह्न वर्तमान है[4], रुद्राक्षवलयग्रहणनिपुण महामुनि जाबालि में अम्बिका-करतल की कल्पना और उनके भस्मपाण्डुरोमाश्लिष्ट शरीर में पशुपति विग्रह की वर्तमानता सत्यव्रती साम्बशिव-सेवी बाण की ही अनुभूति है। इन्हीं महामुनि की पशुपति से अभिन्नता की दूसरी कल्पना भी बहुत ही सुन्दर है। 'अहो यह जरा भी कितनी ...स वाली है कि जिसकी ओर प्रलयकाल के सूर्य का किरणजाल भी नहीं ...सकता, ऐसे इनके चन्द्रकिरण के समान सफेद बालों के जटाभार पर वह ...ह उतर आई है जैसे शिवजी के मस्तक पर फेनपुञ्जधवला गङ्गा उतर ...। यही नहीं, प्राकृतिक दृश्यों में भी पद-पद पर उसे कण-कण में व्याप्त ...त्म-स्वरूप की ही प्रतीति होती है; चन्द्राभरणालङ्कृत अम्बरतल से ... ज्योत्स्नाप्रवाह को देख कर उसका मन त्र्यम्बक के उत्तमाङ्ग से ...होकर धरणीतल और सागरों को आपूरित करती हुई हंसधवला ...यान में मग्न हो जाता है। सफेद टीके वाला इन्द्रायुध अश्व भी

...तगोरोचनारचिततिलकतृतीयलोचनामीशानरचितानुरचितकिरातवेषामिव भवानीं'

चाण्डालकन्यकावर्णन, कादम्बरी, अनुच्छेद ८

...रसरागपल्लवितपादपङ्कजामचिरमृदितमहिषासुररक्तचरणामिव कात्यायनीम्।

वही, अनु० ८

...व प्रचलितखड्गभीषणा, कल्पान्तप्रदोषसन्ध्येव प्रनृत्तनीलकण्ठा, गिरितनयेव ...ता मृगपतिसेविता च।

विन्ध्याटवीवर्णन, का०, अनु० १७

...न कुञ्जरकरप्रमाणमिव गृहीत्वा निर्मितेन चण्डिकारुधिरबलिप्रदानार्थमस... स्त्रोल्लेखविषमितशिखरेण भुजयुगलेनोपशोभितं, अकारणेऽपि क्रूरतया बद्ध... भृकुटिकराले ललाटफलके प्रबलभक्त्याराधितया मत्परिग्रहोऽयमिति कात्या... नेवाङ्कितं; अचलराजकन्यकाकेशपाशमिव नीलकण्ठचन्द्रकाभरणं, अम्बिका... महिषरुधिरार्द्रकायम्॥

शबरसेनापतिवर्णन, का०, अनु० २८

उसे भस्मसितपुण्ड्काङ्कित शैव महाव्रती लगता है।[1] बाण की कल्पना में चन्द्रापीड़ की सेना का अपूर्व रव हर का अट्टहास है और उसकी प्रतिध्वनि त्र्यम्बक के वृषभ का स्वर है। इसी तरह चेतन हो या अचेतन, मानवीय हो या प्राकृतिक, सभी पदार्थों में महाकवि का आत्मा उमा-माहेश्वर की शाश्वत सत्ता का अनुसन्धान करता रहता है।

हर्षचरित में भी सबसे पहले शिव और उमा का ही स्तवन किया गया है—

नमस्तुङ्गशिरश्चुम्बिचन्द्रचामरचारवे।
त्रैलोक्यनगरारम्भमूलस्तम्भाय शम्भवे ॥१॥
हरकण्ठग्रहानन्दमीलिताक्षीं नमाम्युमाम्।
कालकूटविषस्पर्शजातमूर्छागमामिव ॥२॥

आगे भी, हर्ष के दरबार में उपस्थित होने को घर से प्रस्थान करते समय वह स्नानादिक से निवृत्त होकर देव-देव विरूपाक्ष शिव की क्षीरधारापुरःसर पूजा करता है, इत्यादि।

इन सभी उल्लेखों से स्पष्ट है कि महाकवि बाण शिव-पार्वती का अनन्य भक्त था और उसके द्वारा चण्डिका-स्वरूप-धारिणी हैमवती उमा द्वारा महिष-वध-वर्णनात्मिका शतप्रमाणश्लोकरचना असम्भावित नहीं लगती है।

भोजदेव-कृत सरस्वतीकण्ठाभरण में चण्डीशतक के पद्यांक ४० और ६६ बाण के नाम से ही उद्‌धृत हुए हैं। सम्भवतः चण्डीशतक के विषय में यही सबसे पहला उल्लेख प्राप्त है।

काव्यप्रकाश में भी मम्मट ने बाण-कृत चण्डीशतक का उल्लेख किया है।

अमरुकशतक पर अर्जुनवर्मदेव ने टीका लिखी है; उसमें भी बाण-कृत चण्डीशतक का स्पष्ट उल्लेख है और पद्याङ्क ३७ उद्‌धृत किया गया है।

चण्डीशतक की रचना को लेकर कुछ ऐसी किम्वदन्तियां प्रचलित हैं कि सुपुष्ट ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा निराकृत होने पर भी वे लोकमानस से विलग नहीं होतीं। कहते हैं कि सूर्यशतक के कर्ता मयूर कवि बाणभट्ट के साले[2] थे। एक बार वे उनसे मिलने बहुत सवेरे ही जा पहुँचे। बाण की पत्नी रात भर से रूठी हुई थी और मानती ही नहीं थी। बाण तो कवि ठहरे। वे इस रूठ-मनौ-वल के प्रसङ्ग में एक पद्य रचने लगे जिसके तीन चरण तो बन गए थे और

---

१. भस्मसितपुण्ड्रकाङ्कितव्रतिनमिव। इन्द्रायुध-अश्ववर्णन—कादम्बरी

२. मानतुङ्ग-कृत भक्तामरस्तोत्र। कोई उन्हें बाण का श्वसुर भी कहते हैं।

चौथा चरण नहीं बैठ रहा था। वे बार-बार इन तीन चरणों को दोहरा रहे थे—

गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव।
प्रणामान्तो मानस्तदपि न जहासि क्रुधमहो

इतने में ही मयूर जा पहुँचे और उन्होंने अप्रत्यक्ष रह कर ये पंक्तियाँ सुन लीं। बहुत रोका उन्होंने अपने आपको, परन्तु चौथे चरण की पूर्ति में यह पद्याली उनके मुख से स्पष्ट निकल ही पड़ी—

कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम्।[१]

इसको सुन कर कवि-हृदय बाण तो प्रसन्न हुए, परन्तु उनकी पत्नी पहले तो लज्जा से गड गई, फिर क्रोध से भर गई। उसने मयूर को कुष्ठी होने का शाप दे दिया जिसकी निवृत्ति के लिए उन्होंने सूर्य की आराधना की और सूर्य-शतक की रचना की, जो मयूरशतक के नाम से भी प्रसिद्ध है।[२] इस रचना से प्रभावित हो कर ही उक्त पद्य में से 'चण्डि' शब्द को लेकर बाण ने प्रतिस्पर्धा में 'चण्डीशतक' रच डाला। कुछ लोगों का कहना है कि स्वयं बाण ने क्रुद्ध होकर मयूर कवि को शाप दिया और मयूर ने पलट कर उसको शाप दे डाला। बाद में, दोनों ने अपने-अपने इष्ट-देवता के प्रसादनार्थ उभय शतकों का प्रणयन किया और दोनों ही शापमुक्त हो गए।

ऐसा भी कहते हैं कि जब मयूर शापमुक्त हुए तो उनकी स्पर्धा में बाण ने अपने अंगों को आहत कर लिया और फिर चण्डी के प्रसाद से पुनः स्वास्थ्य-लाभ किया।

---

१. बाण कह रहे थे—'रात प्रायः बीत चुकी है, क्षीण शरीर वाला चन्द्रमा ढल रहा है, यह दीपक भी मानो नींद में भर कर चक्कर खा रहा है, प्रायः प्रणाम करते ही मानिनियां मान जाती हैं पर तुम्हारा क्रोध है कि शांत ही नहीं हो रहा है।' इतने में मयूर ने कहा 'हे चण्डि ? (कोपने). ऐसा लगता है कि कठिन कुचों के पास रहने से तुम्हारा हृदय भी कठोर हो गया है।'

२. कहते हैं कि मयूर ने एक अविवेकपूर्ण काव्य लिखा जो मयूराष्टक कहलाता है। इसमें उसने अपनी बहिन के शारीरिक सौन्दर्य का अमर्यादित रूप से वर्णन किया। इसी पर उसने अप्रसन्न होकर उसको शाप दिया था। इस अष्टक में तीन पद्य स्रग्धरा में हैं और शेष पाँच शार्दूलविक्रीडित छन्द में। इन पद्यों को जी. पी. क्वेकनबोस ने संकलित करके प्रकाशित किया है।

G. P. Quakenbos; the Sanskrit poems of Mayura, New York, 1917. (Columbia University, Indo-Iranian Series)

संस्कृत-कवियों में सौभाग्य से बाण ही ऐसा रचनाकार है जिसने अपने निजी जीवन के विषय में पर्याप्त प्रामाणिक सूचनाएँ दी हैं। साथ ही, इस महाकवि के जीवन-परिचय और समय के आधार पर ही संस्कृत-साहित्य के अन्यान्य रचनाकारों का समय निर्णीत करने में भी दिशा मिली है। महाराजा हर्ष ईसा की सातवीं शताब्दी के आरम्भ में उत्तरी भारत का सम्राट् था और उसीके समय में चीनी यात्री ह्वान साँग ६२९ ई० से ६४५ ई० तक भारत में रहा था। हर्ष के दरबार के विषय में इस यात्री का लिखा विवरण और बाण द्वारा वर्णित हर्षचरित का वृत्तान्त पूर्णतया समान तो नहीं हैं, परन्तु इनमें अन्तर भी इतना सामान्य-सा है कि दोनों में वर्णित हर्षवर्द्धन को एक ही मान लेने में कोई आपत्ति उपस्थित नहीं होती है। विद्वानों ने हर्ष का राज्यकाल ६०६ ई० से ६४८ ई० तक का मान्य किया है; अतः महाकवि बाण का समय भी छठी शताब्दी के अन्तिम चरण से सातवीं का मध्य तक निश्चित किया गया है।

अनेक सूक्ति-संग्रहों में और अन्यान्य ग्रन्थकारों की रचनाओं में बाण, मयूर और भक्तामरस्तोत्र के कर्ता मानतुङ्ग के समकालीन होने और हर्ष के दरबार में उनके प्रतिस्पर्द्धी होने के स्पष्ट अथवा अस्फुट उल्लेख मिलते हैं, परन्तु कुछ मुद्दे ऐसे हैं जो इन तीनों के समसामयिक होने में सन्देह उत्पन्न करते हैं। बाण और मयूर के साथ-साथ हर्ष के दरबार में वर्तमान होने का सब से पुराना उल्लेख नवसाहसाङ्क-चरित (पद्मगुप्तकृत) में मिलता है।[1] पद्मगुप्त का समय १००५ ई० के लगभग माना जाता है। इसके बाद एक श्लिष्ट पद्य में राजशेखर ने सूक्तिमुक्तावली में दोनों का नामोल्लेख किया है—

दर्पं कविभुजङ्गानां गता श्रवणगोचरम्।
विषविद्येव मायूरी मायूरी वाङ् निकृन्तति॥

इस पद्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकाले जाते हैं कि बाण ने हर्षचरित में अपने जिस समवयस्य मयूरक जाङ्गुलिक का नाम लिखा है, यह वही मयूरक है, सूर्य-शतक का कर्ता नहीं। कुछ का मत है कि सूर्यशतककार मयूर कवि जांगुलिक भी था। सूर्यशतक के दो श्लोकों को सर्व-प्रथम ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन ने उद्धृत किया है, यद्यपि उसने मयूर कवि का नामोल्लेख नहीं

---

१. स चित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः।
श्रीहर्ष इव सङ्घट्टं चक्रे बाणमयूरयोः॥
नवसाहसाङ्कचरितम्, २–१८

किया है ।[1] आनन्दवर्धन का समय नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है ।

भक्तामरस्तोत्र के रचयिता मानतुङ्गाचार्य के विषय में जैन-पट्टावलियों में लिखा है कि वे प्रद्योतन-सूरि के शिष्य मानदेव के शिष्य थे । उन्होंने भक्तामर-स्तोत्र की रचना करके बाण और मयूर पण्डित की विद्या से चमत्कृत क्षितिपति को प्रतिबोधित किया था; परन्तु, साथ ही यह भी उल्लेख है कि उनके पट्ट पर इक्कीसवें आचार्य श्रीवीरसूरि हुए जिन्होंने महावीर से ७७० वर्ष उपरान्त अर्थात् विक्रमीय संवत् ३०० में नागपुर में नमि-भवन की प्रतिष्ठा की ।[2] हर्ष का समय और यह सम्वत् मेल नहीं खाता है । उधर, एक और मत यह है कि मानतुङ्ग मालवा के चालुक्यवंशीय अधिपति वैरिसिंह के मन्त्री थे, जिसका समय ८५० ई० से ९०० ई० तक का है । वृद्धपट्टावली में लिखा है कि वैरिसिंह मालवा के परमार-वंश-संस्थापक उपेन्द्र अथवा कृष्णराज का क्रमानुयायी था[3] प्रभावक-चरित्र में उल्लेख है कि मानतुङ्ग हर्ष शीलादित्य के दरबार में गए और उन्होंने वहाँ पर बनारस में बाण और मयूर को परास्त किया ।

वामन की काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में कादम्बरी और हर्षचरित में से उद्धरण मिलते हैं और सम्भवतः बाण की कृतियों में से ये ही प्राचीनतम उद्धरण हैं । वामन का समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है । इतना

---

१. आनन्दवर्द्धन-कृत ध्वन्यालोक में सूर्यशतक के ये दो श्लोक उद्धृत हैं—

दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः
पूर्वाह्णेऽतिप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः ।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो
गावो वः पावनास्ताः परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु ॥९॥
नो कल्पापायवायोरदयरयदलत्क्ष्माधरस्यापि गम्या
गाढोत्कीर्णोज्ज्वलश्रीरहनि न रहिता नो तमः कज्जलेन ।
प्राप्तोत्पत्तिः पतङ्गान्न पुनरुपगता मोषमुष्णत्विषो वो
वर्त्तिः सैवान्यरूपा सुखयतु निखिलद्वीपदीपस्य दीप्तिः ॥२३॥

२. २१. एगवीसति, श्रीमानतुंगसूरिपट्टे एकविंशतितमः श्रीवीरसूरिः स च श्रीवीरात् सप्ततिसप्तशतवर्षे, विक्रमतः त्रिशती ३०० वर्षे नागपुरे श्रीनमिप्रतिष्ठाकृत् । यदुक्तम्—

नागपुरे नमिभवन-प्रतिष्ठया महितपाणिसौभाग्यः ।
अभवद्वीराचार्यस्त्रिभिः शतैः साधिके राज्ञः ॥१॥

पट्टावलीसमुच्चये, पृ. ५०

३. History of Classical Sanskirt Literature by M. Krishnamachariar, p. 329

प्राचीन प्रामाणिक उल्लेख अन्य दोनों कवियों का नहीं पाया जाता; अतः इनकी समसामयिकता विचारणीय ही है। उक्त दोनों शतकों का किसी-न-किसी रूप में चण्डीशतक के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाता है, इसीलिए इतना उल्लेख आवश्यक हुआ। अस्तु,

चण्डीशतक की रचना का उद्देश्य या कारण कुछ भी रहा हो उसके मूल में चण्डिका-स्वरूपिणी भगवती योगमाया की भक्ति और उसका चरित्र-वर्णन मुख्यतः बीजरूप से वर्तमान है।

चण्डीशतक का वर्ण्य विषय चण्डी द्वारा महिषासुर का वध है। मूल कथा महाभारत के नवम पर्व के ४४ से ४६ अध्याय के अन्तर्गत आती है। पुराणों में इसका उपबृंहण हुआ है। मार्कण्डेय-पुराण के अध्याय ८१ से ९३ तक का प्रकरण दुर्गा-सप्तशती के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें देवी द्वारा असुरों के विनाश का वर्णन तीन चरित्रों के रूप में हुआ है। प्रथम चरित्र में मधु और कैटभ नामक दैत्यों के वध की कथा है, मध्यम चरित्र में महिषासुर के विनाश की और तीसरे अथवा उत्तम चरित्र में शुम्भ निशुम्भ नामक महापराक्रमी दानवों के हनन का वर्णन है। मध्यम चरित्र ही चण्डीशतक की रचना का आधार है। इसकी कथा इस प्रकार है—

प्राचीन काल में महिष नामक एक दुर्जय असुर ने जन्म लिया। उसने इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, यम, वरुण, अग्नि, वायु आदि देवताओं को पराजित कर दिया और वह स्वयं इन्द्र बन बैठा।[1] देवगण अपने भोगैश्वर्य से हाथ धो बैठे और इधर-उधर भटकने लगे। अन्त में, वे पद्मयोनि ब्रह्मा को साथ लेकर विष्णु और शिव के पास गए[2] और उन्होंने रो-धोकर अपनी कष्ट-कथा उनको सुनाई। उनकी करुण-कहानी सुन कर मधुसूदन और शम्भु दोनों कुपित हुए और उनके मुखों से एक महान् तेज प्रकट हुआ। इसके बाद ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र और यमादि देवताओं के शरीरों से भी तेज निर्गत हुआ। वह सब देवताओं

---

१. जित्वा च सकलान् देवान् इन्द्रोऽभून्महिषासुरः ॥

—दु० स०, २-२

चण्डीशतक के श्लोकों में आप देखेंगे कि महिषासुर ने इन सभी देवताओं को एक एक करके प्रतारित किया है।

२. ततः पराजिता: देवाः पद्मयोनिं प्रजापतिम्।
पुरस्कृत्य गतास्तत्र यत्रेशगरुडध्वजो ॥—दु० स०, २-३

के शरीरों से निकला हुआ तेज एकस्थ होकर तीनों लोकों को व्याप्त करने वाली दिव्यातिदिव्य देवी के रूप में परिणत हो गया।

ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा अन्य प्रमुख देवों ने अपने-अपने अमोघ शस्त्रास्त्रों से उस देवी को सन्नद्ध किया। उसी समय देवी ने ज़ोर से अट्टहास किया जिससे समस्त लोक कम्पायमान हो गए। महिष ने भी क्रोधित होकर कहा 'आ: यह क्या है ?'[1], ऐसा कह कर समस्त असुरों को लेकर वह सामने दौड़ा। उसने देखा कि उस महाशक्ति की कान्ति त्रैलोक्य में फैली हुई है और वह अपनी सहस्रभुजाओं को चारों दिशाओं में फैला कर स्थित है।[2]

इसके बाद दोनों ओर से युद्ध आरम्भ हुआ। देवी ने असुरपति के चिक्षुर, चामर, उदग्र, कराल, वाष्कल, ताम्र, अन्धक, अतिलोम, उग्रास्य, उग्रवीर्य, महाहनु, विडालास्य, महासुर और दुर्मुख नामक चौदह सेनापतियों का बात की बात में हनन कर दिया। तब महिषासुर ने महिष, हस्ति, मनुष्य आदि के विविध रूप धारण करके युद्ध किया और अन्त में अपने उन विविध रूपों की कापाल-माला को छोड़ कर पुन: महिष-रूप में सामने आया। खीझ कर वह सभी देवताओं और देवी को गर्जन-तर्जन करता हुआ सोत्प्रास वचन कहने लगा।[3] उस समय देवी मधु-पान करने लगी थी। उसने कहा 'मूढ ! मैं मधुपान करूं तब तक गर्जन कर ले, अभी मेरे द्वारा तेरा वध होने पर ये सभी देवता प्रसन्न होकर गर्जने लगेंगे।' ऐसा कह कर उस देवी ने अपने पैर की ठोकर मार कर तथा तलवार से शिर काट कर उस महान् असुर को विगत-प्राण कर दिया। देवताओं में हर्ष की लहर दौड़ गई और शक्रादि सुरगणों ने पुलकित होकर देवी की स्तुति की।

यह महिषासुर-वध की कथा का स्थूल रूप है, जो पुराण में वर्णित है। इसी कथा के विविध सूत्रों को लेकर महाकवि बाण ने चण्डीशतक के श्लोकों की रचना की है। प्रत्येक श्लोक में वर्णित देवी के स्वरूप और नाम से मङ्गल-कामना की गई है।

पौराणिक कथाओं का मूल स्रोत वेद है। वैदिक विद्याओं के उपबृंहण

---

१. 'आ: किमेतदिति क्रोधादाभाष्य महिषासुर:'॥ दु. स. २–२५

२. 'स ददर्श ततो देवीं व्याप्तलोकत्रयां त्विषा'॥ दु. स. २–३६

३. चण्डीशतक के श्लोक ७६, ७७, ८०, ८१, ८२, ८३, ८५, ९१, ९२, १०० में दैत्य के सोत्प्रास कलुषित वचन बोलने का वर्णन है।

हेतु ही पुराण में विविध रोचक कथाओं का सारगर्भित विस्तार हुआ है। इसी लिए पुराणों की भाषा प्रायः प्रतीकात्मक होती है। वेद का अव्यय, अक्षर और क्षर नामक पुरुष-त्रिक अथवा अग्नित्रयी ही पुराणों के विधि, हरि, हर अथवा ब्रह्मा, विष्णु, महेश नामक त्रिदेव हैं; इन्हीं को दर्शन में सत्व, रज और तम नामक गुण-त्रय कहा गया है। अतः यह आवश्यक है कि पुराण में वर्णित विषयों का अर्थोद्घाटन करने के लिए प्रतीकों के रहस्यों को चौड़े में लाया जाय। प्रत्येक कथा का एक बाह्य अथवा स्थूल रूप होता है और दूसरा आभ्यन्तरिक अथवा सूक्ष्म रूप, जिसकी व्याख्या आध्यात्मिक दृष्टिकोण से होनी चाहिए। बाह्य स्वरूप का स्तर अथवा धरातल मानवी और अनित्य होता है और आभ्यन्तर स्वरूप का स्तर आध्यात्मिक होता है, जिसमें देवतत्व की नित्यलीला की व्याख्या होती है। इन रहस्यों के ये अनित्य और नित्य रूप परस्पर सापेक्ष्य और अविनाभूत हैं। एक के सहारे से दूसरे की व्याख्या उभय धरातलों पर सहज ही हो जाती है।

परात्पर ब्रह्म को शार्वर तम अथवा गहन अन्धकार कहा गया है, उसको जान लेना अतीव दुस्साध्य है, वह दुर्गम्य है। उसीकी विश्व-सृजन की इच्छा से समुद्भासित मूल शक्ति का नाम देवी है, क्योंकि उसीके द्वारा उस दुर्गम्य का भास होता है। दुर्गम्य की शक्ति होने से ही वह दुर्गा कहलाती है।[1] यही शक्ति विश्व का मूल कारण है। 'शक्तिः करोति ब्रह्माण्डम्'।[2] इसी को परमात्मिका शक्ति भी कहते हैं।[3] ऋग्वेद के दसवें मण्डल में वागाम्भृणी सूक्त में इस देवी की महिमा का वर्णन है। यही देवमाता अदिति हैं और इसी से केशववासवादि (इन्द्रवरुणादि) सब देवों की उत्पत्ति हुई है; यही वेद में शब्दजननी वाक् नाम से अभिहित है और कल्पान्त में ब्रह्मादि देवगण इसी अचिन्त्य-रूप-महिमा परा शक्ति में लीन हो जाते हैं।[4]

---

१. दुःखेन कष्टेन गम्यते प्राप्यते ज्ञायते वा सा दुगर्मा दुर्गा। दु. स., प्रदीपव्याख्या।

२. देवीभागवत। १. ८. ३७.

३. वही १. ८. ४७.

४. शब्दानां जननी त्वमत्र भुवने वाग्वादिनीत्युच्यसे
त्वत्तः केशववासवप्रभृतयोऽप्याविर्भवन्ति ध्रुवम्।
लीयन्ते खलु यत्र कल्पविरतौ ब्रह्मादयस्तेऽप्यमी
सा त्वं काचिदचिन्त्यरूपमहिमा शक्तिः परा गीयसे ॥१५॥

लघुस्तव ॥

परात्पर ब्रह्म अव्यक्त, अज्ञेय और स्वयम्भू है। उसका कारण ज्ञात नहीं है। उससे उत्पन्न महत्तत्त्व या महिम-भाव परमेष्ठी कहलाता है। जब तक परमेष्ठी-भाव व्यक्त नहीं होता तब तक, वह क्या है, है भी या नहीं, इसका कोई पता नहीं चलता। अन्धकार अन्धकार को ढँके रहता है। यह परमेष्ठी-भाव ही उस स्वयम्भू को ससीम रूप में व्यक्त करता है, वह उसके किसी अंश को मापता है इसलिए 'माता' कहलाता है। वही विश्व का मातृत्व है; स्वयम्भू पितृत्व है, बीज है। महत्तत्त्वावच्छिन्न ब्रह्म ही विश्वयोनि है।[1] स्वयम्भू और परमेष्ठी का दाम्पत्य ही जगत्-सृष्टि का मूल कारण है। स्वयम्भू में स्थिति है, परमेष्ठी में गति है; स्वयम्भू सत्य है, परमेष्ठी ऋत है; उसका आर्तव ही जगत्प्रसूति का कारण है। स्वयम्भू का कोई चरित्र नहीं है, उसमें विकृति या बदल नहीं है; परमेष्ठी की चञ्चल गतियों से ही चरित्रोद्गम होता है। वरुण और अंधकार, देव और असुर, रात्रि और सोम इन सभी की जननी देवी माता है।

परमेष्ठी की जो शक्ति स्वयम्भू-गर्भित होती है वही देवी है। उसीके विकास में पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ दीव्यत् होते हैं, दिखाई पड़ते हैं। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौः, परमेष्ठी और स्वयम्भू, यही विश्व-प्रपञ्च है। इसमें आद्य तीन पर्व व्यक्त हैं, शेष दो अव्यक्त। द्यौः और पृथ्वी ही प्रत्येक प्राणी के जन्म का कारण हैं। इनकी प्रजा मर्त्य होती है, व्यक्त होती है; स्वयंभू और परमेष्ठी का युग्म अमृत और अव्यक्त है, विकृति-रहित है।

स्वयम्भू की विशुद्ध प्राणात्मिका शक्ति ही माया कहलाती है क्योंकि वह उसी के द्वारा मापा या जाना जा सकता है अथवा जितना अंश मायावच्छिन्न होता है वह उतना ही नहीं होता, उससे परे भी होता है; मा या (यह ही नहीं है)। यही शक्ति परमेष्ठी में आकर देवी हो जाती है, चमकने लगती है। इसमें देव-भाव और असुरभाव साथ-साथ उत्पन्न होते हैं। एक भाव दूसरे पर हावी होने को सचेष्ट होता है, यही देवासुर-संग्राम है। परन्तु, वह पारमेष्ठ्य प्रकृति या शक्ति, दैवी हो अथवा आसुरी, सदा देवकार्य का ही साधन करती है[2]। आत्म-भाव अथवा केन्द्रभाव ही देवभाव है। जब तक असुरभाव का केन्द्र को अभिभूत करने का उपक्रम नहीं होता तब तक देवी उसका दमन नहीं करती है अर्थात्

---

१. 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' —गीता।

२. देवानां कार्यसिद्धयर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याऽप्यभिधीयते ॥४८॥ दु० स०-१

उसमें कोई आसुरी-विकृति नहीं आती है। चण्डीशतक के प्रथमश्लोक में इसी भाव की ओर संकेत है। कोप प्राकृतिक-विकार अर्थात् आसुरी भाव है। उसके उत्पन्न होकर प्रबल हो जाने पर सहज अथवा प्राकृतिक भाव दब जाता है। अतः देवी अपने प्राकृतिक शरीरावयवों को संयत रहने और विकृत न होने को कहती है ताकि वह कोपरूपी आसुरी-भाव स्व-प्रकृति पर हावी न हो सके। वह कोप के चिह्नों तक का उदय नहीं होने देना चाहती[1]। जब क्रोध आता है तो भौंहें तन जाती हैं, ओठ फड़कने लगते हैं, चेहरे का रंग बदल जाता है और हाथ हथियार सम्हालने लगते हैं। परन्तु, देवी (पारमेष्ठ्य-शक्ति) अपने में कोई क्षोभ या हलचल उत्पन्न नहीं होने देना चाहती। वह कहती है—

'हे भ्रू! अपने (लोककल्याणकारी अक्षुब्ध) विभ्रम (विलास) को भङ्ग मत करो; हे अधर! अनवसर ही यह कैसा वैकल्य? हे मुख! अपना (सहज शान्त) रङ्ग मत छोड़ो; अरे हाथ! यह तो प्राणी ही है, इससे कलह करने के लिए त्रिशूल क्यों सम्हाल रहे हो? इस प्रकार अपने जिन शरीरावयवों में में कोप के चिह्न प्रकट होने लगे थे उनको प्रकृतिस्थ करके देवी ने मरुद्गणों (देवों) के शत्रु के प्राण हरने वाला जो पद (चरण) उसके (महिष के) सिर पर धर दिया, वह आपके पापों का नाश करे।'

महिष पारमेष्ठ्य असुर है। यह परमेष्ठी से ही उत्पन्न देवात्मक सौरमण्डल पर आक्रमण करता है। पारमेष्ठ्य सौर-प्राण का पर्याय इन्द्र है और वारुण-पारमेष्ठ्य को महिष कहा गया है। जो सौर या जागृत भाव को आवृत कर लेता है वह महिष है। उक्त श्लोक में महिष को मरुदसुहृद् अर्थात् मरुद्गण (देवों) का असुहृद् कहा गया है। मरुत् वायु का भी पर्याय है। सौर-मण्डल की रचना प्राण और अपान के सम्मिलित स्पन्दन से हुई है। स्वयंभू और परमेष्ठी प्राणत् हैं और चन्द्र तथा पृथ्वी अपानत् रूप हैं। केन्द्र से परिधि की ओर जो बल प्रसरित होता है वह प्राणत्क्रियासम्पन्न है और जब वह परिधि से केन्द्र की ओर लौटता है तब वह अपानत्रूप होता है। यह गति और आगति क्रिया ही विश्वव्यापार का मूलाधार है। जब तक यह क्रिया संतुलित रहती है

---

१. श्लोक यहीं पढ़ लीजिए—

मा भांक्षीर्विभ्रमं भ्रूरधर विधुरता केयमास्यास्य रागं
पाणे प्राण्येव नायं कलयसि कलहश्रद्धया किं त्रिशूलम्।
इत्युद्यत्कोपकेतून् प्रकृतिमवयवान् प्रापयन्त्येव देव्या
न्यस्तो वो मूर्ध्नि मुष्यान्मरुदसुहृदसून् संहरन्नङ्घ्रिरंहः ॥१॥

तब तक तमोरूप महिष केन्द्र को अभिभूत नहीं कर पाता, वह उस स्थान से परे रहता है, अपगत हो जाता है। जब प्राण को अपान का बल प्राप्त हो जाता है तभी महिष केन्द्र को छोड़ कर हट जाता है, यही शाश्वत चक्र है[1]। इसीलिए देवी ने कहा कि इसके लिए कोई बहुत बड़ी हलचल करने की आवश्यकता नहीं है, केवल गत्यर्थसूचक पाद-प्रक्षेप से ही यह यन्त्र ठीक हो जायगा[2]।

अन्तश्चरति रोचनाऽस्य प्राणादपनती।
व्यख्यन् महिषो दिवम्॥ ऋ० १०।१८९।२

प्रत्येक वस्तु के चारों ओर एक मण्डल होता है, जो उसका द्युमण्डल कहलाता है; उस मण्डल में केन्द्र से परिधि और परिधि से केन्द्र की ओर प्राण और अपान की रोचना या रोशनी की गति और आगति रूपी क्रिया होती रहती है। इस गत्यागति-व्यापार को छोड़ कर मलीमस महिष अलग हो जाता है। यह तमोपुञ्ज महिष-रूप जब प्रबल हुआ तो विभक्त देव-प्राण उसको अपगत करने में असमर्थ हुआ। अतः सम्मिलित शक्तिरूप देवी ने अक्षुब्ध रह कर किंचित् पाद-प्रक्षेप से ही उस चक्र को पुनः गतिमान कर दिया; महिष का वध हो गया।

चण्डीशतक के श्लोक सं० २५, ४५ व ५४ में कंस के हाथ से छूट कर आकाश में उत्पतित होने वाली योगमाया को ही महिषमर्दिनी देवी कहा गया है। महामाया अव्यय परमात्मतत्त्व की निरपेक्ष शक्ति का नाम है। योगमाया उसी का सापेक्ष पक्ष है। योगमाया महामाया से पराक्गति है। सर्ग-क्रिया में सब चरित्र योगमाया का रहता है, प्रतिसर्ग में उसका अभिधान महामाया होता है क्योंकि वह तदभिमुख होती है। निरपेक्ष महामाया से योग होने के कारण ही वह 'योगमाया' कहलाती है। वस्तुतः वह सर्वप्रपञ्चकारणभूता आद्याशक्ति का ही सर्वदेवगुणान्वित रूप है।

देवीने पादप्रहार करके असुर को त्रिशूल से आहत किया तो भी उसके मुख से उसके प्राण अर्धनिष्क्रांत ही हुए; तब देवी ने उसका खड्ग से वध किया। इसका संकेत चण्डीशतक के ७०वें श्लोक में है, जिसमें देवगण देवी से प्रार्थना करते हैं कि, 'हे देवी ! इसका वध निस्त्रिंश (खड्ग) के द्वारा ही उचित है,

---

१. चण्डीशतकम्, श्लो० ६।
२. श्लोक १३ में भी यही भाव है कि देवी के शरीरावयवों में कोई विकृति नहीं आई।

क्योंकि इसके कर्म अत्यन्त घोर हैं' इत्यादि। इसी प्रकार ९५वें श्लोक में महिष के मधुरसनिभृत षट्पद के समान निश्चेष्ट और निःशब्द हो जाने का वर्णन है। इसमें देवी के मधुपान का संकेत है, जिसका रहस्य यह है कि परमेष्ठीमण्डल सोम से आपूरित है; इसी सर्वव्यापक भौतिक द्रव्य से पिण्डसृष्टि होती है। परमेष्ठी का सोम निरन्तर सौरमण्डल को अनुप्राणित करता रहता है। मधु सोम का प्रतीक है। पर्याप्त सोम के बिना सौर-केन्द्र का परिपाक नहीं होता, उसके पूर्ण होते ही महिष नष्ट हो जाता है। इसीलिए देवी ने कहा—'गर्ज गर्ज क्षणं मूढ यावन् मधु पिबाम्यहम्' अर्थात् जब तक सौर में पर्याप्त सोम नहीं पहुँचता तभी तक तेरी स्थिति है।' महिष के निःशब्द कण्ठ होने का अर्थ यह है कि जो वाक्तत्त्व उससे अभिभूत हो गया था वह उसके अधिकार से निकल गया और देवों को प्राप्त हो गया। दुर्गासप्तशती में इसका स्पष्ट संकेत है—

गर्ज गर्ज क्षणं मूढ मधु यावत्पिबाम्यहम्।
मया त्वयि हतेऽत्रैव गर्जिष्यन्त्याशु देवताः॥

विराट् विश्व में जो सङ्कटनाएं घटित होती हैं वे ही सीमित शरीर-विश्व में भी होती रहती हैं। जो ब्रह्माण्ड में होता है वही पिण्ड में होता है। अविद्याजन्य कलमष से आवृत मलीमस मन का प्रतीक ही महिष है। वह इंद्रियों रूपी देवताओं (जिनका स्वामी इन्द्र है) पर हावी हो जाता है और स्वयंप्रकाश सूर्य-आत्मा को भी ग्रस्त करने को उद्यत् होता है। 'सूर्य आत्मा जगतः'। इस सकट में सभी इन्द्रिय-देवताएं अपनी-अपनी शक्ति समर्पित कर सङ्कुटित होती हैं और उनकी अविकृति-प्रकृति-रूपी महाशक्ति जागृत होकर उस महान् अंधकार रूपी महिष का विनाश करके उन सब को प्रकृतिस्थ कर देती है।

वेद में वर्णित और लोक में घटित घटनाओं का समन्वय पुराणों में हुआ है। भारतीय विशिष्ट स्थलों, जनपदों, जातियों और व्यक्तियों का नामकरण भी पुराणों में प्रायः उक्त सङ्कटनाओं की व्याख्यानुरूप ही होता है। महाभारत, ब्रह्मपुराण, ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, मात्स्य, पाद्म, वायु और वामनपुराण में माहिषक, माहिषिक अथवा माहिषीक जाति का उल्लेख है, और इन लोगों को दक्षिणापथ के निवासी अथवा द्रविड कहा गया है। इसी प्रकार महिष-विषय अथवा महिष-मण्डल का भी उल्लेख शिला एवं ताम्रलेखों में मिलता है। वर्तमान मैसूर को भी जगह-जगह महिषपुर नाम से अभिहित किया गया है। महिषासुरमर्दिनी ही वहाँ की अधिष्ठात्री देवी है। यह भी कहा जाता है कि बहुत पूर्वकाल में वहाँ के निवासी महिष का पूजन भी किया करते थे। यम उनका उपास्य अथवा स्वामी था जो बाद में देवी के प्रभाव से आर्यदेवों में सम्मिलित हो गया।

बाण के विषय में भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में कहा है कि 'यादृग्गद्यविधौ'

बाणः पद्यबन्धे न तादृशः'। यद्यपि इसके पाठान्तर 'पद्यबन्धेऽपि तादृशः' का पूर्ण समर्थन तो नहीं किया जा सकता, परन्तु जिन में सहजात प्रतिभा होती है वह प्रत्येक अवस्था में विस्फुरित हो ही जाती है। यह सत्य है कि कवियों की कसौटी, अलङ्कृत-गद्य-लेखन, में बाण खरा सोना प्रमाणित हुए हैं तो पद्यरचना में भी उनकी प्रतिभा-प्रभा सर्वथा पिहित नहीं हो गई है। यह बात दूसरी है कि कादम्बरी उनकी प्रौढतम और अन्तिम रचना है, उसका-सा सौष्ठव अन्य किसी रचना में नहीं आ पाया है; संयोग की बात है। चण्डीशतक बाण की प्रारम्भिक रचना ज्ञात होती है। और, यदि मयूर कवि वाली किम्वदन्ती में सचाई है तो इस धारणा को और भी बल मिल जाता है। परन्तु, फिर भी बाण में कवित्व के जो गुण बीजरूप से विद्यमान थे वे इस रचना में भी प्रस्फुटित हुए बिना नहीं रहे हैं— भले ही उनके पूर्ण पल्लवित और पुष्पित होने के परिणाम कादम्बरी में दृष्टिगत हुए हों।

चण्डीशतक में एक ही बात सौ तरह से सौ बार कही गई है, फिर भी प्रत्येक पद्य में कल्पना, श्लेष और सन्दर्भ की वह नवीनता पाई जाती है, जो उस में टटकापन ला देती है। यद्यपि प्रत्येक पद्य अपने आप में स्वतन्त्र है फिर भी पूरे शतक को पढ़ जाने पर लगता है कि मूल कथा का कोई प्रसंग छूट नहीं पाया है; यह अवश्य है कि पद्यों की क्रम-व्यवस्था घटनाक्रम के पूर्वापर से मेल नहीं खाती है। कहीं-कहीं सन्दर्भ इतने गूढ़ हैं कि तत्काल उनका सूत्रानुसन्धान नहीं किया जा सकता। बाण को लम्बे-लम्बे समस्त पदों वाली श्लेषघना शैली प्रिय रही है। पहली बात का छन्द में निर्वाह होना कठिन है। कोई-कोई पद्य तो ऐसा श्लेषाश्लिष्ट है कि उसकी दो बार व्याख्या किए बिना अर्थ ही स्पष्ट नहीं होता। इस रचना में उक्तिवैचित्र्य ही कवि का मुख्य लक्ष्य ज्ञात होता है; श्लिष्ट और सन्दर्भित पदों का प्रयोग उसकी शैली से अभिन्न है, अन्य अलंकार जहां कहीं दृष्टिगत होते हैं, वे स्वतः आ गए हैं, उनके लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ा है। उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं का आधार प्रायः पौराणिक कथाएं ही हैं, परन्तु प्रकृति का सहज प्रेमी कवि, जहां भी अवसर मिला है वहां, उसका चेतोहर चित्रण किए बिना नहीं रहा है। औचित्य का निर्वाह करते हुए यथावसर शृंगार-वर्णन तो किया ही गया है, परन्तु प्रशान्त वीर के साथ-साथ अन्य रसों का भी यत्र-तत्र समावेश हुआ है। गुप्तकालीन स्त्रियों की वेशभूषा, आभूषण और कतिपय सामाजिक रीतियों का भी दिग्दर्शन स्वतः हो गया है। उदाहरण के रूप में पाठकों के विनोदार्थ कतिपय पद्यों के भावार्थ का उद्धरण यहां पर अनवसर नहीं होगा—

जब देवी ने महिष पर त्रिशूल का वार किया तो तीनों शूल उसके शरीर में घुस गए जिससे रक्त की तीन धाराएं (फव्वारे की तरह) निकल पड़ीं, उनको देख कर देवगण इस प्रकार उत्प्रेक्षाएं करने लगे—त्रिलोकी (के तीनों लोकों) को एक साथ ही लील जाने के लिए क्या मृत्यु (यमराज) की तीन लाल-लाल जिह्वाएं (एक वार में ही) निकल पड़ी हैं; अथवा, श्रीकृष्ण (विष्णु) के चरण-कमल की (अरुण) कान्ति से विष्णुपदी (गंगा) की तीनों धाराएं लाल हो गई हैं; या (त्रिकालसन्ध्योपासक) शिव की स्तुति से प्रसन्न होकर तीनों संध्याएं स्वयं एक साथ उपस्थित हो गई हैं[1] ?

इस पद्य में रक्तधाराओं के विषय में उत्प्रेक्षा करते हुए कवि ने संध्या की लालिमा का वर्णन करके अपनी प्रकृति-निरीक्षण की भावना का परिचय दिया है। कादम्बरी में भी जगह-जगह संध्या-वर्णन हुआ है। साथ ही, त्रिकाल-संध्योपासन का दिवसकृत्य का मुख्य अंग होना भी सूचित किया है। महिष-वध के समय प्रलयकाल का-सा दृश्य उपस्थित हो जाना भी यम-जिह्वाओं से ध्वनित होता है।

जब भवानी ने महिष पर पादप्रहार किया तो उसका रक्त चरण में लग जाने से वह अलक्तकरञ्जित-सा हो गया। ऐसी अरुणचरण वाली देवी ने सम्मुखागत समरोद्यत पशुपति (पशुओं के सरदार महिष) के प्रति कुछ-कुछ वैसी ही चेष्टाएं कीं जैसी पहले उसने नर्मकर्मोद्यत पशुपति (शिव) के प्रति की थीं। उसकी (महिष की) दृष्टि पर उसने दृष्टि लगा दी (उसकी प्रत्येक चेष्टा पर निगाह रक्खी) जैसे पहले पशुपति (शिव) के प्रति आसक्त होकर आँखों में आँखें डाल देती थी; जब वह (महिष) सामने आया तो देवी भी सामने डट गई, जैसे पशुपति (भगवान् शिव) के नर्मकर्माभिमुख होने पर वह भी अभिमुखी (अनुकूल) हो जाती थी; असुर के परिहास-वचनों (तानेबाज़ियों) पर वह (देवी) मुस्करा कर रह गई (उसकी सभी बातों को तुच्छ मान कर हँसी में टाल दिया) जैसे पहले भगवान् शंकर के चतुराई-भरे हास्य-वचन कहने पर प्रसन्नता और लज्जा से आँखों ही आँखों में हँसती थी; जब देवी के प्रियतम शङ्कर के विषय में महिष कोई (कटाक्ष और अत्युक्तिपूर्ण) वचन

---

१. मृत्योस्तुल्यं त्रिलोकीं ग्रसितुमतिरसान्निसृताः किं नु जिह्वाः
किं वा कृष्णाङ्घ्रिपद्मद्युतिभिररुणिता विष्णुपद्याः पदव्यः।
प्राप्ताः सन्ध्याः स्मरारेः स्वयमुत नुतिभिस्तिस्र इत्यूह्यमाना
देवैर्देवीत्रिशूलाहतमहिषजुषो रक्तधारा जयन्ति ॥४॥

कहता तो वह उसे कान लगा कर सुनती जैसे अपने प्रिय के प्रशंसापूर्ण नर्म-वचनों को श्रोत्र-पुटों से पी जाती थी, या प्रिय के द्वारा श्रोत्र-पुटों से पीने योग्य वचन कहती थी। इस प्रकार जैसे शिव के प्रति नर्मकर्म में उद्यत होती थी वैसे ही महिष के प्रति रणकर्म में उद्युक्त होने वाली पार्वती आपकी रक्षा करे।[1]

इस पद्य में श्लिष्ट पदों द्वारा रणकर्मोचित और नर्मकर्मोचित परस्पर विरुद्ध-रसात्मक चेष्टाओं के युगपद् वर्णन का चमत्कार है। यह सुश्लेष-सन्नि-वेशपटु बाण का ही सामर्थ्य है। अमरुकशतक के टीकाकार अर्जुनवर्मदेव ने भी इस पद्य को उद्धृत किया है, जिसमें उसने चण्डीशतक के कर्ता के रूप में बाणभट्ट को स्पष्ट स्वीकार किया है।[2]

महिष-वध के अनन्तर उपद्रव शान्त हो जाने पर जब शिव और पार्वती उस घटना की बातें करने लगे तो देवी (पार्वती) ने शम्भु का इस प्रकार परिहास किया—'महिष के कठोर शृङ्गों से मेरु पर्वत का शरीर क्षत-विक्षत हो गया, इस पर मुझे क्रोध नहीं आया; नदियों के स्वामी (समुद्र) रीते हो गए, यह भी अच्छा ही हुआ क्योंकि इससे कोई निःसपत्न हो गया, (नदी होने के कारण गङ्गा समुद्र की भी पत्नी है और शङ्कर भी उसे पत्नी बना कर सिर चढ़ाए हुए हैं, अब रीते हो जाने के कारण समुद्रों के न रहने पर कोई (शिव) निस्सपत्न हो गया, अच्छा हुआ); परन्तु, मुझे यह सहन नहीं हुआ कि हमारे शिवजी महाराज जिसको माथे पर धारण करने योग्य मानते हैं वह गङ्गा महिष के

---

१. दृष्टावासक्तदृष्टिः प्रथममिव तथा सम्मुखीनाऽभिमुख्ये
स्मेरा हासप्रगल्भे प्रियवचसि कृतश्रोत्रपेयाधिकोक्तिः।
उद्युक्ता नर्मकर्मण्यवतु पशुपतौ पूर्ववत् पार्वती वः
कुर्वाणा सर्वमीषद् विनिहितचरणालक्तकेव क्षतारिः॥३७॥

२. टीकाकार ने लिखा है—'उपनिबद्धं च भट्टबाणेनैवंविध एव सङ्ग्राम-प्रस्तावे देव्यास्त-त्तद्भङ्गिभिर्भंगवता भर्गेण सह प्रीतिप्रतिपादनाय बहुधा नर्म यथा दृष्टावसक्त-दृष्टिरिति।

अमरुकशतक का यह श्लोक भी यहाँ द्रष्टव्य है—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः॥२॥

द्वारा कलुषित हो गई (इसलिए मैंने उस दैत्य को समाप्त कर दिया।)[1]

इस पद्य में पति के प्रति सपत्नी को लेकर स्त्री-सुलभ व्यङ्ग्योक्ति है। कैसी अच्छी चुटकी ली है ! हे शम्भो ! आप जिसको इतना मान करके सिर चढ़ाए रहते थे वही महिष द्वारा कलुषित हो गई। साथ ही, इस पद्य में 'अभून्नि-स्सपत्नोऽत्र कोऽपि,' इस वाक्य से पति का सीधा नाम न लेने के भारतीय शिष्टाचार का भी पता चलता है।

देवी से पूर्व सभी देवताओं ने अपने-अपने बलबूते पर पौरुष में मदमाते महिष से टक्कर ली। परिणाम यह हुआ कि (ग्यारहों) रुद्रों का वृन्द नौ-दो ग्यारह हो गया, सूर्य के भी पसीने आ गए, वज्रधारी इन्द्र का वज्र चकनाचूर हो गया, (बेचारे) चन्द्रमा की तो हिम्मत ही टूट गई, हवा की भी हवा बन्द हो गई, कुबेर ने वैर त्याग कर मैदान छोड़ दिया और वैकुण्ठ (विष्णु) का अस्त्र भी कुण्ठित (भौंटा) हो गया। जब देवों की विघटित शक्ति का यह हाल हुआ तो उन्हीं की सङ्घीभूत शक्ति सात्विक-भाव-समृद्ध-भवानी ने उस मदोन्मत्त महिष का निर्विघ्न (सहज ही में) हनन कर दिया।[2]

दैत्यसेना पर बाण चलाती हुई देवी के अङ्ग-संचालन का चमत्कारिक वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है— चञ्चल कमलिनी के सुन्दर कोश के समान आरक्त नेत्रों को सावधानी से दिशाओं में प्रेरित करती हुई (घुमाती हुई) चण्डी जब बाण छोड़ती थी तो बाणों की गम्भीर ध्वनि के अनुरूप ही उसके हाथों के वलयों से आवाज़ पैदा होती थी अर्थात् वलयों की खनखनाहट बाणों की सनसनाहट का साथ दे रही थी। इस प्रकार दाएं और बाएं देव-शत्रुओं पर शरवर्षा कर रही चण्डी के स्तनों की हलचल के कारण उसके पीन भाग (ऊपरी पुष्ट भागों) में कंचुक की सन्धियां (जोड़) टूट गईं; वही टूटती

---

१. मेरौ मे रौद्रशृङ्गक्षतवपुषि रुषो नैव नीता नदीनां
भर्तारो रिक्ततां यत्तदपि हितमभून्निःसपत्नोऽत्र कोऽपि।
एतन्नो मृष्यते यन्महिषकलुषिता स्वर्धुनी मूर्ध्नि मान्या।
शम्भोर्भिन्द्याद् हसन्ती पतिमिति शमितारातिरोतीरुमा वः ॥३१॥

२. विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताऽऽशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी ॥६६॥

हुई कंचुक की सन्धियां सर्वोपरि हैं।[१]

इस पद्य में शरवर्षा करती हुई चण्डी के सहज स्वाभाविक वर्णन के साथ-साथ स्त्रियों द्वारा कंचुक और वलय धारण करने के रिवाज की भी सूचना मिलती है।

एक स्थल पर महिष देवी के प्रति व्यङ्गय करता है—'स्त्री को पति का या पुत्र का ही बल होता है। तुम्हारे तो पति और दोनों पुत्रों की ही हालत खस्ता है। शङ्कर का पुत्र कार्तिकेय तो अभी बच्चा है; मिट्टी में खेलने योग्य है, वह युद्ध में भाग लेना क्या जाने ? स्वयं शिवजी के शिर में गर्मी चढ़ी हुई है इसलिए चन्द्रमा को माथे पर धरे हुए हैं, उनका शरीर भी स्वस्थ नहीं है इसीलिए वे शरीर पर राख मलते रहते हैं; अब रह गया हाथी के मुंह वाला गणेश, सो उसका दाँत पहले ही टूट चुका है, फिर वह मोटे शरीर से विह्वल है अथवा एक दाँत कर-स्वरूप देकर दुःखी हो गया है, इसलिए अब युद्ध के प्रति ठण्डा पड़ गया है। तुम्हें धिक्कार है, अब कहाँ जाती हो ?' इस प्रकार अपने मन में खुश हो-हो कर देवी के प्रति लगने-वाले वचन कहने वाले महिषरूपधारी दुष्ट दैत्य का बाएं पैर की ठोकर से वध करती हुई पार्वती आपकी रक्षा करे।[२]

मघवा (इन्द्र) के वज्र को भी लज्जित करने वाले अघवान (पापी) देव-शत्रु महिष को तुरन्त ही मृत्युरूपी लम्बी नींद में सुला देने के बाद, जब (उससे उत्पन्न होने वाला) भय समाप्त हो गया तो अपने निज-स्वभाव का स्मरण करती हुई (स्वस्थता को प्राप्त होती हुई) देवी के तीनों नेत्रों में से क्रोध की लाली तीन रक्त-राशियों के समान बाहर निकल गई (क्रोध शान्त होने पर वह रक्तता बाहर आ गई) इस कारण महिष पर त्रिशूल के वार से बने गुफाओं जैसे घावों में से निकले हुए रक्त से भरे समुद्र और भी लाल हो गए।

---

१. चक्षुर्दिक्षु क्षिपन्त्याश्चलितकमलिनीचारुकोशाभिताम्रं
मन्द्रध्वानानुयातं झटिति वलयितो मुक्तबाणस्य पाणेः।
चण्ड्याः सव्यापसव्यं सुररिपुषु शरान् प्रेरयन्त्या जयन्ति
त्रुट्यन्तः पीनभागे स्तनचलनभरात् सन्धयः कञ्चुकस्य ॥७०॥

२. बालोऽद्यापीशजन्मा समरमुडुपभृत् भस्मलीलाविलासी
नागास्यः शातदन्तः स्वतनुकरमदाद् विह्वलः सोऽपि शान्तः।
धिग्यासि क्वेति दृप्तं मृदिततनुमदं दानवं संस्फुरोक्तं
पायाद्वः शैलपुत्री महिषतनुभृतं निघ्नती वामपार्ष्ण्या ॥८२॥

वही लाल समुद्र आपकी रक्षा करें।[1]

देवी ने पति के (तीनों) नयनों के मुकाबले में अपने तीन प्रकार के रूप (वर्ण) प्रकट किए। पहले तो समस्त संसार को मानो प्रलय के समय आकुल हो, ऐसा देख कर (शिव के धूमाकुल आग्नेय नेत्र के समान) काली-रूप धारण किया; फिर, दिति के पुत्र (दैत्य महिष) को खण्डित कर देने वाली देवी पैर में सींग लग जाने से मत्सर (क्रोध) के कारण (सूर्य के समान) रक्तवर्णा हो गई; तदनन्तर, जब चरणाघात से चकनाचूर होकर मृत महिष गिर गया तो अपने पूर्व (सहज) स्वभाव के अनुसार वह पुनः (चंद्रमा के समान) गौरी हो गई। इस प्रकार जिस गौरी (पार्वती) ने महिष-वध के प्रसंग में अपने पति (शिव) के अग्नि, सूर्य और चंद्र-संज्ञक नेत्रों के समान तीन वर्ण प्रकट किए वह आपकी रक्षा करे।[2]

देवी का चरण स्वभावतः लाल है, कोप के कारण वह और भी लाल हो गया जिससे लाक्षारस (यावक) की शोभा अधिक दिखाई पड़ने लगी; महिष के शृङ्ग के ऊँचे कोण से टकरा कर मणिमय नूपुर झनक उठा, वही मानों उसकी आन्तरिक हुंकार है, ऐसा वह चरण जब महिष पर रखा गया तो दैत्यों ने उसको कोप के कारण लाल-लाल लाख के रस के समान वर्णधारी और हुंकार करते हुए दूसरे यमराज के समान उस (महिष) पर बैठा हुआ देखा; वही देवी का अरुण चरण आपके शत्रुओं का नाश करे।[3]

कार्य-साधन के लिए चार ही उपाय बताए गए हैं—साम, दाम, भेद और

---

१. नीते निर्व्याजदीर्घामघवति मघवद्वज्रलज्जानिदाने
निद्रां द्रागेव देवद्विषि मुषितभियः संस्मरन्त्याः स्वभावम्।
देव्या दृग्न्यस्तिसृम्भस्त्रय इव गलिता राशयः शोणितस्य
त्रायन्तां त्वां त्रिशूलक्षतकुहरभुवो लोहिताम्भः समुद्राः ॥४०॥

२. काली कल्पान्तकालाकुलमिव सकलं लोकमालोक्य पूर्वं
पश्चात् श्लिष्टे विषाणे विदितदितिसुता लोहिनी मत्सरेण।
पादोत्पिष्टे परासौ निपतति महिषे प्राक्स्वभावेन गौरी
गौरी वः पातु पत्युः प्रतिनयनमिवाविष्कृतान्योन्यरूपा ॥४१॥

३. कोपेनैवारुणत्वं दधदधिकतराऽऽलक्ष्यलाक्षारसश्रीः
श्लिष्यच्छृङ्गाग्रकोणक्वणितमणितुलाकोटिहुङ्कारगर्भः।
प्रत्यासन्नात्ममृत्युः प्रतिभयमसुरैरीक्षितो हन्त्वरीन्वः
पादो देव्याः कृतान्तोऽपर इव महिषस्योपरिष्टान्निविष्टः ॥४४॥

दण्ड। जब ये सब विफल हो गए तो महिष-वध में चण्डिका का चरण पंचम उपाय के समान कृतकार्य हुआ। यही बात शब्दच्छल से एक पद्य में कही गई है। ब्रह्मा के द्वारा 'साम-प्रयोग' (सामवेद के आशीर्वाक्यों) से उस शत्रु का समाधान नहीं हुआ, हरि (विष्णु) का सुदर्शन चक्र भी उसका 'भेद' (छेद) नहीं कर सका, इन्द्र को अपने पर सवार किए हुए ऐरावत हाथी की 'दानवृष्टि' (मदझरण) से भी वह केवल कलुषित (क्रुद्ध) ही हुआ और यमराज के 'दण्ड' से भी जो वश में नहीं हुआ, ऐसे उस शत्रु का नाश करने में सफल पंचम उपाय के समान देवी का चरण आपके पापों का नाश करे।[1]

जब महिष के प्राण निकल गए और वह पृथ्वी पर लोट गया तब देवी ने उच्च हास किया; उस समय उनके दाँतों की शुभ्र कान्ति से अनवसर ही महिष का विशाल मृत शरीर कैलाश के समान सफेद दिखाई पड़ने लगा जिससे बहुतों को भ्रम हुआ; उसकी ऊँची शृङ्गाग्रभूमि (सींगों की नोकों) पर देवगणों ने गिरिशृङ्ग समझ कर आश्रय ग्रहण किया; जल्दी से दिशाओं के हाथी उसके कानों की गुफाओं को कुंज समझ कर उनमें घुसने लगे; और तो और, स्वयं शिवजी भी उसको कैलास ही समझ कर उसकी पीठ पर चढ़ गए। यह सब देख कर मुस्कराती हुई देवी आपकी रक्षा करे।[2]

इस प्रकार चण्डीशतक में कुल १०२ पद्य हैं[3] जिनको उक्ति-वैविध्य के आधार पर इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है—

देवी की उक्ति	स्वयं के प्रति	पद्याङ्क	१
,, ,,	जया के प्रति	,,	१९
,, ,,	देवताओं के प्रति	,,	२४, २९, ५९, ६०
,, ,,	शिव के प्रति	,,	३१, ४८, ६१

---

१. साम्ना नाम्नाययोनेर्धृतिमकृत हरेर्नापि चक्रेण भेदात्
सेन्द्रस्यैरावणस्याप्युपरि कलुषितः केवलं दानवृष्टचा।
दान्तो दण्डेन मृत्योर्न च विफलयथोक्ताभ्युपायो हतारि-
र्येनोपायः स पादो नुदतु भवदघं पञ्चमश्चण्डिकायाः ॥४६॥

२. तुङ्गां शृङ्गाग्रभूमिं श्रितवति मरुतां प्रेतकाये निकाये
कुञ्जोत्सुक्याद्विशत्सु श्रुतिकुहरपुटं द्राक्ककुप्कुञ्जरेषु।
स्मित्वा वः संहृतासोर्दशनरुचिकृताऽकाण्डकैलासभासः
पायात् पृष्ठाधिरूढे स्मरमुषि महिषस्योच्चहासेव देवी ॥५०॥

३. कुम्भकर्णकृतवृत्ति वाली रा. प्रा. प्र. की प्रति में केवल १०१ ही श्लोक हैं।

शिव की उक्ति	विजया के प्रति	पद्याङ्क	१२
,, ,,	पार्वती के प्रति	,,	१४, ३०, ८८
जया की उक्ति	पार्वती के प्रति	,,	८९
,, ,,	देवपत्नियों के प्रति	,,	३३
,, ,,	देवताओं के प्रति	,,	१४, ३८, ६९, ८६
,, ,,	शिव के प्रति	,,	३२
विजया की उक्ति	देवताओं के प्रति	,,	१
कुमार की उक्ति	गणेश के प्रति	,,	६७
देवताओं की उक्ति	देवी के प्रति	,,	७०
दैत्य (महिष) की उक्ति	देवों के प्रति	,,	२३, ३४, ५७, ६५, ८०
,,	देवी के प्रति	,,	२७, ७६, ७७, ८१, ८२
,,			८३, ८५, १००
,,	कुमार के प्रति	,,	२८
,,	शिव के प्रति	,,	६२, ९१
,,	प्रमथगण के प्रति	,,	३५
,,	स्वोक्ति	,,	९२

शेष पद्यों में कवि ने पार्वती, उमा, भद्रकाली, कात्यायनी, गौरी, देवी, आर्या, शर्वाणी, रुद्राणी, अद्रिकन्या आदि नामों से विविध मुद्राओं में स्वयं देवी अथवा उसके वाम चरण को, बाण या कुमार द्वारा पाठकों का मङ्गल करने, उनको पवित्र करने तथा उनके दुरितों का नाश करने की कल्याण-कामना की है।

शतक के सभी पद्य स्रग्धरा वृत्त में निर्मित हैं, केवल छः पद्य (२५, ३२, ४९, ५५, ५६ और ७२ वाँ) शार्दूलविक्रीडित में हैं। इस परिवर्तन का कोई स्पष्ट कारण समझ में नहीं आता। ऐसा लगता है कि पहले से इसके लिए कोई आयोजना सङ्कल्पित नहीं थी; समय-समय पर जब जैसा पद्य बना वही शतक में संकलित कर लिया गया। यह भी सम्भव है कि पहले कवि ने सप्ततिका[1] ही रच कर विराम कर दिया हो और बाद में जब कुछ और पद्य रचे गए तो उन्हें मिला कर मयूर की स्पर्धा में शतक-संज्ञा दी गई हो। वैसे, सिद्धि

१. A Catalogue of South Indian Sanskrit Manuscripts (especially those of the Whish collection) in the Royal Asiatic Society, London, Compiled by M. Winternitz, 1902.

के विषय में प्रसिद्धि है कि वह बाण को मयूर की अपेक्षा स्वल्प प्रयास से ही सुलभ हो जाती थी।

किंवदन्ती है कि जब मयूर ने सूर्यशतक का छठा श्लोक पढ़ा तब भुवन-भास्कर ने प्रकट होकर उसे अपनी एक किरण से ढँक लिया और रोग-मुक्त कर दिया, परन्तु बाण ने जब उससे स्पर्धा करके अपने अंगों को विक्षत कर लिया और फिर चण्डिका का स्तवन आरम्भ किया तो प्रथम श्लोक का छठा वर्ण कहते-कहते ही देवी ने प्रकट होकर उसके अवयवों को प्रकृतिस्थ कर दिया। प्रथम पद्य में 'प्रकृतिमवयवान् प्रापयन्त्या' पद में इस ओर संकेत भी किया गया माना जाता है।[1]

यों तो कहा गया है कि कोई अक्षर ऐसा नहीं है जो मन्त्र न हो, फिर भी कुछ बीजाक्षर ऐसे हैं जिनका प्रयोग सद्यःप्रभावकारी होता है। संस्कृत के अनेक स्तोत्रकारों ने अपनी रचनाओं में ऐसे बीजाक्षरों का गूढरीत्या गुम्फन किया है। प्रस्तुत स्तोत्र में भी प्रथम पद्य में आं ह्रीं क्रों प्राण-बीजमन्त्र गर्भित है, जिसके उद्धार का विवरण वृत्ति में (पृ. १०) द्रष्टव्य है।

चण्डीशतक के वृत्तिकार मेदपाटेश्वर महाराणा कुम्भकर्ण ने यद्यपि लिखा है—

'सत्यं चण्डीशते काव्ये टीकाः सन्ति परःशताः'

परन्तु, वस्तुस्थिति किसी और ही रूप में सामने आई है। ऑफ्रेट ने इस शतक पर केवल दो ही टीकाओं का उल्लेख किया है, एक धनेश्वर की और दूसरी अज्ञात-कृता। कृष्णमाचारी ने भी सोमेश्वर-सुत धनेश्वर, नागोजी भट्ट, भास्कररायकृत टीकाओं के साथ दो अन्य अज्ञात-कर्तृक टीकाओं का ही हवाला दिया है;[2] परन्तु, वास्तव में ये दोनों टीकाएं बाणकृत 'चण्डीशतक' की नहीं हैं। काव्यमाला के चतुर्थ गुच्छक में प्रकाशित चण्डीशतक के सम्पादक एवं टिप्पणकारद्वय ने भी इतना ही लिखा है 'अस्य शतकस्य सोमेश्वर-सूनुधनेश्वरप्रणीतैका, कर्तृनामरहिता चापरा, एवं टीकाद्वयमुपलब्धमस्माभिः, किन्तु टीकाद्वयमप्यतीव तुच्छं वृथा समासादिभिः पल्लवितमस्ति। अस्मल्लब्धं तत्पुस्तकद्वयं चातीवाशुद्धं मध्ये मध्ये त्रुटितं चेति सम्पूर्णटीकामुद्रणमुपेक्ष्य

१. इण्डियन एण्टीक्वेरी, भा. १ (१८७२) में जी. बुह्लर का लेख; पृ. १११
२. Peterson's Report on the operations in search of Sanskrit manuscripts in the Bombay Circle (I to IV)

टीकाद्वयोद्धृतं स्वल्पं टिप्पणमेवात्र गृहीतम् ।' कादम्बरी के प्रसिद्ध संस्करण के उपोद्घात में भी पीटरसन महोदय ने इन यावदुक्त टीकाओं का ही जिक्र किया है और न्यूयार्क से प्रकाशित (कोलम्बिया विश्वविद्यालय को इण्डो-ईरानियन ग्रंथमाला) संस्करण में भी जी. पी. क्वेकनबोस महाशय ने भी अपना अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत करते हुए किसी और टीका की सूचना नहीं दी है। डॉ. फिट्ज़ एडवर्ड हॉल ने वासवदत्ता के उपोद्घात में भी एक टिप्पणी का उल्लेख किया है। जी. बुह्लर को बम्बई सरकार के लिए जो पाण्डुलिपि प्राप्त हुई उसमें ८४वें श्लोक तक की संक्षिप्त पार्श्व-टिप्पणी मात्र है, जो किसी जैन लेखक की लिखी हुई है।[1]

महाराणा कुम्भकर्ण-कृत अन्य ग्रंथों के साथ प्रस्तुत वृत्ति का प्रथम विज्ञापन चित्तौड़ के कीर्तिस्तम्भ के शिलालेख में हुआ है, जिसकी तिथि मंगसिर बदि ५, संवत् १५१७ वि० है। सम्बद्ध श्लोक इस प्रकार है—

आलोड्याखिलभारतीविलसितं सङ्गीतराजं व्यधात्
औद्धत्यावधिरञ्जसा समतनोत् सूडप्रबन्धाधिपम् ।
नानालङ्कृतिसंस्कृता व्यरचयच्चण्डीशतव्याकृतिं,
वागीशो जगतीतलं कलयति श्रीकुम्भदम्भात् किल ॥१५७॥

येनाकारि मुरारिसंगतिरसप्रस्यन्दिनी नन्दिनी,
वृत्तिव्याकृतिचातुरीभिरतुला श्रीगीतगोविन्दके ।
श्रीकर्णाटक-मेदपाट-सुमहाराष्ट्रादिके योदय-
द्वाणीगुम्फमयं चतुष्टयमयं सन्नाटकानां व्यधात् ॥१५८॥[2]

इसके पश्चात् कीलहार्न ने भी मध्यप्रान्त की पाण्डुलिपियों की सूची[3] में इस वृत्ति का उल्लेख किया है; परन्तु, कहीं पर सुस्पष्ट प्रति प्राप्त होकर इसके प्रकाशन की सूचना अभी तक उपलब्ध नहीं है, न अन्य प्रतियों का ही विवरण देखने में आया है। महाराणा कुम्भा का समय विक्रम संवत् १४९० से १५५२ तक का है और संवत् १५१७ की प्रशस्ति में इस वृत्ति का उल्लेख है इसलिए निस्सन्देह इसकी रचना उक्त संवत् से पूर्व हो चुकी थी। किन्तु, संगीतराजान्तर्गत

---

१. इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द १, पृ. १११–११३

२. ये श्लोक एकलिङ्गमाहात्म्य में भी हैं। सरस्वती भण्डार, उदयपुर; प्रति सं. १४७७; पत्र ३६ a।

३. Catalogue of Mss. existing in the Central Provinces by F. Keilhorn, Nagpur, 1884 A. D.

रसरत्नकोश की पुष्पिका में सङ्गीतराज की समाप्ति का संवत् १५०९ वि० और शक १३७४ दिया है—

श्रीमद्विक्रमकालतः परिगते नन्दाभ्रभूतक्षितौ
वर्षेऽक्षाद्रयनलेन्दुशाकसमये संवत्सरे च ध्रुवे।
ऊर्जे मासि तिथौ हरे रविदिने हस्तर्क्षयोगे तथा
योगे चाभिजिति स्फुटोऽयमभवत् सङ्गीतराजाभिधः ॥१५॥

इसी के आगे १७ वें श्लोक में लिखा है—

चण्डीशश(त)व्याकरणेन गीतगोविन्दवृत्त्या सुकृतं यदत्र।
सङ्गीतराजेन च तेन चण्डी हरिर्हरः प्रीतिमवाप्नुवन्तु ॥१७॥[1]

इससे ज्ञात होता है कि चण्डीशतक की वृत्ति की रचना वि. सं. १५०९ से भी पूर्व हो चुकी थी। यद्यपि कीर्तिस्तम्भ के प्रशस्ति-लेखन का संवत् १५१५ है किन्तु स्तम्भ का निर्माण संवत् १५०५ में ही समाप्त हो चुका था[2] और उसी समय प्रशस्ति-रचना का आरम्भ हो गया होगा। प्रशस्तिकार अत्रि का बीच में ही देहान्त हो गया और उसके पुत्र महेश कवि ने उत्तरार्द्ध की रचना करके इसको पूर्ण किया। फिर भी, प्रशस्ति में उल्लेख्य विषयों का पूर्वरूप पहले ही स्थिर कर लिया होगा और यह सम्भव है कि चण्डीशतक की वृत्ति सं० १५०५ से भी पहले रची गई हो।

महाराणा कुम्भकर्ण की सामरिक, राजनीतिक और साहित्यिक उपलब्धियों के विषय में समसामयिक इमारतें और शिलालेखादि प्राप्त हैं, यह सौभाग्य की बात है। इन विषयों पर संशोधक विद्वानों ने समय-समय पर पर्याप्त प्रकाश भी डाला है; उन्हीं बातों को दोहराना यहाँ संगत नहीं होगा।[3]

---

१. Central Library, Baroda Ms. No. 1133, p. 66 b

२. पुण्ये पञ्चदशे शते व्यपगते पञ्चाधिके वत्सरे
माघे मासि वलक्षपक्षदशमीदेवेज्यपुष्यागमे।
कीर्तिस्तम्भमकारयन्नरपतिः श्रीचित्रकूटाचले
नानानिर्मितनिर्जरावतरणैर्मेरोर्हसन्तं श्रियम् ॥१८५॥

३. महाराणा के पारिवारिक जीवन की चर्चा का यहां पर स्पर्श नहीं किया गया है, मुख्यतः उसकी सन्तति का। म. म. गौरीशंकरजी ओझा ने भाटों की ख्यातों के आधार पर कुम्भकर्ण के ग्यारह पुत्रों के नाम उदयसिंह, रायमल, नगराज, गोपालसिंह, आसकरण, अमरसिंह, गोविंददास, जैतसिंह, महरावण, क्षेत्रसिंह और अचलदास लिखे हैं। इनके अतिरिक्त उसकी एकमात्र पुत्री रमाबाई का भी उल्लेख है, जिसका विवाह जूनागढ़ के अन्तिम राव मण्डलीक

मार्च १९६३ ई० में 'सादूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टीटयूट, बीकानेर' से 'राजस्थान भारती' का 'महाराणा कुम्भा विशेषांक' प्रकाशित हुआ; उसमें श्री भँवरलाल नाहटा ने अपने लेख 'महाराणा कुम्भा-रचित चण्डीशतक-वृत्ति' में यह सूचना दी कि "अभी तक चण्डीशतकवृत्ति की कोई हस्तलिखित प्रति प्राप्त नहीं हुई थी।......कलकत्ते के 'जैन भवन ग्रंथालय' में उसकी एक प्रति प्राप्त हो गई है। पर साथ ही यह लिखते हुए भी बड़ा दुख होता है कि बंगाल की सरदीली आबहवा हस्तलिखित प्रतियों के लिए बड़ी घातक होती है। इस प्रति को भी उसने इतनी क्षति पहुँचाई कि सारे पन्ने चिपक गए और आदि अन्त के पत्र भी इतने खराब हो गए हैं कि बहुत प्रयत्न करने पर भी प्रारम्भिक श्लोक और अंत की प्रशस्ति की भी पूरी नकल नहीं की जा सकी। उसका जितना अंश या जितने अक्षर पढ़े जा सके उसकी नकल आगे दी जा रही है। सम्भव है, खोज करने पर अन्य किसी हस्तलिखित ग्रन्थ-संग्रहालय में इसकी पूरी और शुद्ध प्रति मिल जाय। इस महत्वपूर्ण वृत्ति का प्रकाशन अवश्य होना चाहिए।" इत्यादि ॥ इसके आगे प्रति के यावद्वाच्य आद्यन्त अंशों को उद्धृत किया गया है। अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है—

"इति श्रीप्रशस्तिः समाप्ता तत्समाप्तौ च समाप्तेयं श्रीकुम्भकर्ण विनिर्मिता चण्डीशतमहाकाव्यवृत्तिः ॥ ग्रंथाग्र २४०० ॥ श्रीरस्तु ॥

संवत् १६७५ वर्षे ज्येष्ठ सुदी ११ तिथी सूर्यवारे। श्री श्री श्री सागरचन्द्र-

---

से हुआ था। इस राव मण्डलीक को पराजित करके गुजरात के सुलतान महमूद बेगड़ा ने मुसलमान बना लिया था। कोई कहते हैं कि पहले ही अनबन हो जाने के कारण रमाबाई पीहर में आ कर रहने लगी थी और कुछ लोगों का मत है कि राव के मुसलमान हो जाने के बाद वह यहां आ गई थी। महाराणा ने 'जावर' उसको खानगी में दे दिया था। वहाँ उसने रमाकुण्ड का निर्माण कराया था जिसका शिलालेख पास ही के रामस्वामी के विष्णुमन्दिर में लगा हुआ है।

इसके अतिरिक्त 'आमेर के राजाओं की वंशावली' में राजा उद्धरण (१४९६–१५२४ वि० स०) की चार में से एक पत्नी का नाम 'देदाँबाई, राणा कुम्भा की बेटी' लिखा मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि महाराणा कुम्भा और आमेर के राजाओं में उस समय ऐसा सम्बन्ध था। यद्यपि कुम्भलगढ़ की प्रशस्ति में 'आम्रदाद्रिदलन' विरुद का उल्लेख है, परन्तु साथ ही इससे यह भी मालूम होता है कि उस समय ऐसा रिवाज था कि प्रबल राजपूत शासक अपने आसपास के इलाकों पर चढ़ाइयाँ करते थे और थोड़ी बहुत लड़ाई होने के बाद उनमें आपस में लड़की दे कर या ले कर मेल हो जाता था। इसी के अनुसार यह सम्बन्ध हुआ होगा।

सूरिसन्तानीयवाचनाचार्य श्री श्री श्री समयकलसगणिगजेन्द्राणाम् ।। तत्शिष्य-मुख्यवाचनाचार्यधूर्यवर्य श्री श्री श्री सुखनिधानगणिवराणाम् शिष्य पंडितसकल-कीर्तिगणिलिपिकृतं पुस्तकम् ।।"

प्रति के कलेवर का परिचय इस प्रकार है—

"जैनभवन प्रति नं० १५२९ पत्र ४९ (दीमकभक्षित, नष्टप्राय) प्रतिपत्र-पंक्ति १७, अक्षर ५१, अन्तिम पत्र में पंक्ति ११, दूसरी तरफ रिक्त।"

इस सूचना के अनन्तर वर्णित वृत्ति की सम्पूर्ण प्रति के लिए जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक था। राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के जोधपुर-संग्रह में यहां के तत्कालीन सम्मान्य संचालक मुनि श्रीजिनविजयजी ने भी यहां की सूचियों आदि का अच्छी तरह अवलोकन किया। इस संग्रह में इस वृत्ति की दो प्रतियां उपलब्ध हुईं। एक तो संख्या १०२३९ पर, जो यहां पहले आ गई थी। यह प्रति २०वीं शती की है और प्रायः उसी प्रति से नकल की गई लगती है जिसका श्री नाहटाजी ने जिक्र किया है। विलुप्त अक्षरों के स्थान रिक्त छूटे हुए हैं और इसके आधार पर पाठ का अनुसन्धान करने में अनुमान का ही आश्रय अधिक लेना पड़े, ऐसी स्थिति है। इस प्रति की माप सेण्टीमीटरों में २७.७×१३.५ है; प्रत्येक पृष्ठ पर १२ पंक्तियां; प्रति पंक्ति में ४२ अक्षर हैं; पत्र-संख्या केवल १० है। कागज़ नया है।

दूसरी प्रति सं. १७३७६ पर मिली जो प्राचीन, पूर्ण, शुद्ध और स्पष्ट है। इसका विवरण इस प्रकार है :—माप २५.९×१०.५ से. मी.; पत्र सं. ४५; प्रतिपृष्ठ पंक्ति १७; प्रतिपंक्ति अक्षर ५१; लिपिसंवत् १६५५ वि०; लिपि-कर्ता—श्रीवल्लभ उपाध्याय।[1] लिपिस्थान—नागपुर (नागौर) स्पष्ट है कि यह नाहटाजी को प्राप्त प्रति से २० वर्ष पुरानी है।

---

१ श्रीवल्लभ उपाध्याय स्वयं बड़े विद्वान् थे। उन्होंने सिद्ध-हेमलिङ्गानुशासन पर 'दुर्गपद-प्रबोध' नाम्नी टीका तथा अभिधानचिन्तामणिनाममाला पर सारोद्धार-टीका लिखी है। प्रथम टीका की रचना वि० सं० १६६१ में महाराजा सूरसिंह के राज्यकाल में जोधपुर में हुई थी। इन दोनों ही टीकाओं की १७वीं शताब्दी में लिखित प्रतियां राजस्थान प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान के जोधपुर संग्रह में सं० ४३०५ एवं ५९०८ पर प्राप्त हैं। इन्हीं उपाध्याय ने 'ओकेशोपकेशपदद्वयदशार्थी' भी लिखी है जिसकी पुष्पिका 'पट्टावलिसमुच्चय में इस प्रकार उद्धृत है—

"इति श्री-केशोपकेशपदद्वयदशार्थी समाप्ता ॥ संवत् १६५५ वर्षे ॥ श्रीमद्विक्रमनगरे सकलवादिवृंदकंदकुद्दालश्रीकक्कुदाचार्यसंतानीयश्रीमच्छ्रीसिद्धसूरीणां आग्रहतः श्रीमद्बृहत्खर-

इस प्रति की उपलब्धि श्रीमुनिजी महाराज के लिए सन्तोष और प्रकाशन-प्रेरणा का कारण हुई। विभागीय रूप से ही इसका सम्पादन करना-कराना तय हुआ और तदनुसार विभागीय सर्वेयरों एवं प्रतिलिपिकर्ताओं से इसकी नकल कराई गई, जिसमें बहुत समय लग गया क्योंकि कभी किसी का स्थानान्तरण हो जाता तो कभी कोई अवकाश पर चला जाता। इस प्रकार समय भी बहुत लगा और प्रेस-कापी में एकरूपता भी नहीं रही। यद्यपि मूल प्रति के लिपिकर्ता स्वयं बड़े विद्वान् और अनेक ग्रन्थों के लेखक थे और प्रति भी प्रायः शुद्ध और स्पष्ट है फिर भी प्रतिलिपिकर्ताओं की असमान योग्यता और रुचि की मात्रा में न्यूनाधिकता के कारण प्रेसकॉपी ऐसी तैयार नहीं हो सकी कि जिससे सन्तोष करके उसको तुरन्त ही प्रेस में दे दिया जाता। तब श्रीमुनिजी ने मुझे इस प्रेसकॉपी का मूल से मीलान करने का काम दिया। कार्यालयीय अन्य दैनन्दिन कार्यों से जैसे-जैसे अवकाश मिलता, मैं इस कार्य को भी करता रहा। बीच में, जयपुर-स्थित प्रतिष्ठान के शाखा-कार्यालय में जाना हुआ तो वहां 'महाराजा पब्लिक लायब्रेरी' से आये हुए संग्रह में भी चण्डीशतक पर अज्ञातकर्तृक संक्षिप्त व्याख्या की एक प्रति मिल गई, जो मुझे सरल और सुबोध लगी। इस प्रति का विवरण इस प्रकार है :

ग्रंथ संख्या ६; माप ३५.८×१२.८ से. मी.; पत्र सं. ४६; प्रतिपृष्ठ पंक्ति १०; प्रतिपंक्ति अक्षर ४८; लिपि संवत् १६४२। कहीं-कहीं पर पार्श्व में पाठान्तर भी दिए गए हैं। लेख की शुद्धता सामान्य है।

जब यह प्रति श्री सम्मान्य संचालकजी को दिखाई गई तो उन्होंने इसकी भी प्रतिलिपि करके सम्पादन में सम्मिलित कर लेने का आदेश दिया। तदनुसार मैंने यथावकाश इसकी प्रतिलिपि तैयार कर ली।

चण्डीशतक का प्रकाशन काव्यमाला के चतुर्थ गुच्छक में हो चुका है, जिसमें म. म. दुर्गाप्रसाद और काशीनाथ परब महोदय ने, धनेश्वर एवं अज्ञातकर्तृक टीकाओं के आधार पर स्वल्प टिप्पण एवं अनेक उपयोगी पाठान्तर भी दिए हैं। नया संस्करण तैयार करने में इस पुस्तक का सहारा भी आवश्यक था इसलिए उक्त दोनों हस्तलिखित प्रतियों एवं काव्यमाला की मुद्रित पुस्तक को आधार बना कर कार्य आरम्भ किया गया।

तरगच्छीयवाचनाचार्यश्रीज्ञानविमलगणिशिष्यपण्डितश्रीवल्लभगणिविरचिता चेयम्।।श्रीरस्तु।।१

यह द्रष्टव्य है कि इन्हीं उपाध्याय ने प्रस्तुत चण्डीशतकवृत्ति की प्रतिलिपि भी इसी (१६५५) वर्ष में की थी।

पुस्तक में कुम्भकर्णकृत वृत्ति को 'कुं. वृ.,' जयपुर वाली संक्षिप्त व्याख्या को 'सं. व्या.' तथा पादटिप्पणी में उसी को 'ज०' और काव्यमाला वाली पुस्तक को का. संकेतों से व्यक्त किया गया है।

मुद्रण चालू हुआ और पाठ-मीलान, पाठान्तर, टिप्पण एवं प्रूफ-संशोधन आदि मेरे दैनिक कार्यालयीय कार्य का अंग बन गए। अप्रेल, १९६७ तक १०४ पृष्ठों का ही मुद्रण हो सका था; मई, जून में मैं अवकाश पर रहा और १ जुलाई से राजस्थान-राजकीय नवीन नियमानुसार पचपन वर्ष से अधिक आयु होने के कारण मैं सरकारी सेवा से निवृत्त हो गया। संयोग की बात है कि उसी तिथि से श्रीमुनिजी भी सम्मान्य संचालक पद से निवृत्त हो गये। नव-नियुक्त निदेशक डॉ० फतहसिंहजी ने अगस्त मास में मुझे इस कार्य को पूरा करने के लिए निदेश भेजा। तदनुसार आगे का कार्य मैंने इन ४ मास में पूरा किया है।

पुस्तक का मुद्रण समाप्त हो जाने और इस 'प्रास्ताविक परिचय' का आलेख तैयार हो जाने पर मुझे मेरे भानजे श्रीसच्चिदानन्द जोशी, सांभर-निवासी ने चण्डिकाशतकावचूर्णि की एक प्रति दिखाई। इस प्रति का प्रथम पत्र अप्राप्त है। पृ० २(a) पर १९वें श्लोक की अन्तिम पंक्ति के इस अंश से आरम्भ है—'......त्या विमतिविहतये तर्किता स्ताज्जया वः ॥१९॥' पत्र ६ के (a) भाग पर कृति समाप्त हो जाती है। लिपिकाल, लिपिस्थान तथा लिपि-कर्ता का नाम नहीं दिया है, परन्तु लिपि और कागज को देख कर लगता है कि यह १६वीं शताब्दी की पञ्चपाठ शैली में लिखी हुई शुद्ध प्रति है। बीच में मूल श्लोक और चारों ओर हाशियों पर सूक्ष्माक्षरों में अवचूर्णि लिखी है। लेखन में पड़ी मात्राओं का ही प्रयोग अधिक है। लगता है, किसी जैन लिपिकार की लिखी प्रति है। अवचूर्णि का विवरण तो यहां देना आवश्यक नहीं है, परन्तु इतना कहना पर्याप्त होगा कि संक्षिप्त और शुद्ध सरलार्थ संकेत इसमें दिए गए हैं। मूल श्लोकों का पाठ मीलान करने पर यत्र-तत्र ही पाठान्तर मिले, जो अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। मुख्य उल्लेखनीय बात यह है कि इस प्रति में १०४ श्लोक हैं जब कि प्रतिष्ठान की कुम्भकर्णकृतवृत्ति वाली में १०१ और अन्य समस्त चर्चित प्रतियों में १०२ श्लोक ही मिलते हैं। ये दो विशेष श्लोक १०२ और १०३ संख्या पर दिये हुए हैं। १०४था श्लोक वही है जो अन्य प्रतियों में १०२रा है और कुं. वृ. में दिया ही नहीं गया है। इस प्रति में अन्तिम चार श्लोकों की अवचूर्णि नहीं है। १००वें श्लोक की अवचूर्णि के बाद यह लिख कर समाप्त की गई है:—'ऽग्रेतनकाव्यत्रयी वृत्तावपि नास्तीति न

लिखे। इति बाणभट्टविरचितचण्डिकाशतकावचूर्णि. टीकोपकृता ।।छ।।श्री।। सुखं. भवतु।।श्री।।"

इससे ज्ञात होता है कि यह अवचूर्णि किसी १०१ श्लोकों की वृत्ति के आधार पर रची गई है। अतिरिक्त श्लोक इस प्रकार हैं :—

नो चक्रे तीक्ष्णधारे निपतति न कृतः सन्नतो येन मूर्द्धा,
दर्प्पाद्वक्रेऽपि विष्णोर्नवशरनिकरे पाशभर्तुर्न पाशे।
यस्यास्तस्यापि दूरं कमलमृदुपदान्यक्कृता(ो)दैत्यभर्तुः
शर्वाणी पातु सा वः सुररिपुमथने वन्द्यमाना सुरौघैः ॥१०२॥
गन्धर्व्वैर्गीतिगर्भं सचकितमसुरैर्ऋग्भिराद्यैर्मुनीन्द्रै-
र्लोकैः सत्कारपूर्वं विविधगुणगणैश्चाटुकारैर्वचोभिः।
सानन्दं स्तूयमाना शिरसि हिमवता चुम्बिता मेनया व—
स्स्थाण्वङ्कं भूय इच्छुः सुखयतु भ[व]तः सा भवानी हतारिः ॥१०३॥

अन्य कतिपय श्लोकों के पाठान्तर इस प्रकार है—

श्लो० २०	पंक्ति २	शूलेनेशो यशो भासयति
,,	,, ३	प्राक्तनात्पाटलिम्ना
,, २१	,, १	···माऽसून् विहासी
,, २१	,, २	ष्वर्थेश स्थाणुकण्ठे जहि गदमगदस्योपयोगोऽयमेव।
,, २३	,, ३	···भानुमित्यात्मदर्प्पं
,, २४	,, ३	दैत्या व्यापाद्यतां द्रागज इव महिषो हन्यते सन्महेऽद्ये।
,, २६	,, २	षलान्तेवोत्पत्य पत्युस्तलभुजयुगलस्यालमालम्बनाय।
,, २९	,, १	गाहस्व व्योममार्गं हतमहिषभयैर्ब्रध्न···
,, ३८	,, ४	···जयति हतरिपुर्ह्रपिता कर्णिकायाः।
,, ३९	,, ४	पातालं पंकपानोन्मुख इव···

\+ \+ \+

महाराणा कुम्भकर्ण का बहुमुखी व्यक्तित्व ऐसा है कि जिस पर मध्यकालीन भारत और विशेषतः राजस्थान गर्व कर सकता है। कला और शास्त्राध्ययन के विकास में उनका योग चिरस्मरणीय रहेगा। यह विचारणीय है कि भारत के इतिहासज्ञों और इतिहासकारों ने इन महाराणा के पराक्रम, राजनीतिक सूझ-बूझ और स्वराज्य-रक्षा एवं राज्य-विस्तार के श्लाघ्य प्रयत्नों की ओर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया। कला, साहित्य और संस्कृति के पोषण-सम्बन्धी सत्प्रयत्नों पर ध्यान न देना तो उत्तरकालवर्त्ती तथाकथित इतिहासकारों का रिवाज ही बन गया था। कुछ मुसलमान इतिहासलेखकों का तो वतीरा ही यह रहा कि विधर्मी के पर्वताकार पराक्रम को भी राई बराबर बताना और स्वधर्मी की

तनिक-सी तनतनाहट के भी ढेरों ढिंढोरे पीटना। ब्रिटिश-काल के इतिहास-लेखकों ने भी प्राय: मुस्लिम लेखकों का ही आश्रय ग्रहण किया है और फारसी से इतर स्रोतों को टटोलने का बहुत कम अथवा सर्वथा नगण्य प्रयास किया है। यही कारण है कि महाराणा कुम्भा के जैसा पृथुपराक्रमी, स्वधर्म-संरक्षक, कला-विलासी, साहित्य-सौहित्यवान् व्यक्तित्व भी उनकी गजनिमीलिका के कारण उपेक्षित-सा ही रहा; अन्य ओनों-कोनों में जो प्रतिभाएं चमकीं उनके बारे में तो कहा ही क्या जा सकता है ? अस्तु—

अब कुछ समय से विद्वानों का ध्यान इस ओर गया है और स्वदेश के ऐसे-ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों का समुचित मूल्यांकन करने, अज्ञात कृतियों को प्रकाश में लाने और मुस्लिम एवं मुगलकालीन इतिहास-पुस्तकों के दायरे से निकल कर अन्य स्रोतों का संशोधन करने में भी विपश्चिद्वृन्द संलग्न होने लगे हैं।

महाराणा कुंभकर्णकृत गीतगोविन्द की टीका रसिकप्रिया तो बहुत पहले ही निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित हो गई थी। सन् १९१७ ई० में तो इसका पञ्चम संस्करण निकल चुका था, परन्तु इसमें भी सम्पादक महोदय ने टीकाकार कुम्भकर्ण के विषय में केवल इतना ही लिख कर विराम कर लिया है— 'एतट्टीकाकर्ता श्रीकुम्भनृपतिस्तु सम्प्रति लोके 'मेवाड़' इति नाम्ना प्रसिद्धे मेदपाटदेशे राज्यं चकारेति टीकावतरणिकात एव ज्ञायते। अस्य राज्यसमयस्तु ख्रिस्तसंवत्सरस्य चतुर्दशशतकस्य प्रथमपाद आसीदितीतिहासतोऽवगम्यते।' बस।

इसके बाद १९४६ ई० में बीकानेर के महाराजा द्वारा संस्थापित गङ्गा-प्राच्यग्रंथमाला (Ganga Oriental Series) में डॉ० कुन्हन राजा द्वारा सम्पादित संगीतराज का प्रथम रत्नकोश 'पाठ्यरत्नकोश' प्रकट हुआ। इस प्रकाशन के प्राक्कथन में स्मरणीय विद्वान् सम्पादक ने महाराणा के कृतित्व और व्यक्तित्व पर अपेक्षित प्रकाश डाला है और इससे अन्य शोध-विद्वानों का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट हुआ है। समय-समय पर महाराणा की रचनाओं आदि के विषय में लेखों से पत्र-पत्रिकाओं के स्तम्भ अलंकृत होने लगे हैं। इससे पूर्व १९३२ ई० में स्व० हरबिलासजी शारदा ने महाराणा के विषय में बहुत उपयोगी पुस्तक लिख कर प्रकाशित कराई जिसमें उनके राजत्व, योद्धृत्व और वैदुष्य आदि सभी पहलुओं पर विशद विवेचन किया गया है। सन् १९६३ ई० में राजस्थान के सुविख्यात साहित्यान्वेषक श्री अगरचन्दजी नाहटा ने शार्दूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टीटयूट, बीकानेर के तत्वावधान में 'कुम्भा-आसन' की स्थापना कराई और 'राजस्थान भारती' का 'महाराणा कुम्भा विशेषाङ्क' प्रकट करके उसमें महाराणा-

विषयक अद्यावधि अनेक ज्ञात-अज्ञात विषयों का समावेश कर शोध-विद्वज्जगत् को उपकृत किया है। उसी वर्ष में 'हिन्दू विश्वविद्यालय नेपालराज्य संस्कृत ग्रंथमाला' के अन्तर्गत डॉ० कुमारी प्रेमलता शर्मा ने 'संगीतराज' के प्रथम दो रत्नकोशों अर्थात् 'पाठ्यरत्नकोश' और 'गीतरत्नकोश' का बहुत ही परिश्रम और योग्यतापूर्वक सम्पादन किया है। निःसन्देह, यह बहुत ही मूल्यवान् प्रकाशन है, इसमें विदुषी सम्पादिका ने ग्रन्थगत और रचयिता-सम्बन्धित सभी विशेषताओं का विशद विवेचन किया है जो अत्यन्त उपयोगी और ज्ञानवर्धक है। राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान से तृतीय रत्नकोश अर्थात् 'नृत्यरत्नकोश' का पाठ प्रथम भाग के रूप में शोध-जगत् में जाने-माने विद्वद्वरिष्ठ श्री रसिकलाल परिख के सम्पादन में प्रकाशित हो चुका है। दूसरे भाग में श्री परिखजी ने गम्भीर अध्ययनगर्भित भूमिका लिखी है। यह संस्करण आसन्न-प्रकाशन है।

डॉ० कुन्हन राजा और डॉ. कु० प्रेमलता दोनों ही ने अपने-अपने सम्पादन में संगीतराज के कर्तृत्व के विषय में 'कुम्भकर्ण' और 'कालसेन'-विषयक उलझन पर विचार किया है और यथाशक्य उसका समाधान भी करने का प्रयास किया है। यह उलझन इसलिए उत्पन्न हो गई थी कि संगीतराज के प्रथम कोश 'पाठ्यरत्नकोश' की कोई ऐसी प्रति उपलब्ध नहीं हो रही थी जो सम्पूर्ण हो और जिसमें महाराणा की मूल वंशावली मिल जावे। इसकी जो भी प्रतियाँ मिलीं वे या तो खण्डित हैं या उनमें सर्वत्र कालसेन के पक्ष में परिवर्तित पाठ हैं। सौभाग्य से बड़ौदा ओरियंटल इन्स्टीटयूट के संग्रह में इस कोश की सम्पूर्ण एवं महाराणा की वंशावली-युक्त प्रति प्राप्त हो गई है। यह प्रति श्रीमत्कवीन्द्रा-चार्य के संग्रह की है। इसी प्रति के आधार पर 'पाठ्यरत्नकोश' का एक और संस्करण राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान से प्रकाशित किया जा रहा है जिसके मूल पाठ का मुद्रण हो चुका है और बहुत शीघ्र ही आवश्यक सूचनाओं सहित विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया जा सकेगा। इस संस्करण का पाठ-सम्पा-दन इन पंक्तियों के लेखक ने ही किया है।

यह तो निर्विवाद रूप से सबने स्वीकारा है कि संगीतराज का कर्ता महा-राणा कुम्भकर्ण के अतिरिक्त कोई नहीं है; परन्तु कालसेन फिर कौन था ? इस समस्या पर विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से विचार किया है। डॉ. राजा और डॉ. शर्मा ने भी प्रकाश डाला है और प्रो. रसिकलालजी ने भी अपनी तथ्यपूर्ण गवेषणा को नृत्यरत्नकोश की भूमिका में सन्दर्भित किया है। इधर, मेरे कार्य-काल के सहयोगी और निकटस्थ मित्र श्री व्रजमोहन जावलिया, एम. ए. ने भी इस विषय में एक गवेषणापूर्ण लेख लिखा है जो बीकानेर से 'विश्वम्भरा' में

प्रकाशित हो रहा है। श्री जावलिया परिश्रमी और उदीयमान शोध-विद्वान् हैं। इस लेख में यद्यपि तथ्यों की अपेक्षा अनुमान का आश्रय अधिक लिया गया है तथापि निबन्ध पठनीय और सूचनागर्भित है। मेरे एक और जयपुरनिवासी मित्र श्री रामस्वरूप सोमाणी ने बड़े परिश्रम, लगन और अध्ययन के साथ महाराणा कुम्भकर्ण पर शोधपूर्ण पुस्तक लिखी है जो निकलने ही वाली है।

महाराणा कुम्भकर्ण की प्रकाशित कृतियों एवं उनके विषय में अध्ययनात्मक विवरणों की यज्ज्ञात जानकारी के आधार पर ऊपर सूचना अंकित की गई है। अब, उनकी अप्रकाशित एवं लब्धानुपलब्ध उन रचनाओं का भी थोड़ा-सा विवरण यहां दे देना उपयुक्त होगा जिनकी प्रायः चर्चाएं होती रहती हैं। गीतगोविन्द की रसिकप्रिया टीका, प्रस्तुत चण्डीशतकवृत्ति तथा संगीतराज के पाठ्य, गीत एवं नृत्यरत्नकोशों के अतिरिक्त वाद्य और रसरत्नकोश अभी अप्रकाशित हैं। गीतगोविन्द की टीका का जो संस्करण निर्णयसागर प्रेस, बंबई से निकला है उसका और राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के उदयपुरस्थ शाखा कार्यालय में सुरक्षित एक गुटके (सं. १७४२-४८) में प्राप्त उक्त टीका का मीलान करने पर निम्न श्लोक और मिले हैं:—

नवम सर्ग के आरम्भ में—

"नट्टरागेण, तृतीयतालेन ॥

पदरचना जयदेवोदिता कमलावल्लभगानोचिता: ।
कुम्भनृपेण परं योजिता धातुवरेण भणत रसरता: ॥१॥"

दशम सर्ग के आरम्भ में—

'मध्यमादिरागेण गीयते वर्णा-यतितले ॥

यदि कौतुकिनां गाने संगीते चातुरी यदा रसिका: ।
कुम्भनृपतिकृतधातुं शृणुत तदा गीतगोविन्दम् ॥१॥"

एकादश सर्ग के आरम्भ में—

"नट्टरागेण, आदितालेन ॥

ललिताऽपि हि पदरचना न धातुयोगादृते विभाति शुभा ।
इति कुम्भकर्णनृपतिर्गायति तां गीतगोविन्दे ॥१॥"

शोधपत्रिका (उदयपुर), वर्ष १७; अंक १-२ के पृ० ३१ पर श्री अगरचन्दजी नाहटा ने महाराणा कुम्भा के दो अप्रसिद्ध ग्रन्थों की प्रशस्तियां प्रकाशित की हैं। इस लेख में उन्होंने सूचना दी है कि अहमदाबाद में मुनिराज पुण्यविजयजी के गुटकों में उन्हें 'गीतगोविन्द' एवं 'सूडप्रबन्ध' की एक प्राचीन

प्रति मिल गई, जिसमें गीतगोविन्द तो पृ० ३२ पर समाप्त हो जाता है और आगे ६ पत्रों में सूडप्रबन्ध प्राप्त है। इस प्रति के हाशिये पर गीतगोविन्द के पदों के भी आलाप-टिप्पण आदि लिखे हुए हैं।

छठे सर्ग के आरम्भ में यह श्लोक दिया है—

श्रीकुंभकर्णनृपतितिलको गीतगोविन्दे।
गीतं विशेषं तनुते तनुतेजा रसमिते सर्गे॥ १॥

इसी प्रकार सातवें से बारहवें सर्गों के आरम्भ में भी उन्होंने मुद्रित प्रति से अधिक श्लोक होना लिखा है, परन्तु ७वें, ८वें और १२वें सर्गों के आरम्भ में तो मुद्रित प्रति में वही श्लोक हैं जो उन्होंने उद्धृत किए हैं, शेष ९ १०, ११ सर्गों वाले पद्य उदयपुर शाखा कार्यालय के गुटके में प्राप्त हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त श्री नाहटाजी की निम्न सूचना भी महत्वपूर्ण है कि सूडप्रबन्ध में प्राचीन संगीताचार्यों के नाम देते हुए महाराणा ने सारङ्ग व्यास के विषय में लिखा है 'श्री सारंगव्यासात् सम्यगधीत्य।' इस से ज्ञात होता है कि सारंग व्यास उनके संगीतगुरु थे और संगीतराज, संगीत-मीमांसा गीतगोविन्दटीका और गीतगोविन्द को ही आधार बना कर सूड-प्रबन्धादि ग्रन्थों की रचना में उनका योग अवश्य रहा होगा। गीतगोविन्द और सूडप्रबन्ध का रचनासमय निम्नपुष्पिका के अनुसार वैशाख शु० १३ संवत् १५०५ है—

"श्रीविक्रमार्कसमयातीतपञ्चोत्तरपञ्चदशशते संवच्छरे पुण्यसमयऋतौ माधवे मासि सिते पक्षे त्रयोदश्यां तिथौ'

श्रीगोविन्दस्तवो मातु जयदेवस्य धीमत (:)
श्रीकुम्भकर्णोदितो धातु अमृतं किमतष्परम्॥

इति श्रीगीतगोविन्दप्रबन्धराजश्रीसूडक्रमनामा श्रीप्रबन्धस्सम्पूर्णः। इति श्रीगीतगोविन्दशास्त्रं परिपूर्णम्॥६॥ लिखित श्रीहर्षरत्नमिश्रै (:) स्वकौतु-कार्थम्॥श्री॥"

इससे यह निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं कि (१) महाराणा के विद्यामण्डल में संगीतगुरु सारङ्ग व्यास का प्रमुख स्थान था, (२) सूडप्रबन्ध गीतगोविन्द पर ही एक अतिरिक्त प्रबन्ध के रूप में रचा गया है, और इनकी रचना संवत् १५०५ में हुई है। सूडप्रबन्ध गीतगोविन्द की टीका के ही अनुक्रम में लिखा गया था, इसके प्रमाण में यह श्लोक भी द्रष्टव्य है:—

श्रीवासुदेवचरणाम्बुजभक्तिलग्नचेता महीपतिरसौ स्वरपाटतेनात् (पाटवेन)।
धातूननिन्द्य जयदेवकवीन्द्र-गीतगोविन्दव्या(मा)रचयत् किल नव्यरूपान् ॥७५॥
(एकलिङ्गमाहात्म्य, पत्र ३६ a)

ऐसा लगता है कि महाराणा को गीतगोविन्दकाव्य बहुत प्रिय था इसीलिए उन्होंने संस्कृत में टीका लिखने और सूडप्रबन्ध रचने के अतिरिक्त मेवाड़ी भाषा में भी इसका अनुवाद किया है जिसकी एकाधिक प्रतियां रा. प्रा. प्र. के संग्रहों में प्राप्त हैं।

डॉ. कुन्हन राजा ने अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर में महाराणा कुम्भकर्णविरचित कामशास्त्र पर किसी रचना की द्विपत्रात्मक खण्डित प्रति होना लिखा है। संभव है, यह वही 'कामराज-रतिसार (शतक)' नाम की रचना हो, जो रा० प्रा० प्र० (उदयपुर) के गुटके (१७४२-४८) में लिखित है और जिसके ३३ श्लोक मात्र उपलब्ध हैं।

ऊपर श्रीनाहटाजी के जिस लेख का उल्लेख किया है उसी में उन्होंने गुटके के पत्राङ्क ९३-१०० पर महाराणा कुम्भा के कामशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थ 'कामराजरतिसारशतं' का लिखा होना प्रकट किया है। इसका विवरण देते हुए उन्होंने लिखा है कि महाराणा कुम्भा ने संगीतराज की तरह नाटकराज-नामक ग्रन्थ भी लिखा था, जो अभी अप्राप्त है। कामराज-रतिसार की रचना कलशमेरु पर संवत् १५१९ में विजया दशमी को हुई और इस प्रति के हाशिये पर 'श्री हीराणंदसूरिदत्तोपदेशेन' लिखा है, अतः उनका इस रचना से अवश्य सम्बन्ध रहा है। आगे जो प्रशस्ति-श्लोक दिए गए हैं वे प्रायः वही हैं जो कन्ह व्यास कृत एकलिङ्गमाहात्म्य के आरम्भ में दिए गए हैं। अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार उद्धृत की गई है।

"श्रीहीराणंदसूरिगुरुकविजनतामान्य एतत्करोति
शास्त्रं श्रीकामराजरतिरससहितं पर्वबाणेन्दुवर्षे ॥१॥
कविराज एष विरुदं दत्ते येषां हि सदसि कुम्भनृपः।
विजयन्ते गुरवः श्रीहीराणंदसूरीन्द्राः ॥२॥
एहि रे याहि रां(रे)चक्रे केन कुम्भस्य संश(स)दि।
हीरानन्दकवेर्नित्यं प्रतिष्ठा खलु दृश्यते ॥३॥

इति श्रीकामराजरतिसारशतं परिपूर्णम् ॥छ॥ श्रीरस्तु॥ शुभ भवत॥"

ऐसा लगता है कि चित्रकूट-प्रशस्ति में जिन चार नाटकों का मेवाड़ी, कर्णाटी आदि भाषाओं में महाराणा द्वारा रचा जाना लिखा है उन्हीं के साथ

उन्होंने कोई नाटक-प्रबन्ध भी लिखा होगा। वह सभी साहित्य अभी अनुपलब्ध है। कामप्रबन्ध भी पहले बड़ा लिखा गया होगा, उसी में से थोड़े-थोड़े श्लोक विविध गुटकों में उतार लिए गए होंगे।

इनके अतिरिक्त डॉ० प्रेमलता शर्मा ने संगीतरत्नाकर की टीका संगीत-क्रमदीपिका, एकलिङ्गाश्रय, (नवीन)गीतगोविन्द, कुम्भस्वामिमन्दार (?) का भी उल्लेख किया है, जिनका विवरण उनकी संगीतराज पर लिखी भूमिका में द्रष्टव्य है।

वास्तुशास्त्रसम्बन्धी महाराणाविरचित प्रबन्ध का सूचन स्व. म. म. गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने उदयपुर राज्य के इतिहास में किया है। यह ग्रन्थ जय और अपराजित-मतानुसार कीर्तिस्तम्भों की रचना के विषय में है जो शिलाओं में खुदवा कर कीर्तिस्तम्भ के नीचे लगवाया गया था। इसकी प्रथम शिला का प्रारम्भिक अंश उदयपुर के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसकी निम्न-पंक्तियों से परिचय स्पष्ट हो जाता है—

(१) स्वस्ति श्रीमत्सकलकविताकंदलीकदंबबन्धुः कोसुल्लासः स्फुरतु सु—

(२) कवेश्चारुसंगीतदेव्याः। सांद्रानन्दं दिशतु वि···कमूर्तिलं—

(३) क्ष्मीवक्षःस्थकमलिनीकोशदेशद्विरेफः ॥१॥ श्रीविश्वकर्माख्यमहार्यवीर्य—

(४) माचार्यमुत्प···विद्यामुपास्य। स्तम्भस्य लक्ष्मातनुते नृपालः श्रीकुंभकर्णो ज—

(५) यभाषितेन ॥२॥ जयापराजितमुखैर्भणतिस्स त्रिधा यथा। इन्द्रस्य ब्रह्मण—

स्वर्गीय ओझाजी ने लिखा है कि 'एकलिङ्गमाहात्म्य' के रागवर्णन अध्याय में संकलित देवता-स्तुतियाँ महाराणा कुम्भकर्णप्रणीत है और ये विविध रागों और तालों में गाई जाती हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण एकलिङ्ग माहात्म्य (ग्रंथ सं. १४७७ उदयपुर शा.का.) ही कन्हव्यास द्वारा संकलित है और इसके बहुत-से पद्य चित्र-कूट एवं कुम्भलगढ़ की प्रशस्तियों में से ज्यों के त्यों लिए गए हैं। पुस्तक के अन्तिम भाग में पञ्चायतनदेवस्तुतिपञ्चाशिका है, जिसमें से चण्डिकास्तुति प्रस्तुत संस्करण के पृ. १५९-१६० पर उद्धृत है। इसको देखने पर पता चल जायगा कि इनका प्रणेता 'अर्थदास' कन्हव्यास है जो सम्भवतः अर्थकृते महाराणा व उनके इष्टदेवताओं की स्तुतियाँ और प्रशस्तियाँ लिखा करता था। यथा—

श्रीकुम्भदत्तसर्वार्थी [गीत]गोविन्दसत्पथा ।
पञ्चाशिकाऽर्थदासेन कन्हव्यासेन कीर्तिता ।।

दुर्गाम्बिकाद्रौ जयमालदुर्गे,
कौम्भे पुरे धातुनिधौ समुद्रे ।
स्ताच्चंड(द्र)चूडस्तुतिचन्द्रकान्ता(:)
कुम्भश्रिये कन्हकृता(:) सुवृत्ता (:) ।।१६२।।

एकलिङ्गमाहात्म्य में राजवर्णन प्रकरण की समाप्ति के उपरान्त पञ्चायतनस्तुति लिखी है जिसके प्रथम दो श्लोक इस प्रकार हैं—

ध्यात्वा श्रीगणनायकं भगवतीं देवीं तथा भारतीं,
स्मृत्वा[वै] भरतादिकान् मुनिवरान् सङ्गीतविद्यागुरून् ।
कृत्वा भारतशास्त्रसारचतुरं सङ्गीतराजं नवं
श्रीमान् कुम्भनरेश्वर: प्रकुरुते वाद्यप्रबन्धान् सुधी: ।।१।।

छन्दोभिः सुमनोहरः (रैः) श्रवणयोः पीयूषधारोत्करै—
र्वर्णैः प्रासविभूषितैर्यतिलयस्वस्थानसंवेशितैः,
ताले कुत्रचिदीप्सिते कविरि[ह] प्रायः प्रबन्धान् सुधी-
धुर्यः कोऽपि सुकाव्यकारनृपतिर्बध्नाति बन्धोद्धुरान् ।।२।।

प्रथम पद्य से सूचना मिलती है कि भरतमतानुसार नवीन सङ्गीतराज की रचना करके कुम्भनरेश्वर वाद्यप्रबन्धों की रचना करता है । दूसरे पद्य में कहा गया है कि यति, लय, ताल, अनुप्रास और अपने-अपने स्थान पर संवेशित वर्णों से युक्त प्रबन्धों को सुकाव्यरचनाकार कवि नृपति बांधता है । 'नवं सङ्गीतराजं' पद से ऐसा अर्थ निकाला जा सकता है कि पहले से कोई सङ्गीतराज मौजूद है और अब कुम्भकर्ण ने यह 'नया सगीतराज' बनाया है, परन्तु यहाँ 'सङ्गीतराज' से प्रणेता का अर्थ संगीतशास्त्रीय पूर्वग्रन्थों से है । पाठ्यरत्नकोश के आरम्भ में भी (पद्य ४० में) 'सङ्गीतराजोऽन्वहम्' पद प्रयुक्त हुआ है, परन्तु इससे पूर्व प्रायः सभी संगीताचार्यों एवं संगीत-प्रबन्धों को गिनाया गया है और यही कहा गया है कि यह नवीन सङ्गीतराज अर्थात् सङ्गीतशास्त्रविषयक नवीन ग्रंथ सभी पूर्व-ग्रंथों का आधार लेकर रचा गया है । दूसरी बात वाद्यप्रबन्धों की है । इससे ऐसा ज्ञात होता है कि सङ्गीतराज की रचना के बाद कोई 'वाद्यप्रबन्ध' नामक पृथक् रचना रची गई है, जो उपलब्ध नहीं हो रही है । परन्तु ऐसा लगता है कि इन पद्यों में 'प्रबन्ध' शब्द, यति, लय, प्रास आदि के अनुसार बन्दिश किए हुए 'गेय पद्य' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है क्योंकि इन दोनों पद्यों के आगे गणेश, सूर्य, नारायण (विष्णु), शिव और चण्डिका की स्तुति में विविध छन्दों को यति

और ताल के अनुसार निबद्ध किया गया है और पद्य में ही उस छन्द का नाम भी सूचित कर दिया है, यथा—

आदिताले—

जय जय कुम्भनृपाद्य (धि)निवारण
जय जय कुंकुमकलितनवारण
जय जय वदनविराजितवारण
छन्दोऽडिल्लाजितहरिवारण ।।

इसी प्रकार आगे के पद्यों की भी आदिताल, यतिताल, मंठताल, द्रुतमंठताल, प्रतिमंठताल, अद्भुतताल, एकतालीताल आदि में मदलेखा, शशिवदना, स्रग्धरा, मौक्तिकदाम, वसन्ततिलका, शालिनी, भुजङ्गप्रयात, पञ्चचामर आदि छन्दों में बन्दिश की गई है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि ये सब तालें शायद मिट्टी के घड़े पर दी जाती थीं जैसा कि राजवर्णन के निम्न पद्य से सूचित होता है—

मृत्कलशवाद्य[रत्न] श्रीनारायणपरायणः
तनुते श्रीमतेनैव सौख्यपीयूषवृद्धये ।।२०७।।

सम्भव है, यह पद्य और इससे पूर्व के तीन पद्य उक्त दोनों शार्दूलविक्रीडित पद्यों से विरहित होकर पूर्व प्रकरण में लिखे गए हों, अथवा ये वाद्यरत्नकोश के आरम्भिक पद्य हों। वाद्यरत्नकोश की प्रति सम्मुख नहीं है, अतः कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता कि वाद्यप्रबन्ध-नामक कोई संगीतराज से भिन्न रचना है, जिसमें से कन्ह व्यास ने अन्य रचनाओं के पद्यों की तरह इन पद्यों को भी उद्धृत किया है, या ये पद्य पञ्चायतन-स्तुति की प्रस्तावना में ही लिखे गये हैं या वाद्यरत्नकोश के प्रास्ताविक पद्य हैं।

ऊपर महाराणा कुम्भकर्णकृत जिन प्रकट और सन्दर्भित ग्रंथों के विषय में लिखा गया है उनके अतिरिक्त प्रस्तुत चण्डीशतकवृत्ति में दो और कृतियों का संकेत मिलता है। यों तो यह वृत्ति एक पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है और इसमें अवसरानुकूल अनेक पूर्वाचार्यों के शास्त्रीय सन्दर्भ अङ्कित किए गए हैं परन्तु स्पष्ट नामोल्लेख केवल दो ही ग्रन्थों का किया गया है, जैसे, पृ० ३७ की अंतिम पंक्ति में—

"तथा च मदीये दर्शनसंग्रहे—

'दृष्टार्थानुपपत्त्या च कस्याप्यर्थस्य कल्पना।
क्रियते यद्बलेनासावर्थापत्तिरुदाहृता ।।' इति"

पृ० ४० पर—

तथा च हरिवार्तिकम्

"असाधुरनुमानेन वाचकः कैश्चिदिष्यते ।
वाचकत्वाविशेषेऽपि नियमः पापपुण्ययोः ॥"

उक्त दोनों ग्रंथों के विषय में बहुत कुछ तलाश और पूछताछ करने पर भी कोई सूत्र हाथ नहीं लगा। हरिवार्तिक के बारे में यद्यपि स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह महाराणा कुम्भकर्ण की ही कृति है अथवा किसी अन्य की, परन्तु दर्शनसंग्रह को तो उनके 'मदीय' का प्रमाणपत्र प्राप्त है, इसमें शङ्का को कोई अवसर ही नहीं मिलता। यदि ये दोनों ग्रन्थ भी महाराणा की कृतियाँ हैं तो उनके रचित साहित्य की शृङ्खला में ये दो कड़ियाँ और जुड़ जाती हैं। आशा है, प्राचीनसाहित्यानुसन्धानपरायण विद्वान् इनकी प्रतियों का सुराग लगाने की भी चेष्टा करेंगे।

महाराणा कुम्भकर्ण की सामरिक, राजनीतिक, निर्माण-सम्बन्धी प्रवृत्तियों एवं उपलब्धियों पर विद्वानों ने यथावसर विवेचन किए हैं। यहाँ चण्डीशतकवृत्ति के प्रसंग में साहित्य-रचना को लेकर उनकी अक्षरसम्बद्धा चिरस्थायिनी निरपायिनी कीर्ति का एतावन्मात्र यावच्छक्य विवरण ही अलं होगा। अब, कुछ विचारवान् मित्रों की यह शङ्का समाधेय है कि इतने राजनीतिक मसलों के हल में व्यस्त, राज्य के चतुर्दिक्सीमासंस्थानों पर सामरिक समायोजना में संलग्न और विविध स्थानों पर देवालय, राजप्रासाद, परिखा, प्रतोली एवं गगनचुम्बी उन्नतशिरस्कन्ध कीर्तिस्तम्भों के निर्माण में निरत महाराणा को इन विविधविद्याविलसित ग्रन्थों की रचना के लिए समय कहाँ से मिला होगा? उनका मत है कि निस्सन्देह, महाराणा के 'अर्थदास' और खुशामदी पण्डितों ने इन ग्रथों को रच-रच कर उसके नाम से प्रसिद्ध किये हैं। किसी अंश में यह बात सच हो सकती है परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि महाराणा सर्वथा विद्याविमुख थे और इन विशिष्ट अमर रचनाओं के प्रणयन के मूल में उनकी अभिरुचि और प्रेरणा बिलकुल न रही हो अथवा इनकी रचना में उनका स्वयं का योग न रहा हो या इनको सुनने-समझने की उनमें क्षमता ही न हो। रत्नगर्भा भारतभूमि ने समय-समय पर ऐसे नरपतिरत्नों को प्रकट किया है जो शस्त्र और शास्त्रविद्याओं में समानरूप से सत्ताधारी हुए हैं। रणरसिक और साथ ही विद्याओं तथा कलाओं के प्रेमी महाराणा के लिए यह असम्भव नहीं कहा जा सकता कि अन्यान्य प्रवृत्तियों में व्यस्त जीवन बिताते हुए भी वे अपनी सहज और उन्नत अभिरुचि के पूर्त्यर्थ समय न निकाल पाते हों। सारंग व्यास, कन्ह

व्यास, अत्रि और महेश कवि, हीराणंदसूरि तथा चामुण्ड कायस्थ और सूत्रधार मण्डन तथा नथा जैसे प्रौढ विद्वान् और रचनाकार उनके विद्यामण्डल में सम्मिलित थे। इन लोगों में से जिनकी स्वतन्त्र रचनाएं हैं उन्होंने स्पष्ट रूप से अपना नामोल्लेख किया है; प्रशस्तिकारों ने भी अपने नाम का सूचन यथा-स्थान किया ही है। अब ऐसा हो सकता है कि ग्रंथों का वस्तु-पाठ तो स्वयं महाराणा ने रचा हो या उनके निर्देशन में नियोजित पण्डितों ने लिखा हो और लिपिकारों ने विविध प्रशस्तियों में से चुने हुए श्लोकों से उनको अलंकृत किया हो क्योंकि कतिपय ग्रंथों की प्रस्तावनाओं और पुष्पिकाओं में एकलिंगमाहात्म्य तथा शिलोत्कीर्ण प्रशस्तियों की पद्यावली ज्यों की त्यों मिल जाती है।

कुछ भी हो, महाराणा कुम्भकर्ण भारतीय इतिहास के उन कर्मयोगी नरपति-वरेण्यों में गण्य हैं जो शस्त्र और शास्त्र के प्रयोग में समान दक्षता के धनी रहे हैं। सम्राट् समुद्रगुप्त, श्रीहर्ष, शूद्रक, भर्तृहरि और भोज जैसे नरेन्द्र-साहित्य-कारों की जाज्वल्यमान नक्षत्र-मालिका में उनकी दमक किसी से कम नहीं है। उनके साहित्य का अनुसन्धान, संरक्षण और प्रकाशन, भारतीय समाज, विशेषतः राजस्थानप्रांतीय विपश्चिद्वर्यों का प्रथम पुनीत कर्त्तव्य है।

आभार—

चण्डीशतक की प्रतियों का पाठ-मीलान करते समय जब-जब मैं इसके पद्यों को पढ़ता था तो वृत्ति और व्याख्या में उद्घाटित अर्थ के साथ-साथ एक संदर्भ मेरे स्मृतिपटल पर कभी-कभी प्रकाशित हो जाता था। सन् १९५६-५७ में मेरे आदरणीय मित्र और पड़ौसी स्वर्गीय मोतीलालजी शास्त्री अपने दुर्गापुर (जयपुर)-स्थित मानवाश्रम में वैदिकतत्त्वशोधसंस्थान के तत्त्वावधान में एक ज्ञानसत्र चलाया करते थे। यह सत्र प्रायः मई, जून के मासों में होता था। वस्तुतः भारतीय पुराशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् स्व. डॉ. वासुदेवशरणजी अग्रवाल ग्रीष्मावकाश में वाराणसी (हिन्दू विश्वविद्यालय) से उन दिनों शास्त्रीजी के यहाँ आकर ठहरते थे और उनके उस प्रवासकाल का नाम ही ज्ञान-सत्र रखा गया था। शहर के अन्यान्य विद्वान् तो प्रायः एकाध दिन ही आकर रह जाते थे परन्तु, कुछ तो पास ही में रहने के कारण और कुछ शास्त्रीजी के स्नेहपूर्ण आग्रह के कारण, मैं नियमित रूप से उस समय जा ही बैठता था जब वे और शरण जी (हम लोग उनको इसी नाम से सम्बोधित करते थे) तीसरे पहर शास्त्र या ज्ञानचर्चा किया करते थे। मैं शास्त्रीजी के प्रति पूर्ण आदरभाव बरतता था परन्तु वे अपने सहज सौजन्यवश मुझ से वयस्यवत् ही व्यवहार करते थे। उन्होंने

मुझे एक दिन बड़े ही आत्मीय भाव से उनके व्याख्यान की टिप्पणियां लेकर सुरक्षित रखने एवं अवकाश में कभी उनको पढ़ने और समझने का आग्रह किया। अतः जो कुछ मेरे पल्ले पड़ता उसको मैं टीपता रहता था। बीच-बीच में कभी शास्त्रीजी विनोद में कह देते "लिखल्यो, बोराजी म्हाराज, कदे म्हाँकी बातां याद आवैली !" और वास्तव में मुझे अब उनकी बातें याद आती हैं, परन्तु समाधान किसके पास जाकर करूँ ? शरणजी भी नहीं रहे ! मेरे जैसे को कौन अब समझाने बैठेगा ? अस्तु—

ऊपर के अनुच्छेदों में देवी, महिष और महिषासुरवध की जो विवेचना की गई है वह उन्हीं टिप्पणियों के आधार पर है। शरणजी की तो पृष्ठभूमि मजबूत थी; उन्होंने तो कई रूपों में उस चर्चा को पल्लवित किया है; मैं तो इससे अधिक और क्या कर सकता था ? अत: इस अवसर पर उन दोनों दिवङ्गत आत्माओं के प्रति मैं श्रद्धाप्रपूरिताञ्जली अर्पित करता हूँ।।

१९५० ई० में राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान की स्थापना के दिन से किं वा उससे भी कुछ दिन पहले से ही मैं महामनीषी मुनि श्रीजिनविजयजी महाराज के संपर्क में रहा हूं और उन्हीं के सम्मान्य सञ्चालकत्व में मैंने इस प्रतिष्ठान की सेवा में अपने कार्यकाल के अधिकतम (१७) वर्ष व्यतीत किए हैं। यह श्रीमुनिजी की ही सत्कृपा का फल है कि मेरा जैसा सामान्य योग्यता-वाला जन भी इस चिरस्थायिनी अक्षर-सम्बद्धा प्रवृत्ति में प्रवेश पाकर प्रासाद-शिखरस्थ गरुड़ों की पंक्ति के आसपास स्थान पा गया। श्रीमुनिजी ने ही मेरा हौसला बढाकर मेदपाटेश्वर महाराणा कुम्भकर्णकृत चण्डीशतकवृत्ति जैसे पाण्डित्य-पूर्ण ग्रन्थ के कार्य में मुझे संलग्न किया और समय-समय पर आवश्यक सुझाव देकर एवं यथाशक्य पाठसंशोधनादि कार्य में आनेवाली ग्रन्थियों को सुलझा कर उपकृत किया है। मुनिजी का व्यक्तित्व महान् है; मैं जब जब भी विभागीय प्रशासनिक अथवा शैक्षणिक समस्याएं लेकर उनके सामने उपस्थित हुआ तो मैंने सदा ही उनके निर्णय, सूझ और तत्परता में महानता के दर्शन किए हैं। मैं उनके प्रति आभार प्रकट करूँ या धन्यवाद अर्पित करूँ तो यह सब औपचारिकता मात्र मानी जायगी। मैं तो केवल इतना ही कह सकता हूँ "मान्यवर ! आपने मुझे यह कार्य सौंपा था, जैसा बन पड़ा वैसा पूरा किया; आगे आप जानें।"

प्रतिष्ठान के वर्तमान निदेशक डॉ. फतहसिंहजी ने मुझे इस कार्य को पूरा करने की स्वीकृति देते हुए जो सौहार्दपूर्ण व्यवहार किया उसके लिए मैं उनके प्रति हृदय से समादर प्रकट करता हूँ।

अज्ञात-साहित्य समुद्र में गोता लगाने में निपुण नाहटा बन्धुओं ने इस कृति का पता लगा कर विद्वत्समुदाय को उपकृत किया है। इस प्रकाशन के लिए उनकी प्रेरणा ही गतिदायिनी हुई है इसलिए उनको धन्यवाद देना कर्तव्य मानता हूँ।

प्रतिष्ठान में कार्यकाल के समय मेरे सुहृद् और सहयोगी श्रीलक्ष्मीनारायण जी गोस्वामी पाठ-मीलान और प्रूफसंशोधन आदि में वाञ्छित सहायता करते रहे हैं और निवृत्त्युपरान्त मेरी कनिष्ठा पुत्री श्रीमती लीलाकुमारी पारीक ने उस साहाय्य कार्य का निर्वाह किया है। मैं इन दोनों ही सहयोगियों को स्नेहाभिषिक्त साधुवादों से सत्कृत करता हूँ।

श्रीव्रजमोहनजी जावलिया, उदयपुर शा. का. के इन-चार्ज ने भी मुझे समय-समय पर आवश्यक सूचनाएं दी हैं तदर्थ वे धन्यवादार्ह हैं।

क्लिष्ट पाठ और अनेक प्रतिलिपिकर्ताओं द्वारा तैयार की गई होने के कारण अस्पष्ट-सी प्रेसकॉपी से अक्षर-योजना करके मेरी इच्छानुसार अपेक्षा से भी अधिक बार प्रूफ देने में कभी हिचक न करने वाले श्री हरिप्रसादजी पारीक (साधना प्रेस के स्वामी) भी मेरे द्वारा हजार बार धन्यवाद के अधिकारी हैं।

इस प्रकाशन से संस्कृत-साहित्य की एक अद्यावधि अप्रकाशित एवं बहु-प्रतीक्षित कृति सामने आ रही है, इतना सन्तोष तो विद्वानों को होना ही चाहिये—अन्यथा शतक का चण्डी को स्तुतिपरक प्रत्येक श्लोक १००० बार मुद्रित हुआ है अतः प्रतिष्ठान की ओर से लक्षचण्डी (याग) तो हो ही गया है।

अन्त में, मेरी योग्यता की स्वल्पता, प्रमाद अथवा अन्यान्य कारणों से इस संस्करण में जो भी भूलें रह गई हों उनके लिए—

प्रणम्य मान्यान् विनिवेदयामि
ग्रन्थं मुदा पश्यत सावधानाः।
दृष्टे यदस्मिन् परमः प्रमोदो
भवेत्तथा सिद्धिरपि प्रकृष्टा॥

पुनश्च

विदितसकलवेद्यैर्न प्रशंसन्ति लोके
ग्रथितमपि महद्भिः किं पुनर्मादृशेन।
इति विफलश्रमेऽस्मिन् वाग्व्ययेऽह प्रवृत्तः
स्वमतिविमलतायै क्षन्तुमर्हन्ति सन्तः। इति॥

जोधपुर
अक्षय नवमी,
सं० २०२४

विनयपरायण
गोपालनारायण

।। श्रीः ।।

मेदपाटेश्वर-राजराजेन्द्र-महाराणा-

श्रीकुम्भकर्णकृत–वृत्तिसमेतं

महाकवि-बाणभट्ट-विरचितं

चण्डीशतकम्

ॐ नमश्चण्डिकायै

माद्यद्देवि (व) विरोधिविद्रुतसुरत्राणोत्सुकेशादिक-
प्रादुर्भावसमर्थितस्वकपृथग्भावप्रमाणं स्वतः ।
यावत्सन्महिषासुरच्छलतमस्तोमस्य विध्वंसिनी
निःप्रत्यूहमुपास्महे भगवतीं तां देवतादेवताम् ।।१।।

असुरानसुरानेव कुर्वती महिषक्षये ।
सुरानप्यसुरांश्चित्रं याऽकरोत्तां नुमः शिवाम् ।।२।।

ध्यात्वा हरं शान्तमुपेतबिन्दुकलावतंसं परतत्त्वरूपम् ।
लुप्तान्तरं वह्निपुरस्थमाद्यमहः प्रसिद्धं भुवनेश्वरीति ।।३।।

तत्पादसेवाप्तपरप्रकर्षः श्रीकुम्भकर्णो वसुधामहेन्द्रः ।
बाणप्रणीते स्तवने तदीये टीकां तनोत्याप्तजनस्य तुष्ट्यै ।।४।। युग्मम्

नवीनमेतन्न नवीनवृत्तैः स्तुवन्नयं यत्स्तवनं करोति ।
अयं न वा पर्यनुयोग इष्टस्तदेव तद्यद्विशिनष्टि वाच्यम् ।।५।।

नाऽभूवन् कति नाम भूमिवलये भूपाः क्षरद्वारण(ा)-
श्च्योतद्दानजलप्रभूततटिनीविप्लावितक्ष्मातलाः ।
वर्तन्ते पुनरार्कचन्द्रमिह ते येषां कवित्वाकृति-
क्ष्मापृष्ठं धवलीकरोति कृतिनां शश्वद्यशो निर्मलम् ।।६।।

मत्वेतीव महामहीन्(न)महिमप्रालेयभानुः पदे-
ऽधीती वाक्यपटुः प्रमाणनिपुणो धर्मः स्वयं मूर्तिमान् ।

श्रीकुम्भः पृथिवीपतिर्वितनुते चण्डीशतव्याकृति-
व्याजादक्षरमक्षरात्मकमदः शुभ्रं जगत्यां यशः ॥७॥ युग्मम्

सत्यं चण्डीशते काव्ये टीकाः सन्ति परःशताः ।
न तास्तथा यतष्टीकालक्षणं तास्वयं भवि(?) ॥८॥

व्याकर्तुमुद्यतश्चण्डीशतं तद्भक्तिमान् बुधाः !
स्खलन्नपि न वाच्ये यद्भक्तिः क्षामयितुं क्षमा ॥९॥

न सहन्ते यथा किं किं भक्तानां भक्तवत्सलाः ।
धार्यते हरिणाद्यापि भक्तपादो यतो हृदि ॥१०॥

तस्माद् व्याकृतिरेषा मे ज्ञेया केवलभक्तितः ।
बाण एव यतः सम्यग् बाणोक्तीर्वेद नापरः ॥११॥

प्रायेण सुगमं नात्र नीयते विवृतिं पराम् ।
दुर्गमं सुगमीकर्त्तुमयमस्मत्परिश्रमः ॥१२॥

पदं प्रमाणं यैस्तस्य प्राधान्याद् गुणतां गते ।
तस्मात्प्रधानभावेन वाक्यं व्याक्रियते यतः ॥१३॥

इह खलु भुवनेश्वरीप्रसादासादितापसादावरप्रसादः कविकुलचक्रवर्ती 'वणति विचित्रोक्ती' रचनाचातुर्योचितवर्णघटनयाऽर्थसार्थवाहान् शब्दान् करोतीत्यन्वर्थनामा बाणः, मृडानीमहिमोपदेशहिमकरकरसम्पर्काकर्कशभक्तजनमनःकान्तशशिकान्तकाठिन्ये नरत्वापादनेन जगदनुकम्पयन्, कलितसकलशास्त्रार्थतत्त्वः, सततं शक्त्यागमार्थश्रद्धया भवानीभक्तिभरमवलम्ब्य श्रवणमननाद्युपायसम्पदासादितभवानीरूपब्रह्मापरोक्षभावतया समुल्लसदमन्दपरमानन्दसंविदधिगतकृतकृत्यभावोऽपि विषयसुखसम्मुखमनाः, परमकारुणिकतया परेषामपि परमैश्वर्यं भक्तिदार्ढ्ययोगाच्चतुर्वर्गप्राप्तिनिमित्तपरमपरामनुन्यासेनास्य स्तोत्रस्य कमपि सर्वप्रकर्षातिशयं दर्शयन् भगवत्याः स्तोत्ररूपं काव्यमुपनिबबन्ध । तत्र च प्रत्यूहव्यूहव्युदासार्थं शिष्टाचारपरिपालनाय च प्रथममभिमतदेवतानमस्कारस्यावश्यमुपनिबन्धनीयत्वेऽपि यथैवोत्तमदेवतानमस्कारस्तथैवोत्कृष्ट[1b]वस्त्वाशिषो निर्देश इति पुराणकविसम्मतं प्रमाणयन् अघौघविध्वंसपटीयसीमाशिषमेवादितः श्रोतृप्रवृत्तिनिमित्तीकरोति । तदुक्तमभियुक्तैः –

'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम् ।' इति,

तत् इति काव्यम् । एवञ्च सति यथेश्वरादिनमस्कारात् प्रारिप्सितग्रन्थपरिसमाप्तिपरिपन्थिकल्मषनिवृत्तिस्तथेहाऽपि तदाशीर्वादादवगन्तव्येति ।

ननु शास्त्रादौ प्रयोजनाभिधेयसम्बन्धा अवश्यमुपादेयाः, तदनुपादाने श्रोतारो न प्रवर्तन्ते तदप्रवृत्तौ शास्त्रं कृतमपि अनुपादेयं स्यात् । तदुक्तमाद्यैः—

दृष्टार्थे ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ।। इति,

न चेदमशास्त्रमिति शङ्कनीयम् । 'पुरुषार्थशासनाच्छास्त्रम्' इति कृत्वा सकलशास्त्रहेतुभूता भवानीभक्तिविषये प्रवृत्त्युत्पादकत्वादस्य । तदुक्तम्—

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा पुंसां येनोपदिश्यते ।
नित्येन कृतकेनाऽपि तच्छास्त्रमभिधीयते ।। इति,

तस्माद् 'यदुद्दिश्य प्रवर्तन्ते पुरुषास्तत्प्रयोजनमि'ति । पुरुषप्रवृत्तिनिमित्तत्वादवश्यमभिधेयं प्रयोजनादि । तद् द्विविधं, मुख्यं गौणञ्च । तत्राऽनन्यार्थं मुख्यं, यथा—सुखं दुःखाभावश्च । अन्यार्थं गौणं, यथा-सुखसाधनं दुःखपरिहारश्च । तदुक्तम्—

सुखाप्तिर्दुःखहानिश्च मुख्यमेतत्प्रयोजनम् । इति,

केचित्पुनर्धर्मार्थकाममोक्षाः प्रयोजनमित्याहुः, तदयुक्तं, ग्रामगमनादिषु अव्याप्तेः कामपदेन तेषां सङ्ग्रह इति चेत्, न, निरुपमपदस्य कामपदस्य कामिनीविषयानुराग एव प्रवृत्तिदर्शनात् । काम्यत इति व्युत्पत्त्या तत्रापि प्रवृत्तिरिति चेत्, एवं सत्यनेनैव सर्वसङ्ग्रहे धर्माद्युपादानवैयर्थ्यप्रसङ्गः । तस्मात् सुष्ठूक्तं-'सुखाप्तिर्दुःखहानिश्चेति' । अनेन प्रयोजनेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्या व्याप्ताः । यथा चोक्तम्—

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' । इति,

अत्र तु उभयमप्यस्ति । भगवत्या भक्तानां सुखार्थमेव प्रवृत्तेर्दर्शनात्, तदुक्तम्—

'एभिर्हतैर्जगदुपैतु सुखम्' इति,

दुःखहानावपि कोऽपि प्रभावातिशयोऽस्यैव स्तोत्रस्य श्रूयते । किल कलितमयूरस्पर्द्धोऽस्य स्तोत्रस्य 'मा भांक्षीर्विभ्रमं' इत्याद्यपद्याद्याक्षरषट्कोच्चारसमसमयमेव छिन्नपुनःप्ररूढावयवो बाणः आपेक्षिकसकलदुःखविनिर्मुक्तः सन् अग्रेतनं स्तोत्रं चकारेति । एवञ्च मुख्यप्रयोजनसद्भावः सूचितो भवति । अभिधेयो भगवतीमहिमा, अर्थात् आपन्नास्तत्स्वरूपजिज्ञासवो भक्ताधिकारिणः । अभिधायकं स्तोत्रं तयोरभिधेयाभिधायकलक्षणः सम्बन्धः सूचितो भवति । एवं सिद्धप्रयोजनादिसद्भावं स्तोत्रव्याख्यानमर्हतीति, तस्येदमाद्यं पद्यं व्याकर्त्तुं प्रस्तूयते यथा—

मा भांक्षीर्विभ्रमं भ्रूरधर विधुरता केयमास्यास्यरागं
पाणे प्राण्येव नायं कलयसि कलहश्रद्धया किं त्रिशूलम् ।
इत्युद्यत्कोपकेतून् प्रकृतिमवयवान्[1] प्रापयन्त्येव[2] देव्या
न्यस्तो वो(2a)मूर्ध्नि मुष्यान्मरुदसुहृदसून् संहरन्नङ्घ्रिरंहः ॥१॥

अत्र व्याख्याधर्मो यथा—

अतिरिक्तं पदं त्याज्यं हीनं वाक्यं निवेशयेत् ।
विप्रकृष्टं च संदध्यादानुपूर्वीं च कल्पयेत् ॥
लिङ्गं धातुं विभक्तिं च योजयेच्चानुलोमतः ।
अध्याहारानुषङ्गाभ्यां वाक्यं सम्पूर्णतां नयेत् ॥

अत्र च नामाख्यातोपसर्गनिपातसमुदायलक्षणस्य वाक्यस्यार्थो वाक्यार्थ इत्युच्यते, तत्र नाम्नां सामान्यतोऽर्थवचनं 'सत्वप्रधानानि नामानि ।' 'सतो भावः सत्वं', अस्तिता, तत्प्रधानं, गुणभूता क्रिया, विभक्त्यर्थः कारकं च 'भावप्रधानमाख्यातं भावो नाम क्रियाफलम्' । यथा- ओदनं पचति देवदत्त इति, अत्र देवदत्तकर्तृका क्रिया ओदनाख्यस्य भावस्य गुणभूता । अत्र भावनापुरुषप्रयत्नमात्रप्रधानं, तदुक्तम्—

'प्रयत्नः स्यात्सधर्मः स्यादुत्साहो भावना च सा' इति,

अथ भावो धात्वर्थः सप्रधानं कारकाणां गुणभूतत्वात् ।
उक्तञ्च—

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत् ।
सत्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणे ॥ इति,

अत्र च आख्यातस्य साध्यत्वात् इतरेषां च सिद्धत्वात् । सिद्धार्थसाध्यार्थयोर्यदेकस्मिन् वाक्ये समुच्चारणं तत् भूतभव्यसमुच्चारणे 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति न्यायात् साध्यार्थं भवितुमर्हति न सिद्धार्थमिति ।

ननु पदार्थवाक्यार्थयोः को विशेषः ? उच्यते, पदार्थः साकांक्षो भवति, वाक्यार्थस्तु निराकांक्ष इति । कथं गौरित्युक्ते किमित्याकांक्षायां गच्छतीत्युक्ते सा याति तथा गच्छतीति गामपेक्षते । अथेदानीं गौर्गच्छतीत्युक्ते गौर्वाहदोहादिभ्यो व्यावृत्य गमनेऽवतिष्ठते, गमनं चान्यगन्तृभ्यो व्यावृत्तं गव्ये वाऽवतिष्ठते । एवं पदं पदार्थमात्रज्ञाने परिक्षीणशक्तिवाक्यं च प्रकरणाऽविरोधिनं स्वार्थमभिदधत् पदार्थनियमे हेतुः ।

---

१. ज० 'प्रसभमवयवान्' । २. ज०, का० 'स्थापयन्त्येव' ।

ननु किमिदं वाक्यं ? 'एकस्मृत्युपारूढः एकार्थप्रतिपादकः पदसमूहो वाक्यं,' विभक्त्यन्ता वर्णाः, पदं पदानामेकस्मृतिसमारोहणैकार्थाभिधायकसमूहो वाक्यम् ।

ननु चाऽर्थप्रतिपादकः पदसमूह इत्युक्तम्, वर्णानां तु उच्चरितप्रध्वंसिनां समुदायाऽसम्भवेन पदसमुदायाऽभावात् ।

एकस्मृतिसमारूढत्वमेव समुदाय इति चेत्, न दीननदीत्यादीनामपि विपरीतक्रमाणां तथार्थप्रतिपादकत्वप्रसङ्गात् ।

न च पदानामपि प्रत्येकं वाक्यार्थप्रतिपादकत्वं, इतरपदवैयर्थ्यप्रसंगात्, किञ्चैकं पदमेकं वाक्यमिति प्रतीतिरपि न विभिन्नवर्णालम्बना भवितुमर्हति, अनेकस्य यथार्थैकप्रत्ययालम्बनत्वायोगात् । तस्मात् वर्णैरभिव्यक्ता स्फोटादेवार्थप्रतिपत्तिरिति । तदयुक्तं, वर्णातिरिक्तस्य स्फोटस्य प्रत्यक्षेणाऽप्रतीतिः । किञ्च स्फोटस्य सत्तामात्रेणाऽर्थप्रतिपादकत्वे वर्णोच्चारमन्तरेणाऽप्यर्थप्रतिपादकत्व(2b)- प्रसङ्गः । वर्णैरभिव्यक्तस्यार्थप्रतिपादकत्वे तु त्व(त)दुक्तदोषस्यानतिवृत्तिः स्यात् । यथा च रीत्या वर्णानां स्फोटाऽभिव्यञ्जकत्वं तयैवार्थाभिधायकत्वमेवास्तु, किमन्तर्गडुना स्फोटेन ?

अथ प्रयत्नभेदाननुपातिनो वायवीयाः ध्वनयः प्रत्येकमेव तत्तद्वर्णात्मकतया स्फोटकमस्फुटमभिव्यञ्जयन्तः पूर्वपूर्ववर्णविषयानुभवजनितसंस्कारसाचिव्यलोभादन्तःस्फुटं स्फोटमाभासयन्ते । ततश्चार्थप्रत्यय इति, तदप्ययुक्तम् । वर्णविज्ञानस्य श्रोत्रत्वात् । किञ्चाऽऽरोप्याधिकरणयोः क्वचिद् भेदेन प्रतीतौ भ्रान्तिरुपपद्यते, न च वर्णस्फोटयोः, क्वचिदपि भेदेन प्रतिपत्तिरस्ति । एकपदमेकं वाक्यमित्यादिव्यवहारस्य सेनाननानाद्येकत्वव्यवहारवत्(?) समूहविषयत्वेनाप्युपपत्तेः । यदप्येकस्मृतिसमारोहेण दीननदीत्यादावविशेषेणार्थप्रतिपादकत्वमापादितं, तदपि पूर्वानुभवक्रमानुसारिस्मृतिविषयतया अर्थप्रतिपादकत्वेन परास्तम् । उक्तञ्च—

यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने ।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवाऽवबोधकाः ।। इति,

तत् सिद्धमेतदुच्चरितप्रध्वंसिनामपि वर्णानामेकस्मृतिसमारोहेण समूहोऽर्थप्रतिपादक इति उच्चरितप्रध्वंसित्वमनुपपन्नमनित्यत्वे प्रमाणाभावादिति कश्चित् । तदयुक्तम्, प्रमाणस्य विद्यमानत्वात् । तथाहि 'शब्दो नित्यः' कृतकत्वात्, घटवत् । असिद्धं तस्य कृतकत्वमिति चेत्, न, ताल्वादिसंयोगकारणान्वयव्यतिरेकानुविधानात् । ताल्वादीनां व्यञ्जकत्वमिति चेत्, न, तद्व्यापारात् प्राक्शब्दे सत्वे प्रमाणाभावात् कोलाहलप्रसङ्गाच्च । अन्यथा सुखादिकारणानां व्यञ्जकत्वमेव स्यात् । विशेषाभावात् स एवाऽयं गकार इति प्रत्यभिज्ञानं प्रागवस्थाने

प्रमाणमिति चेत्, न, तारतरादिभेदभिन्नस्य गकारस्य प्रत्यक्षेण प्रतीयमानत्वात् तस्य चान्यथानुपपत्तेः प्रत्यभिज्ञानस्य च ज्वालादिवदन्यथाप्युपपत्तेः। तीव्रत्वादिधर्माणामेवोत्पादो न गकारस्येति चेत्, न, युगपदनेकपुरुषोच्चारणे तारतरत्वादिविरुद्धधर्मानुपपत्तिप्रसङ्गात्।

अथैषां व्यञ्जकधर्मत्वं तदप्यसङ्गतं, शब्दधर्मत्वेन प्रतिभासनात्। 'तिक्तो गुडः' इति प्रतीतिवदेषा भ्रान्तिरिति चेत्, न, बाधकाभावात्। गत्वतीव्रत्वयोः परापरभावानुपपत्तिर्बाधकमित्यपि न वाच्यम्, सुखत्वतीव्रत्वयोरिव परापरभावनियमानभ्युपगमात्। तथैषां व्यञ्जकवायुधर्मत्वे कर्णाभ्यर्णकृतहस्तस्य हस्तेनाप्युपलम्भप्रसङ्गः, तदेवं स्थितमेतदुच्चरितप्रध्वंसिनः शब्दा इति।

ननु किं पदानि प्रत्येकमेकैकमर्थं प्रतिपादयन्ति सन्ति वा स्वार्थे प्रमाणं किं वा परस्परान्वितं स्वार्थं बोधयन्ति। अत्र केचिदाचक्षते व्युत्पत्त्यनुसारेण पदानामर्थप्रतिपादकत्वम्। व्युत्पत्तिस्तु 'गामानय' इत्यादिषु क्रियान्वितस्वार्थप्रतिपादकतायां च क्रियायां न स्वरूपमात्र इति परस्परान्वितमेव स्वार्थं पदान्यभिदधतीति। अत्रोच्यते—यदि घटपदेनाऽऽनयनान्वितश्चार्थोऽभिधीयते तदा आनय इति पदं व्यर्थं स्यात्। (3a) आनयेति पदेनाऽऽनयनार्थे निहिते सति घटपदेनाऽऽनयनान्वितस्वार्थोऽभिधीयत इति न व्यर्थमानयेति पदमिति चेत्, तर्हि आनय इति पदं घटान्वितस्वार्थमभिदधानं अनन्विताभिधानं प्रसक्तम्। न चानयेति पदेनापि पूर्वपदाभिहितार्थान्वितः स्वार्थोऽभिधीयत इति वाच्यं, इतरेतराश्रयप्रसङ्गात्। अथ पदानि प्रथमं स्वार्थमात्रं स्मारयित्वा पश्चादितरेतरान्वितं स्वार्थमभिदधतीति नेतरेतराश्रयः। तदुक्तम्—

पदं जातं श्रुतं सर्वं स्मारितार्थविधायकम्।
न्यायसम्पादितव्यक्तिः पश्चाद्वाक्यार्थबोधकम्॥

तदपि वार्त्तस्मरणस्याऽनुभवानुभवानुसारित्वेनाऽन्वितार्थस्मरणदर्शनात्। कण्ठचादेः शब्दस्याऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां कम्बुग्रीवाद्याकारं एवार्थे प्रयोगनियमात्, न क्रियाकारणादिषु तेषां प्रत्येकं व्यभिचारात्। तेनाऽयमव्यभिचरितं साहचर्यं पृथुबुध्नोदराकारमेवार्थं प्रतिपादयति, न क्रियाकरणलक्षणमिति। एवं तर्हि यस्य शब्दस्य येनाऽर्थेनाऽव्यभिचारिसाहचर्यमुपलब्धं तस्यैव तदभिधायिकत्वमिति। अनन्विताभिधानपक्षेऽपि समानं. न च स्मरणमनुमानवत्साहचर्यनियममपेक्षते। साहचर्यनियमविरहिणामपि दण्डादीनां पुरुषास्मरणे कदाचित्स्मरणात्। तस्मान्नियमेन पृथुबुध्नोदराकारमेवार्थं स्मारयन् घटशब्दस्तद्विषयमेव वाचकत्वमालम्बते, ये तु पदैरभिहिताः पदार्थ[ा] एव वाक्यार्थं प्रतिपादयन्तीति संगिरन्ते तेषाम-

शाब्दो वाक्यार्थः स्यात्, न च पदार्था नाम सप्तमं प्रमाणमस्तीति शब्दावगत-पदार्थानां शब्दप्रमाणान्तरभावे प्रत्यक्षावगतशब्दलिङ्गयोरपि प्रत्यक्षप्रमाणत्व-प्रसङ्गः। तस्माद् व्यवस्थितमेतत्पदानि प्रत्येकमेकैकमर्थं प्रतिपादयन्ति सन्ति वाक्यार्थे धियं जनयन्तीत्यलमतिप्रसङ्गेन।

देव्या अंह्रिः चरणो वो युष्माकं अंहः पापं मुष्यात् अपहरतु, अत्र सत्स्वप्य-न्येष्वाशास्येषु सकलपुमर्थहेतुभूतायाः पापापहतेरेवादावाशास्यत्वं बहुमन्यमानस्ता-मेवादौ प्रायुङ्क्त। तदुक्तम्—

'निष्पापस्य मनुष्यस्य किं न सिध्यति भूतले।' इति,

'आशिषि लिङ्लोटौ' इति, एष विष[य]त्वादुभयोर्वाच्यवाचकभावः। मुष्यात् इति आशीर्वचनमौचित्यमावहति। यतस्त्रिजगतामपि पापपरिपाकरूपस्य महिषस्य व्यापादनाय शिरसि न्यस्तस्य तथोद्धारेण त्रिजगदानन्दकन्दस्य पादस्य भक्तपापा-पहारित्वं युक्तमिति। तदुक्तम्—

पूर्णार्थदातुः काव्यस्य सन्तोषितमनीषिणः।
उचिताशीर्नृपस्येव भवत्यभ्युदयावहा॥ इति,

किं कुर्वन्, 'मरुदसुहृदसून् हरन्' मरुतो देवास्तेषां असुहृत्, न सुहृत् असुहृत् अमित्रः "सुहृद्दुर्हृदौ मित्राऽमित्रयोः", अथवा असून् प्राणान् हरतीति असुहृत्, मरुतामसुहृत् मरुदसुहृत् तस्य असवः प्राणाः मरुदसुहृदसवः तान् मरुद(3b)सुहृदसून् विनाशयन्। अत्रासुहृतुः असुहरणं कृतप्रतिकृतन्यायेन युक्त-त्वादुचितम्। कथम्भूतोंऽह्रिः, देव्या महिषस्य मूर्ध्नि न्यस्तः आरोपितः। अत्र देव्या इति षष्ठ्यन्तं विसर्गलोपात् तृतीयान्तं चेति कृत्वोभयत्र सम्बध्यते। अनेना-ऽद्भुतं काव्यमुच्यते। तदुक्तम्—

यत्र लिङ्गविभक्तीनां सति भेदे महत्यपि।
दृश्यते शब्दसादृश्यमिदमद्भुतमुच्यते॥

'देव्या' इति कर्त्तरि तृतीया। कथम्भूतया देव्या, 'अवयवान्' अर्थात् स्व-कीयानेव भ्रू-अधरादीन् इति वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रकृतिं स्वभावं प्रापयन्त्या पूर्वा-वस्थामापादयन्त्या, प्रापयन्त्येवेत्यत्र इवेन नित्यसमासः, 'पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं विभक्त्यलोपश्च'। किंविशिष्टान् अवयवान्, 'उद्यत्कोपकेतून्' उद्यंश्चासौ कोपश्च उद्यत्कोपस्तस्य केतुः चिह्नं सकोपभ्रूविकारादिर्येषां ते तथा तान्। अथ कोपः केतुरिवेति 'उपमितं व्याघ्रादिभि'रिति समासः। उद्यन् कोप एव केतुः शत्रुवध-पिशुनो ग्रहो येषु इति नोक्तं, विवृण्वन्नाह किं तत्, हे भ्रूः! विभ्रमं मा भांक्षीः विलासभङ्गं मा कार्षीः, भ्रूरिति, भ्राम्यतीति 'भ्रमि गमि' इत्यौणा-

दिको ङः। 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री'ति ह्रस्वाभावः। भांक्षीरित्यत्र 'वदव्रजहलंतस्याच' इति हल्समुदायग्रहणात् हल्द्वयव्यवधानेऽपि वृद्धिः। प्रकृतिप्रत्ययविभाग-विचारस्तु अवसरान्तरे निरूप्यमाणोऽस्तीति नेह प्रतन्यते। अनु च, हे अधर ! केयं विधुरता वैधुर्यं यत् त्वं स्फुरसि। अनु च, हे आस्य ! मुख ! त्वं रागं रक्तत्वं अस्य क्षिप लौहित्यं पराकुरु। अनु च, हे पाणे ! हस्त ! कलहश्रद्धया युद्धेप्सया त्रिशूलं किं कलयसि तोलयसि ? विकारपरित्यागोपदेशे हेतुगर्भं तत्स्वरूपमाह, हे अवयवा ! इत्यनुषङ्गः। वाक्यस्थस्यैव पदस्य विभक्तिपरिणामादिनाकृष्या-नेन योगोऽनुषङ्गः। अयं महिषः प्राण्येव न मच्चरणन्यासादेवायं गतासुरित्यर्थः। किं श्राम्यथ, अत्र प्राणिनि भाविनि भूतवदुपचारादप्राणीत्युक्तं किञ्च सर्वे-शितुर्भवान्या अपघनानां मृतमारणे प्रवृत्तिरसमञ्जसेति रिपोरपि प्रकृष्टशौर्यादि वर्णयित्वा तद्धतिर्युक्तेति। शान्ति इतान् तान् [अवयवानिति शेषः]। अयं प्राण्येवेति प्राणिमात्रं न किन्तु सुरासुरदर्पदलनो महिषोऽयमित्युद्दीपयसि। कथमिति तदाह, हे भ्रूः ! विभ्रमं चलनं मा भांक्षीः; कोपवशाच्चलाचला भवेत्यर्थः। अथ विभ्रमं विगतो भ्रमो भ्रान्तिर्यत इति भ्रान्तिराहित्यं मा भांक्षीः, सावधाना भवेत्यर्थः। "भ्रमस्तु चलने भ्रान्तौ विलासे वारिनिर्गमे" इत्यनेकार्थे। हे अधर ! विह्वलता का, 'विधुरं स्यात् प्रविश्लेषे विह्वलं' इति। हे आस्य ! अस्य महिषस्योपरि रागं अनुरागं अस्य क्षिप, अस्येति काकाक्षिगोलकन्यायेन उभयत्र सम्बध्यते। हे पाणे ! खड्गश्रद्धया त्रिशूलं किं कलयसि, "कलहः खड्गकोशे स्यात्" इति। कलहोऽस्यास्तीति कलहः खड्गः। अकारोऽत्र मत्वर्थीयः, 'तया महासिना देव्ये'ति मार्कण्डेयपुराणे। अत्राचेतनेष्ववयवेषु चेतनवत्सम्बोधनं, लक्षण[4a]या मुख्यार्थबाधे चेतनावत्वमारोप्यते। अथ स्तुत्यर्थेन "अचेतनेष्वर्थ-सम्बन्धात्" इति जैमिनिसूत्रत्वात्। "शृणोत ग्रावाण" इत्यादिमन्त्राणां अप्रामाण्यमाशंक्य अभिमानव्यपदेश इति। तदधिष्ठातृदेवतास्तुतिपरत्वेन भगवता बादरायणेन प्रामाण्यं निरणायि। एतदेवाऽभिप्रेत्य भगवान् जैमिनिर्मन्त्राधिकरणे मन्त्राणां विवक्षितार्थत्वमसूत्रयत्। तत्राऽवशिष्टस्तु वाक्यार्थ इत्यारभ्य 'औषधे त्रायस्व स्वप्रितेमैनं'इति, शृणोत ग्रावाण इत्यादिसम्बोधनानि स्तुतिपरत्वेनेति सिद्धान्तितम्। अथ चाऽतीवसूरस्य महिषस्य मुमूर्षोरपि शूलके बन्धवत्। उद्यत्कोपकेतू[न्] निरवयवान् इति प्रकृतिं प्रापयन्त्या। प्रकृ[illegible]तेर्महा-नित्यादिना यत् यत् उत्पद्यते तत[illegible]स्मिन्नेव प्रतिसर्गे लीय[illegible]मपिण्डं मृत्पिंडं वा मुकुटघटादयो [illegible]भवन्ति। यथा पृ[illegible]त्राणि विशन्ति, तन्मात्राण्यहङ्कारं, अ[illegible]न्तं, महांश्च प्रकृति[illegible]ातपथी स्तुतिः। 'यत्रास्य पुरुषस्य मृ[illegible]प्येति वातं प्राणश[illegible]श्चन्द्रं

दिशः श्रोत्रमि'ति, एवं महिषस्यावयवान् परां प्रकृतिं प्रापयति । हे भ्रूः ! त्वदाश्रयो महिषो मया व्यापादितः, अतो निराश्रया त्वं विगतचलनं मा भांक्षीः । इमं त्यक्त्वा इतश्चल गच्छेति प्रति प्रतीकं योजनीयम् । अधर ! इयं का विधुरता, विधुश्च रश्च विधुरौ तयोर्भावो विधुरता, कान्तिमत्त्वं विधुताऽर्के (को) पित्वं, अग्निता द्वयेनापि मृतस्य न भवितव्यमिति भावः । आस्य ! रागं क्षिप, मृतस्य हि मुखं पाण्डु भवति । पाणे ! कलहश्रद्धया, कलं हन्तीति कलहं, शस्त्रं तद्वाञ्छया युद्धेऽभिमुखः शस्त्रहतो मोक्षं यातीति कृत्वा किंत्रिशूलं किं कलयसि ? मच्चरणपातेनैवाऽयं गतासुरिति । अथ त्रिशूलहतमहिषकण्ठनिःसृतपुरुषः पाणिं प्रत्याह— हे पाणे ! महिषवधसाधनं मद्धस्तस्थं त्रिशूलं किं कलयसि ? अनेन त्रिशूलेन हतो महिष इति स पुमान् क्रूरया दृशा त्रिशूलं विलोकयामास । तं प्रत्याह— यदाश्रयस्त्वं युद्धमभिलषसि अयं 'ना' पुमान् प्राण्येव प्राणिमात्रं, स्थिरो भव । अस्य प्राणान् सुखेन हरिष्यामीति त्वं स्वप्रकृतौ नेयं प्राप्नुहीति । कलिरत्र 'कलित्कगतिसंख्ययोः' इति । "ये एव गत्यर्थास्ते एव ज्ञानार्थाः" इति ज्ञानार्थः । अथ प्राणीति, प्राणित्वमात्रं विवक्षितं न विशिष्टः कश्चन इति । अनया अनुगतव्यवहारासाधारणकारणत्वविवक्षया यथाऽन्ये चक्षूराख्यादयो निपातितास्तथाऽयमपीति, यथा द्वित्वैकत्वयोरिति वक्तव्ये द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने इत्युक्तम् । किं पुनरत्रावधार्य निषिध्यते ? यदि अयमेव प्राणी नेति अयं अवधार्येत, तदाऽन्ये दैत्या मृता अपि प्राणिनः स्युः । अयं चोत्पत्तेः प्रागपि प्राणसंयोगरहित इति तन्मारणमनुपपन्नमापद्येत । अथाऽयं प्राण्येव नेति प्राणसम्बन्धोऽवधार्य निषिध्येत, तदा किं [4b] उत्पत्तेः प्रागपि प्राणिसम्बन्धो निषिध्येत उत साम्प्रतं अथागन्तुकः, तदुक्तम्—

> अयोगं योगमपरैरत्यन्तायोगमेव वा ।
> व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेककः ॥ इति,

न तावत्प्रथमः सत्कार्यवादिमते असदकरणादित्यादिहेतुभिः पूर्वं प्राणसम्बन्धात्-तदुक्तम्—

> विधानं प्रतिषेधं च मुक्त्वा शब्दोऽस्ति नापरः ।
> व्यवहारः स चासुत्सुनेति प्राप्ताऽत्र मूकता ॥ इति,

तस्मान्निपातानामनेकार्थत्वात् । एव शब्दोऽत्र मात्रपर्यायो वेदितव्यः । अत्र स्त्रीणां वामाक्षिप्राधान्यात् । अथ रोषामर्षादौ कटाक्षस्येदृक्साध्यत्वात् । अथ त्रिनेत्राया जात्युपाधेभ्रू रित्यत्रैकवचनम् । अत्र च पद्ये 'न्यस्तो वो मूर्द्'नी'ति विरुद्धमत्युक्तिकृत्वात् । 'मुष्याद् वः पापमंह्रिर्मरुदसुहृदसून् संहरन् मूर्द्'नि दत्त' इति युक्तः पाठः । अत्र च—

दिको ङः। 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री'ति ह्रस्वाभावः। भांक्षीरित्यत्र 'वदव्रजहलंतस्याच' इति हल्समुदायग्रहणात् हल्द्वयव्यवधानेऽपि वृद्धिः। प्रकृतिप्रत्ययविभाग-विचारस्तु अवसरान्तरे निरूप्यमाणोऽस्तीति नेह प्रतन्यते। अनु च, हे अधर ! केयं विधुरता वैधुर्यं यत् त्वं स्फुरसि। अनु च, हे आस्य ! मुख ! त्वं रागं रक्तत्वं अस्य क्षिप लौहित्यं पराकुरु। अनु च, हे पाणे ! हस्त ! कलहश्रद्धया युद्धेप्सया त्रिशूलं किं कलयसि तोलयसि ? विकारपरित्यागोपदेशे हेतुगर्भं तत्स्वरूपमाह, हे अवयवा ! इत्यनुषङ्गः। वाक्यस्थस्यैव पदस्य विभक्तिपरिणामादिनाकृष्यानेन योगोऽनुषङ्गः। अयं महिषः प्राण्येव न मच्चरणन्यासादेवायं गतासुरित्यर्थः। किं श्राम्यथ, अत्र प्राणिनि भाविनि भूतवदुपचारादप्राणीत्युक्तं किञ्च सर्वे-शितुर्भवान्या अपघनानां मृतमारणे प्रवृत्तिरसमञ्जसेति रिपोरपि प्रकृष्टशौर्यादि वर्णयित्वा तद्धतिर्युक्तेति। शान्ति इतान् तान् [अवयवानिति शेषः]। अयं प्राण्येवेति प्राणिमात्रं न किन्तु सुरासुरदर्पदलनो महिषोऽयमित्युद्दीपयसि। कथमिति तदाह, हे भ्रूः ! विभ्रमं चलनं मा भांक्षीः; कोपवशाच्चलाचला भवेत्यर्थः। अथ विभ्रमं विगतो भ्रमो भ्रान्तिर्यत इति भ्रान्तिराहित्यं मा भांक्षीः, सावधाना भवेत्यर्थः। "भ्रमस्तु चलने भ्रान्तौ विलासे वारिनिर्गमे" इत्यनेकार्थे। हे अधर ! विह्वलता का, 'विधुरं स्यात् प्रविश्लेषे विह्वले' इति। हे आस्य ! अस्य महिषस्योपरि रागं अनुरागं अस्य क्षिप, अस्येति काकाक्षिगोलकन्यायेन उभयत्र सम्बध्यते। हे पाणे ! खड्गश्रद्धया त्रिशूलं किं कलयसि, "कलहः खड्गकोशे स्यात्" इति। कलहोऽस्यास्तीति कलहः खड्गः। अकारोऽत्र मत्वर्थीयः, 'तया महासिना देव्ये' ति मार्कण्डेयपुराणे। अत्राचेतनेष्ववयवेषु चेतनवत्सम्बोधनं, लक्षण[4a]या मुख्यार्थबाधे चेतनावत्वमारोप्यते। अथ स्तुत्यर्थेन "अचेतनेष्वर्थ-सम्बन्धात्" इति जैमिनिसूत्रत्वात्। "शृणोत ग्रावाण" इत्यादिमन्त्राणां अप्रामाण्यमाशंक्य अभिमानव्यपदेश इति। तदधिष्ठातृदेवतास्तुतिपरत्वेन भगवता बादरायणेन प्रामाण्यं निरणायि। एतदेवाऽभिप्रेत्य भगवान् जैमिनिर्मन्त्राधिकरणे मन्त्राणां विवक्षितार्थत्वमसूत्रयत्। तत्राऽवशिष्टस्तु वाक्यार्थ इत्यारभ्य 'औषधे त्रायस्व स्वप्रितेमैनं'इति, शृणोत ग्रावाण इत्यादिसम्बोधनानि स्तुतिपरत्वेनेति सिद्धान्तितम्। अथ चाऽतीवसूरस्य महिषस्य मुमूर्षोरपि शूलके बन्धवत्। उद्यत्कोपकेतू[न्] निरवयवान् इति प्रकृतिं प्रापयन्त्या। प्रकृतिमिति प्रकृतेर्महा-नित्यादिना यत् यत् उत्पद्यते तत् तस्मिन्नेव प्रतिसर्गे लीयते। यथा हेमपिण्डं मृत्पिंडं वा मुकुटघटादयो विशंतोऽव्यक्तीभवन्ति। यथा पृथिव्यादयस्तन्मात्राणि विशन्ति, तन्मात्राण्यहङ्कारं, अहङ्कारो महान्तं, महांश्च प्रकृतिमिति। यथा शातपथी स्तुतिः। 'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं

दिशः श्रोत्रमि'ति, एवं महिषस्यावयवान् परां प्रकृतिं प्रापयति। हे भ्रूः! त्वदाश्रयो महिषो मया व्यापादितः, अतो निराश्रया त्वं विगतचलनं मा भांक्षीः। इमं त्यक्त्वा इतश्चल गच्छेति प्रति प्रतीकं योजनीयम्। अधर! इयं का विधुरता, विधुश्च रश्च विधुरौ तयोर्भावो विधुरता, कान्तिमत्त्वं विधुताऽके (को) पित्वं, अग्निता द्वयेनापि मृतस्य न भवितव्यमिति भावः। आस्य! रागं क्षिप, मृतस्य हि मुखं पाण्डु भवति। पाणे! कलहश्रद्धया, कलं हन्तीति कलहं, शस्त्रं तद्वाञ्छया युद्धेऽभिमुखः शस्त्रहतो मोक्षं यातीति कृत्वा किंत्रिशूलं किं कलयसि? मच्चरणपातेनैवाऽयं गतासुरिति। अथ त्रिशूलहतमहिषकण्ठनिःसृतपुरुषः पाणिं प्रत्याह—हे पाणे! महिषवधसाधनं मद्धस्तस्थं त्रिशूलं किं कलयसि? अनेन त्रिशूलेन हतो महिष इति स पुमान् क्रूरया दृशा त्रिशूलं विलोकयामास। तं प्रत्याह—यदाश्रयस्त्वं युद्धमभिलषसि अयं 'ना' पुमान् प्राण्येव प्राणिमात्रं, स्थिरो भव। अस्य प्राणान् सुखेन हरिष्यामीति त्वं स्वप्रकृतौ नेयं प्राप्नुहीति। कलिरत्र 'कलित्कगतिसंख्ययोः' इति। "ये एव गत्यर्थास्ते एव ज्ञानार्थाः" इति ज्ञानार्थः। अथ प्राणीति, प्राणित्वमात्रं विवक्षितं न विशिष्टः कश्चन इति। अनया अनुगतव्यवहारासाधारणकारणत्वविवक्षया यथाऽन्ये चक्षुराख्यादयो निपातितास्तथाऽयमपीति, यथा द्वित्वैकत्वयोरिति वक्तव्ये द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने इत्युक्तम्। किं पुनरत्रावधार्य निषिध्यते? यदि अयमेव प्राणी नेति अयं अवधार्येत, तदाऽन्ये दैत्या मृता अपि प्राणिनः स्युः। अयं चोत्पत्तेः प्रागपि प्राणसंयोगरहित इति तन्मारणमनुपपन्नमापद्येत। अथाऽयं प्राण्येव नेति प्राणसम्बन्धोऽवधार्य निषिध्येत, तदा किं [4b] उत्पत्तेः प्रागपि प्राणिसम्बन्धो निषिध्येत उत साम्प्रतं अथागन्तुकः, तदुक्तम्—

> अयोगं योगमपरैरत्यन्तायोगमेव वा।
> व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेककः॥ इति,

न तावत्प्रथमः सत्कार्यवादिमते असदकरणादित्यादिहेतुभिः पूर्वं प्राणसम्बन्धात्-तदुक्तम्—

> विधानं प्रतिषेधं च मुक्त्वा शब्दोऽस्ति नापरः।
> व्यवहारः स चासुत्सुनेति प्राप्ताऽत्र मूकता॥ इति,

तस्मान्निपातानामनेकार्थत्वात्। एव शब्दोऽत्र मात्रपर्यायो वेदितव्यः। अत्र स्त्रीणां वामाक्षिप्राधान्यात्। अथ रोषामर्षादौ कटाक्षस्येदृक्साध्यत्वात्। अथ त्रिनेत्राया जात्युपाधेभ्रू'रित्यत्रैकवचनम्। अत्र च पद्ये 'न्यस्तो वो मूर्द्ध्नी'ति विरुद्धमत्युक्तिकृत्वात्। 'मुष्याद् वः पापमंह्रिर्मरुदसुहृदसून् संहरन् मूर्द्धनि दत्त' इति युक्तः पाठः। अत्र च—

'आक्षेपं च समाधानं कृत्वा वादान्तराणि तु ।
वितथीकृत्य या व्याख्या टीकां तामाहुरुत्तमाम् ॥'

इति टीकालक्षणत्वात् पूर्वपाठशोधनचिन्ताऽनुचितेति न वाच्यम् । तथा चोक्तं व्याख्यानकृद्भिस्तल्लक्षणम्—

'पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना ।
आक्षेपश्च समाधानं षोढा व्याख्यानलक्षणम् ॥' इति,

अथ मन्त्रोद्धारप्रकारेण किञ्चिदर्थान्तरं यथा, तत्र मन्त्रार्णप्रकाशनाय क्लिष्टेऽपि पदच्छेदे मयि कृपापरैः सद्भिर्नोद्वेगः कर्त्तव्यः ।

प्रायेणामृतमव्यक्तं व्यक्तविषमितस्ततः ।
क्षुण्णाक्षुण्णत्वतः स्तोत्र-पन्थानौ सुगदुर्गमौ ॥

यथा 'उ' इति सम्बोधने, देवी भुवनेश्वरी वः युष्माकं, अंहः पापं मुष्यात् । किंविशिष्टा देवी, 'ह्रिः' हकार-रेफ-इकारवाच्या सदाशिवमाधवब्रह्मरूपा । "सदाशिवो हकारः स्यात् इकारो माधवः स्मृतः । रेफो रजो गुणो ब्रह्म" इत्यनेकार्थध्वनिमञ्जर्याम् । अथ हकाररेफेकारैः सोमसूर्याग्निवर्णरूपात्मिका हकारादिषु सोमादिक्रमाभावात् कलनातीतत्वं द्योतितम् । पुनः किम्भूता, मूर्द्धनि वर्तमाना सती, 'अनि' जीवे इति जीवस्थाने हृदये अस्ता—आरोपिता । अनिति प्राणितीत्यन् क्विबन्तः, आङुपसर्गः । व्यवहितो वा आस्तेति ध्यानार्थं हृदये आनीता । पुनः किंविशिष्टा, इति अवयवान् मन्त्रबीजार्णावयवान् क्षीर्विभ्रमं प्रकृतिं प्रापयन्ती, एवेत्यवधारणे । "प्रकृतिः स्वभावे योनौ च" इत्यनेकार्थे । वीनां पक्षिणां भ्रमो यस्मिन्निति विभ्रमः । आकाशे हकारः । क्षीभिरुपलक्षितो विभ्रमः क्षीर्विभ्रमः तम् । "क्षकारो व्यापि ब्रह्म" इत्यागमनिघण्टौ । 'अं ब्रह्मेति च' मातृकानिघण्टौ, अं एतावता अनुस्वारः सम्पन्नः । 'ईः' इति शान्तिकला, ईकारः । 'र्' इति रेफः । एवं हकाररेफेकारानुस्वारैः कृत्वा 'ह्रीं' इति बीजं जातम् । तदुक्तं—'घनवर्त्मचूर्णगतिशान्तिबिन्दुभिः कथितः । परप्रकृतिवाचको मनुरि'ति । अस्य च मनोः सर्वस्य मन्त्रजातस्य सर्वस्य च विश्वस्यादिकारणत्वात् प्रकृतित्वम् । अथ क्षीर्विभ्रममिति व्युत्क्रमस्थानात् अवयवान् प्रकृतिं—स्वभावं प्रापयन्ती, क्रमेण योजयन्ती । किंविशिष्टं विभ्रमम्, 'माभाम्' मकारेण युक्त 'आ' [इति] 'मा' तेन भातीति स तथा । एतावता पूर्वं आं इति पाशबीजं जातम् । पुनः किंविशिष्टा, के व्यञ्ज[5a]ने 'अधरविधुरता' अधरश्च विधुरश्च तेषां भावस्तत्ता । अधरः ओंकारः, विधुः बिन्दुः, रः रेफः, के इति ककारे

एतावता अत्रापि व्युत्क्रमस्य क्रमयोजनं पूर्ववत् । एतावता 'क्रों' इति अंकुशबीजं जातम् । पुनः किंविशिष्टा भ्रूः, अर्द्धमात्रारूपा । तदुक्तम्—

'अर्द्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः ।' इति,

यथा च—

'या मात्रा त्रपुषीलतातनुलसत्तन्तूस्थितिस्पर्द्धिनी ।' इति,

एभिस्त्रिभिर्बीजैः पाशाङ्कुशसम्पुटिता भुवनेश्वरी जातेति । यथा न्यासः– 'आं ह्रीं क्रों' इति मनुः सम्पन्नः । किं विशिष्टं क्षीर्विभ्रमं, अयं शुभावहम् । पुनः किं-विशिष्टं 'आस्यास्यरागं', अस्यन्ते इति अस्याः, आभिमुख्येन अस्याः आस्याः कामाः तेषां आस्यं मुखं तत्र रागो यस्य स तथा तम् । भक्तेभ्योऽभीष्टकामदमिति यावत् । पुनः किंविशिष्टः 'पाणे' पणनं पाणः, घञन्तः, "पण स्तुतौ" इति विषये इत्यर्थः । 'प्राण्येवनायं', अणनं अणः, प्रकृष्टोऽणः प्राणः, प्राणो विद्यते ययोस्तौ प्राणिनौ यौ अंकाररेकार (अकारेकार)वाच्यौ हरिहरौ प्रकृष्टान् शब्दान् कुर्वाणौ तौ वनमिव गेहमिव अयतीति प्राण्येवनायस्तम् । अथ तैर्वनमिव अय्यते प्राप्यते, किमुक्तं भवति, स्तुतिविषये सुष्ठूक्तौ हरिहरौ प्राप्य कृपापरा सती यथा गेहे निवासः क्रियते तथा तत्र सुखं निवसतीत्यर्थः । एतत् ह्रीं इति बीजविशेषणम् । कया अवयवान् प्रकृतिं प्रापयन्ती 'कलहश्रद्धया', 'कलहः समरशोभयोः' इत्यनेकार्थे । शोभा-वाञ्छया यावता क्रमयोजितेषु बीजेषु बीजात्मकं शरीरं शोभाढ्यं भवतीत्यर्थः । पुनः किंविशिष्टं, क्षीर्विभ्रमं, 'किंत्रिशूलं अकिञ्चित्करं त्रिशूलं यत्र स तं तथा । त्रिशूलग्रहणं सर्वप्रहरणोपलक्षणार्थं, यत्साध्यमनेन साध्यते तत्सर्वैरपि साधनैर्न-शक्यत इत्यर्थः । किम्भूता देवी, 'उद्यत्का' उद्यन् क इति आत्मप्रकाशो यस्याः सा तथा । "कः स्यादात्मप्रकाशे" इत्यभिधानकोशे । किम्भूतान् अवयवान्, 'उपकेतून्' उकार-पकार-वाच्याभ्यां मन्मथपद्मनाभाभ्यां केतुः द्युतिर्येषु । केतुरिति द्युतिनाम-सुपठितः । एतदुक्तं भवति, कामबीजं क्लीं, हरिबीजं श्रीं, आभ्यां शोभत इति यावत्, एतावता क्लीं श्रीं इति बीजाभ्यां सम्पुटितं बीजत्रयं जप्तव्यमिति केषाञ्चित् सम्प्रदायः । किम्भूतं अंहः, 'मरुदसुहृत्' सुखेन ह्रियत इति सुहृत्, न सुहृत् असुहृत्, मरुतः देवास्तैरपि हर्त्तुं न शक्यत इति यावत् । पुनः किंभूतं, असून् उपलक्ष्य वर्त्तमानम् । पुनः किंभूतं, 'संहरं' सम्यक् हरणशीलं असूनपीत्यर्थः । संहरमिति पचाद्यजन्तम् । पुनः किंभूतमंहः, 'नम्' नमतीति नम् । प्रह्वत्वे क्विबन्तः । किमुक्तं भवति, यत् अंहः सुरैरपि नाशयितुं न शक्यते तत् भगवतीकृपया प्रह्वीभूतं सत् यातीत्यर्थः । पुनः किंभूतं, 'कलयसि' कलस्य भवस्य नाशाय यसः प्रयत्नो यस्य विद्यते तत्तथा । "यसु प्रयत्ने" शाकपार्थिवादित्वान् मध्यपदलोपी समासः । यथा मशकार्थो

धूमः पुंसां भव्यवस्तुनाशाय चायं प्रयतते इति । अत्र वृत्ते "विज्ञेया स्रग्धराऽसौ मरभनययया वाह्नवाहैर्यतिश्चेत्" इति स्रग्धराछन्दः । यतिर्विच्छेद इति गणाश्च ।

'आदिमध्यावसानेषु यरता यान्ति लाघवम् ।
भजसा गौरवं यान्ति मनौ गौरवलाघवे ॥'

इति प्रापयन्त्येवेत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । तदुक्तम्—

'अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा ।
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्बुधाः ॥'

'मुष्याद् वोंऽहः' इति आशीः । आशीर्नामाऽभिलषिते वस्तुनि आशंसनम्, यथेति प्रापयन्त्येवेति, इवेनेत्यादिना समासे इव-शब्द-योगे समासगा वा उपमा । अत्राशीरुत्प्रेक्षे परस्परनिरपेक्षे संसृष्टि प्रयोजयतः । यथा—

'सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ।' इति,

अथानुप्रासोत्प्रेक्षाशीर्वादानां शब्दार्थालङ्काराणां संसृष्टिर्वा तेषामेकस्मिन्वाक्ये समवेतत्वात् सङ्करोऽपि । तथा चानुप्रासोऽत्राशीर्विशिष्टं वाक्यं अनुगृह्णाति । उत्प्रेक्षा चाशिषं, आशिषोऽङ्गीभावात्, उत्प्रेक्षा तदङ्गित्वेन प्रवृत्तेति । तथा चोक्तम्—

'अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु सङ्करः ।'

अथवाऽत्र तु 'मा भांक्षी'रिति धैर्यस्य प्रकृतिं प्रापयन्त्येवेति शान्तिः । अथ पुनर्मायात्वयमित्यावेगधैर्ययोः सन्धिः । अथ नानारूपाण्यपि कुर्वाणमसुरं दृष्ट्वा धृतेरुदयः । अथ धृत्यसूयाश्रमाशङ्कौत्सुक्यानां शबलतेति कृत्वा वाक्यार्थस्य प्राधान्यात् रसस्य तु गुणीभूतव्यङ्गत्वेन रसवदूर्जस्विदलङ्कारता । अनु चेङ्गितैरवयवप्रकृतेति प्रापणाद्यैर्हननस्य लक्षणत्वात् सूक्ष्मोऽलङ्कारः । अनु च, महिषहननलक्षणमिष्टमर्थं साक्षादनुक्त्वैव प्रकारान्तरानुसन्धानेन पर्यायोक्तमलङ्कारः । अनु च, महिषहननोपकरणे प्रस्तुते भ्रुवादीन् सम्बन्ध्योक्तिरप्रस्तुतेति अप्रस्तुतप्रशंसाऽपि । एवं चाऽवयवेषु प्रस्तुतेषु स्वावयवेषु किमुच्यते, अपि तु तद्व्यपदेशात् सज्जीभवंत्विति, देवानुपदिशतीति समासोक्तिः, अथाऽवयवानामप्रस्तुतानां मुखेन केषांचित्तदुपदेशयोग्यानां प्रतिपत्तेरप्रस्तुतप्रशंसेति सन्देहः । अत्र च बहूनामलङ्काराणां विरुद्धस्वभावानां एकस्मिन् वाक्ये युगपदवस्थानासम्भवात् । एकतरस्य च परिग्रहे साधकप्रमाणाभावात् । इतरेषां च पराकरणे बाधकाभावाच्च अनिश्चयात्मकः सङ्कर आपनीपद्यते । तदुक्तम्—

'एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः ।' इति,

एवं अलङ्कारे निर्णीते व्यङ्ग्यं निर्णीयते । तत्र प्रापयन्त्येवेत्युत्प्रेक्षया स्वस्था भवन्तु, क्षणेनाशु क्षयं करिष्यामीति व्यज्यते । 'मा भांक्षी'रित्यादिवस्तुना च भवन्तस्तिष्ठन्तु, ममैवाऽयं वध्य इति वस्तु व्यज्यते । इत्यादि विस्तरभीरुभिर्न प्रपञ्च्यते । अत्र च—

'दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो बीजरसस्थितिः" । इति,
ओजो गुणः । अत्र च ओजःप्रधानत्वात् यद्यपि गौडीया रीतिः तथाऽपि असमस्तपदेति कृत्वा वैदर्भीति मन्तव्यम् । यतः—

अस्पृष्टा दोषमात्राभिरनल्पगुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या [6a] वैदर्भीरीतिरिष्यते ॥

इति तल्लक्षणात् । अनु च सङ्ग्रामे वैदर्भ्यामपि ओजो न दोषाय इति । तथा चोक्तम्—'यद्यपि गुणपरशतघटनादयः तथापि क्व वाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचिद् 'रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते' इति ।

रसस्तु रतिर्देवादिविषया इति, रतेः स्थायिभावित्वे व्यभिचारित्वं देवतास्तुतिविषयः । शृङ्गारोऽपि वीरपर्यवसाय्य अयमासमाप्तिमनुस्यूतो वेदितव्यः । विशेषतोऽत्र युद्धसक्रोधवाक्यपरुषोक्तिमत्सरादिविभावैः भृकुटीरक्तनेत्रत्वकपोलस्फुरणाद्यैरनुभावैरमर्षावेगौग्र्यचापलाद्यैः सञ्चारिभिर्व्यक्तः । क्रोधस्थाद्भावो रौद्रो रसः । आजि वीरश्च, उत्साहस्य संसा(चा)रित्वात् अनभिव्यक्तोऽपि वीरेण सङ्करः क्रोधस्य बोद्धव्यः ।

ननु भावस्य व्यभिचारेण स्थायित्वात् कथं उत्साहस्थायी वीरोऽत्र ? मैवं व्यभिचारिणः सन्तो विद्युत्क्षणिकविद्योताः स्युः, स्थायिनश्च स्थिराः स्युरिति । उत्साहो रसद्वये द्विरूपो भवति । अविभावित्वात् स्थायी निसर्गक्षणिक इति चेत्? न, संस्काररूपेण स्थाय्यपि स्यात् । तदुक्तम्—

तत्तिरस्कृतसंस्काराश्चान्यान्यस्थैर्ययोगिनः ।
अ[ा]विर्भावतिरोभावधर्माणश्चित्रयन्ति तम् ॥

अपि च अविस्मयाऽसम्मोहाऽविषादपराक्रमणशक्तिप्रतापप्रभुशक्तिदुर्द्धर्षपटुसैन्यतादिविभावैर्गर्वाद्यैश्चानुभावैः औग्र्यावेगरोमाञ्चाऽमर्षधृत्यादिभिः सञ्चारिभिरभिव्यक्तत्वात् ज्ञेयोऽपि स तूत्तमपुरुषेषु उत्साहस्थायिभावो भवत्येव । एवमिहाप्यनुग्राह्यानुग्राहकभावेन रससङ्करोऽसामाजिकरसनीयतामातनोति । तत्स्वरूपम्—

"यथा निरन्तरायत्वात् परां विश्रान्तिमाश्रिता ।
प्रतिभानुभवस्मृत्याद्यवबोधविलक्षणा ॥
ब्रह्मसंविद्विसदृशी नानारत्यादिसङ्गमात् ।
सुखरूपारवसंवेद्या संविदास्वादनाभिधो रसः ॥"

अथवा, स्थायी रसस्तद्गोचराऽभावात् । स च मित्रामित्राद्याश्रयतां विनापि अवस्थादेशकालादिभेदसंभेदवर्जितः केवलं रत्यादिस्थायिरूपो विभावानुभावव्यभिचारिसङ्गात् निःपद्यत' इति पूर्वसूरयो न्यरूरुपन् । तथा चाभाणि भरतेन—

दध्यादिव्यञ्जनैश्चिञ्चाहरिद्रादिभिरौषधैः ।
मधुरादिरसोपेतैः यद्वद्द्रव्यैर्गुडादिभिः ॥
युक्तैः पाकविशेषेण खाण्डवाख्योऽपरो रसः ।
उत्पाद्यते विभावाद्यैः प्रयोगेण तथा रसः ॥

इति, अप्रस्तुतत्वान्नेह प्रतन्यते ।

ननु देवतासद्भावे प्रमाणाभावात्तदाश्रया आशीर्न संजाघट्टि । लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धेस्तदभावेन निराश्रयत्वात् नदीमां वाचो युक्तिविचक्षणपरीक्षाक्षमामीक्षामहे । कुतः ? अभावेनैव तत्सद्भावविभावनात् । अदोऽपि कथमिति चेत् ? 'भावप्रतियोगित्वादभावस्य' इति वचनं जागर्त्ति । यतो भावस्यैवाऽभाव इति । तथाहि—स ज्ञातोऽज्ञातो वा निषिध्यते नाऽऽद्यः, तद्ग्राहिणैव प्रमाणेन बाधात् । द्वितीयश्चार्पितप्रसङ्ग(6b)बाधितो नोत्थातुं प्रभवति । घटादिरप्यजातो न प्रतिषेधमर्हति । तथाहि—

लब्धरूपे क्वचित् किञ्चित् त्वा(ता)दृगेव निषिध्यते ।
विधानमन्तरेणातो न निषेधस्य सम्भवः ॥ इति,

तल्लक्षणपक्षाच्च स्वीय-स्वीयमतावलम्बनेन प्रावादुकानां (वावदूकानां) जाग्रते । स्वरूपलक्षणञ्च "सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्म"ति । तटस्थलक्षणं च "जन्माद्यस्य यत" इत्यादि । प्रमाणं च "सदैव सौम्येदमग्र आसीद्" इत्यादि अनुमानानि च 'कार्यायोजनधृत्यादेः पादात् प्रयतः श्रुतेः । वाक्यात् सांख्याऽविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्यय ॥" इत्यादीनि, अयं घटः, एतज्जनकानित्येतरज्ञानजन्यः कार्यत्वात् कुम्भवदिति च ।

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णयैः । इत्यादि,

षड्विधतात्पर्यदर्शनादागमादपि तत्सिद्धिः । इत्याह—नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्म-

स्थितां भाष्यकृदत्र युक्त्येत्यादि मीमांसाचार्यसम्मताच्च भगवता बादरायणेनाऽपि ब्रह्मणो विषयत्वाभावात् प्रमाणागम्यत्वाभावमाशंक्य निश्वसितमेतस्य भवतो भूतस्य यद् ऋग्वेदो यजुर्वेद इत्यादि विषयवाक्यात् शास्त्रं यो नित्यत्वादिति सूत्रस्य, शास्त्रं यो निर्गमकं यस्य शास्त्रस्य यो निष्कारणमिति वा इति वर्णकद्वयेन व्याख्यानात् प्रमाणगम्यत्वं निरणायि। मीमांसकैरपि नानादेशेनैकदैविकदेवो यागानां स्यात् सम्प्रदानं विरोधादित्यादेः, अर्थवादानामपि च विधिशेषत्वात् स्वार्थे प्रामाण्याभावादित्यादेश्च तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन चेष्यते । देवतासङ्गतिरित्यादेश्च पर्यालोचनया देवतानां मन्त्रवर्णमिथ(थ्या)त्वमाशंक्य अवशिष्टस्तु वाक्यार्थ इति मन्त्राधिकरणे मन्त्राणां न हि कुठारादिवत् मन्त्राः स्वरूपेण प्रमाणं किन्तु अर्थप्रकाशकत्वाभावादप्रामाण्यापातान्न प्रकाशत्वेन । अर्थवादानामपि त्रैविध्ये गुणवादानुवादयोः स्वार्थे प्रमाभावात् । भूतार्थवादस्य स्वार्थे प्रामाण्यात् । "वायव्यं श्वेतमालभेत" इत्यादि विधौ प्रामाण्यात् । "आसंवत्सरादस्य गृहे रुदन्ति" इत्यादि रजतदाननिषेधात् । अत्र वर्त्तमानयोर्देवताविग्रहयोः प्रामाण्यप्रतिपादनात् भूतार्थवादस्याऽप्रामाण्ये स्वर्गादीनामपि तत्प्रतिपादितत्वेनाऽप्रामाण्यात् । विधेः फलांशाभावात् अप्रामाण्यप्रसङ्गे पुरुषा न प्रवर्त्तेयुः । फलविषये च प्रामाण्यं, देवताविषये न तत्कथं काकैर्भक्षितम् । अथार्थवादानां पदैकवाक्यता न वाक्यैकवाक्यता इति चेत् ? अयमपि सिद्धान्तो विधेः फलाभावेन निरस्तः ।

किञ्चान्वयचातुर्यं आयुष्मता आलभेत इत्यस्य विशेषणतां विशेष्यतां वा अभजमानं वायुरिति पदं तदैकवाक्यतां प्राप्नोतीत्येवमादियुक्त्या विग्रहवती देवताऽस्तीति पक्षः कक्षीकृतः । भवतु नाम या काचन देवता, तथापि शक्तिसद्भावे किमायातं? उच्यते—दृष्टाग्नि-अङ्गुलिसंयोगादिहेतुहेतुसाकल्ये प्रतिबन्धकमित्रादिना यदग्न्यादिना दाहादिकार्याऽनुपपत्तिः, उत्तम्भकमन्त्रादिना च यदुद्भवे तत्कार्योत्पत्तिः तदग्न्यादिगतमदृष्टं शक्तिरिति वा । सर्वभावानां येयं प्रतिनियतकार्यकारणभावव्यवस्था सर्ववायुविवादसिद्धोपलभ्यते । (7a) पटे तन्त्वादिकारणं न मृदादिः । मृदादिरेव घटादेः कारणं न तन्त्वादिरित्यादिकाऽतीन्द्रियकारणसमवेतोऽतिशयशक्तिरिति । सर्वं च पटादिकार्यं प्रायेण समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणानुविधायितया युगपदुपलभ्यते, इति कारणत्रयेपि तत्कार्यानुकूला शक्तिरेकैवानुमीयते, एकापि स्वाश्रयेषु कार्यसमवायिवत् प्रत्यासत्तिव्यवहितव्यापारविवक्षाभेदात्, समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणभेदेन त्रिविधा व्यपदिश्यते । सा च सर्वासु वह्नितन्तुमृदादिषु व्यक्ताव्यक्तदाहादिकार्यजनकत्वात् नित्यैकत्वे जातिवदवसेया । अन्यथा एकस्य शक्त्यभावात् सर्वेषां च शक्त्याश्रयाणां मेलाऽसम्भवात् । एकस्माद्द्वाभ्यां त्रिभ्यश्चतुरादिभ्यो वा कार्यानुपपत्तिप्रसङ्गः, इत्यादि यौक्तपक्षः शक्तिवादे

गुरुभिः प्रपञ्चितम्। अनुपयुक्तत्वान्नेह विपञ्च्यते। इयं शक्तिरन्यैवेति चेतना तदसिद्धं संज्ञाप्रमाणत्वात्। प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्, योग-प्रमाणे च तदभावे दर्शनं स्यात् इति च इतस्तत्रभवतः पाणिनेरप्ययमभिप्रायः। इत्यभिप्रेत्य श्रुतिरपि बंभणीति "चत्वारः शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त-हस्ताः सो अस्य त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यान् आविवेश।" इति अस्य मन्त्रस्य अविद्यमानवचनात् इति सूत्रात् निरर्थकत्वमाशंक्य "अभिधानार्थ-वाद" इति सूत्रे असतोऽप्यर्थस्याभिधाने योग्यस्य प्रामाण्यमुररीकृत्य प्रामाण्य-मवादि। यथा एवंविधं शाक्तं महः देवोत्पत्त्या न आविवेश। 'उ' निपातः पूरणार्थः। देवांश्च मनुष्यांश्च आविवेश। अनुकम्पार्हत्वेन तान् आविवेश। दैत्यान् व्यापादयितुं तन्मध्ये आविरभूदिति यावत्। तदानीं युद्धावसरसामग्र्यनुरूपं, यथा चत्वार उपायाः शृङ्गाणीव चत्वार्यादिषु सर्वत्र व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषा-मिति लिङ्गादेर्व्यत्ययः। उदयास्त्रयः पादाः आत्मवृद्धिः परज्यानि द्वे शीर्षे स्वाम्यादिप्रकृतयो हस्ता[ः] सः प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तिभिस्त्रिधा बद्धो जायत्वात्। धर्मेण भातीति वृषभः। रौति शब्दकर्मा दैत्यान् व्यापाद्यतां द्रागिति शब्दं कुर्वाणं, इत्यादिश्रुतिरपि शक्तिसद्भावे प्रमाणम्। "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इत्यत्रापि "विद्यैव सा भगवती परमा हि देवी"ति मार्कण्डेयवाक्यात्। विद्यारूपा भगवत्येव श्रुत्याऽभिधीयते। किं बहुना श्रुतिस्मृतीतिहास्य(स)पुराणलोकेष्वपि शक्तेरेव प्रभावातिशयः श्रूयते। अतस्तां प्रति संदिहाना 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' पुरुषापराधः स भवतीति न्यायादुपेक्षणीया। एवं सर्व-प्रमाणैकसमधिगम्या भगवती, वः युष्माकं अंहः पापं मुष्यादिति वाक्यार्थः सम्पन्न इति ॥१॥

स्वबुद्धितः स्वल्पमिहाद्य पद्ये किञ्चिन्मया व्याकरणं व्यधायि।
नान्तोऽस्ति सूक्तार्थविचारणीयाः संक्षेपतोऽतोऽभिदधे पदार्थान् ॥१॥

अज्ञातविद्वत्कृता संक्षिप्तव्याख्या

१. ॐ नमश्चण्डिकायै ॥ **मा भांक्षीरिति** ॥ अत्र मुष्यादिति क्रियापादेन सर्वजनानां पापहारः कथ्यते, मुष्यात् मुष्णातु हरतु वो युष्माकं अंहः पापं, कोऽसौ अङ्घ्रिश्चरणः, किं कुर्व्वन् संहरन्, कान् मरुदसुहृदसून्, किंभूतश्चरणः न्यस्तः निक्षिप्तः, क्व मूर्द्ध्नि शिरसि, कया देव्या भगवत्या, किं कुर्वत्या प्रापयन्त्या नयन्त्या इव, इव-शब्द उत्प्रेक्षायां, कांस्कान् प्रकृतिं पूर्वस्वरूपां शरीरावयवान्

उद्यत्कोपकेतून्, कोपे केतुः स्वस्य चिह्नं कोपकेतुः, उद्यत् आविर्भवत् कोपकेतुर्येषामिति विग्रहः, कथं प्रकृतिं अवयवान् प्रापयन्त्या इत्येवं पूर्वप्रकारेण, तदुच्यते, मा भांक्षीर्विभ्रमं भ्रूरित्यादि, अयं ना पुरुषो मायामहिषरूपः प्राण्येव, न च प्राणी, अत्र पक्षे एव शब्दः स्वयोगस्यावस्थापकः, यथा शङ्खः पाण्डुर एवेति अथवाक्षेपे न तु नायं प्राणी अन्यः कश्चिदपि तु; किमुक्तं भवति, जन्तुमात्रोऽयमस्मत्पदतलघातसाध्यः तत्किं युष्माभिरसमय एव वृथा कोपात् विकृतिरास्थीयते, स्वस्था भवन्तु, भवन्त्वत इत्यभिप्रायेण देवी स्वभ्रूप्रभृतीनवयवान् प्रत्येकमामन्त्र्य क्रियया युनक्ति, तद्यथा हे भ्रूः ! मा भांक्षीर्विभ्रमं, विभ्रमं भङ्गं मा कार्षीस्त्वम्; विभ्रमो हि भरतशास्त्रे विंशतिविधः लीलाभेद उत्कटः। अधर ! अधरोष्ठ ! विधुरता केयं, किमिदं वैधुर्यं प्रस्फुरणं, आस्य ! मुख ! रागत्वं अस्य क्षिप, पाणे ! हस्त ! कलहश्रद्धया कलहस्येच्छया किं त्रिशूलं आयुधविशेषं कलयसि इति ॥१॥

पूर्वस्मिन् पद्ये महिषस्य माहात्म्यातिशयं वर्णयित्वा साम्प्रतं[7b]भगवत्याः प्रभावप्राचुर्यं प्रकटयन् द्वितीयं श्लोकमवतारयति—

हुङ्कारे न्यक्कृतोदन्वति महति जिते शिञ्जितैर्नूपुरस्य,
श्लिष्यच्छृङ्गक्षतेऽपि क्षरदसृजि निजाऽलक्तकभ्रान्तिभाजि।
स्कन्धे विन्ध्याद्रिबुद्ध्या निकषति महिषस्याऽऽहितोऽसूनहार्षी-
दज्ञानादेव यस्याश्चरण इति शिवं सा शिवा[1] वः करोतु ॥२॥

कुं०वृ०—सा शिवा भवानी वः युष्माकं शिवं करोतु कल्याणं विदधातु। सा का, यस्याश्चरण एव महिषस्याऽसून् प्राणान् अहार्षीत् जहार। एवकारोऽत्र साधनान्तरव्यावृत्त्यर्थः। मह्यां शेते इति महिषः, पृषोदरादित्वात् साधुः। कथं इति हेतुभिः अज्ञानात् स्कन्धे आहितः अर्थान्महिषस्य, कया, विन्ध्याद्रिबुद्ध्या विन्ध्यश्चासावद्रिश्च विन्ध्याद्रिः तस्य बुद्धिस्तया। अयं महिषस्कन्धो न विन्ध्याद्रिः अनेन स्कन्धस्य महत्त्वं देव्याश्च अनायासो द्योत्यते। इतीति किम्, महिषेण यो हुङ्कारो व्यधायि तस्मिन् नूपुरस्य शिञ्जितैर्जिते सति। कथम्भूते हुङ्कारे, 'न्यक्कृतोदन्वति' न्यक् नीचैः कृत उदन्वान् समुद्रो येन। "उदन्वान् उदधौ च" इति, उदन्भावो मतौ निपात्यते, उपचारवृत्त्या उदन्वत् घोषोऽपि तच्छब्देनोच्यते। अत्र शब्दस्य मुख्यलाक्षणिकव्यञ्जकत्वेन त्रैविध्ये लक्ष्याश्रितत्वाल्लक्षणाव्यापारवत्त्वाच्च लाक्षणिकत्वम्। 'लक्ष्यलक्षकस्य लाक्षणिकस्य लक्षनिष्ठो व्यापारो

---

१. शिवं, इति प्रतौ।

लक्षावगमनशक्तिलक्षणारूढेः प्रयोजनाद् वा मुख्यार्थबाधे तदासन्नत्वे च यत्राऽपरोऽर्थो लक्ष्यते सा लक्षणा'। मुख्यार्थबाधोऽनुपपत्तरनुपयोगाच्च। तत्र मुख्यार्थासन्नत्वं पञ्चधा। तदुक्तम्—

अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥

अत्र अभिधेयं मुख्यार्थः, तेन सह सम्बन्धो यथा न्यक्कृतोदन्वतीति अत्र उदन्वच्छब्दाभिधेयस्य मेघस्य घोषरूपतानुपपत्तेर्मुख्यार्थबाधे योऽयं जन्यजनकभावात्मा सम्बन्धः तदाश्रयणेन उदन्वच्छब्दो घोषं लक्षयति। उदन्वदेकार्थसमवेतगाम्भीर्यमहत्त्वदुराकलनीयत्वादिप्रतिपादनं प्रयोजनं व्यङ्ग्यम्। न हि तद् गाम्भीर्या(र्यं) उदन्वन्नादरत्यादिशब्दान्तरैः स्पष्टं शक्यते। पुनः किम्भूते हुङ्कारे, महति अत एव समुद्रघोषयग्रौचितं(स्यौचित्यम्), अन्यच्च, 'क्षरदसृजि श्लिष्यच्छृङ्गक्षतेऽपि निजालक्तकभ्रान्तिभाजि' सति, 'अपि'-शब्दो हेत्वन्तरपरिग्रहार्थः। क्षरत् स्रवत् असृग् रुधिरं यस्मात्तत्तथा तस्मिन्। श्लिष्यत् घर्षत् शृङ्गं यत्र तत् श्लिष्यच्छृङ्गं, श्लिष्यच्छृङ्गं च तत् क्षतञ्च व्रणं तत्तथा तस्मिन्। निजश्चासावलक्तकश्च निजालक्तकः तस्य भ्रान्तिः तां भजति इति निजालक्तकभ्रान्तिभाक् तस्मिन् निजालक्तकभ्रान्तिभाजि सति, इत्युक्तं भवति; प्रहारवशात् महिषस्कन्धे क्षरद्रक्तं क्षतं विद्यते, श्लिष्यच्छृङ्गवशात् तस्मिन् रक्ते परितो विलुलिते सति, देव्या मच्चरणालक्तकोऽयं विन्ध्ये लग्न इति भ्रान्तिरासीत् न तु महिषबुद्धिः। रोषाकुलितेन मनसा पुरोऽपि न दृष्टः।

ननु कथं देव्या इयती भ्रान्तिर्यत् समीपवर्त्यपि न दृष्टः? उच्यते, मनोऽनवस्थानात् सन्नर्थो न दृश्यते, अष्टधार्यानुपलब्धेः[8a]। तदुक्तम्—

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातात्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च॥ इति,

अन्यच्च, किम्भूते स्कन्धे, निकषति सति, निकषो नाम सुवर्णपरीक्षाऽश्मा, 'निकषो हेमलेखे' ति प्रसिद्धेः। निकष इवाचरतीति निकषति, निकषतीति निकषन् तस्मिन्निकषति। किमुक्तं भवति, महिषस्य कृष्णे स्कन्धे रक्तिमवशान्निकषोपमा। न्यक्कृतोदन्वतीत्यत्रातिशयोक्तिरलङ्कारः। निजालक्तकेत्यत्र भ्रान्तिमानलङ्कारः। निकषतीत्यत्रेवादेर्लोपे समासे सति उपमा। अत्र तु भ्रान्तिमानुत्प्रेक्षा। उपमया प्रादुर्भूतं तदाश्रयेण भ्रान्तिमाने च सचेतसां चमत्कृतिनिमित्तमित्येतयोरङ्गाङ्गिभावात् सङ्करः॥२॥

सं० व्या०—२. हुङ्कारे इति ॥ सा शिवा शिवपत्नी वो युष्माकं शिवं श्रेयः करोतु विदधातु इत्येवं अज्ञानादज्ञानत एव यस्याः चरणोऽङ्घ्रिर्महिषस्यासून् प्राणानहार्षीत् हतवान्। किंभूतश्चरणः स्कन्धन्यस्तः, कया विन्ध्याद्रिबुद्ध्या विन्ध्यश्चासौ अद्रिश्च [तद्बुद्ध्या] विन्ध्याद्रिबुद्ध्या, कोऽर्थः विन्ध्योऽयं पर्वतः अस्मिन्निवासः [कर्तव्यः] इति बुद्ध्या धिया स्कन्धे न्यस्तोऽङ्घ्रिरिति अत एव महिषस्याज्ञानम्; किं कुर्व्वति स्कन्धे निकषति निकर्षणं कुर्वति, कया विन्ध्याद्रिबुद्ध्या, शा(श्या)मत्वात् देवीपादस्य तं प्रति महिषस्यापि विन्ध्याद्रिबुद्धिरुत्पन्नेति, यतश्च निकषतीत्युक्तं अत एव निकर्षणेन वालनेन नूपुरस्य पादाभरणस्यापि सिं(शिं)-जितैः शब्दितैः महिषस्य हुङ्कारे नुदति युद्धाय प्रेरयति जिते सतीत्युक्तम्। कीदृशे हुङ्कारे न्यक्कृतोदन्वति न्यक्कृत उदन्वान् उदन्वद्घोषो येनेति विग्रहः, किमुक्तं भवति न्यक्कृतसमुद्रघोषो युद्धाय नुदन्नपि महिषहुङ्कारो नूपुरशिञ्जितैर्जितत्वात् देव्या नवमद्रितश्च हेतौ महिषस्य अज्ञानमन्यथापीत्याह 'श्लिष्यच्छृङ्गक्षतेऽपि क्षरदसृजि निजालक्तकभ्रान्तिभाजि' इति, श्लिष्यत् शृङ्गं तस्य क्षतं व्रणं श्लिष्यच्छृङ्गक्षतं क्षरदसृक् [प्रसरत्] रुधिरं क्षरदसृक् निजश्चासावलक्तकश्च निजालक्तकः तस्य भ्रान्तिस्तां भजतीति निजालक्तकभ्रान्तिभाक् तस्मिन् श्लिष्यच्छृङ्गक्षतेऽपि क्षरदसृजि निजालक्तकभ्रान्तिभाजि सति देव्या महिषस्याज्ञानमपि एवमुपन्यस्तहेतुत्रयादज्ञानं संवृत्तं तत एव तस्याश्चरणो महिषस्यासून् अहार्षीत् इति समुदायार्थः ॥२।

पूर्वस्मिन् श्लोके साधनान्तरनिरपेक्षेण चरणेनैव महिषस्य प्राणवियोजनं वर्णितम्। सा स्तुतिर्भूतार्थवादो वेति विकल्प्य भूतार्थवाद एवायमिति द्रढयन् उपश्लोकयति—

जाह्नव्या या न जाताऽनुनयपरहरक्षिप्तया[1] क्षालयन्त्या
नूनं नो नूपुरेण ग्लपितशशिरुचा ज्योत्स्नया वा नखानाम्।
तां शोभामादधाना जयति नवमिवालक्तकं पीडयित्वा
पादेनैव क्षिपन्ती महिषमसुरसादाननिःकार्यमार्या ॥३॥

कुं० वृ०—आर्या भवानी जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते। किं कुर्वती, महिषं पादेनैव क्षिपन्ती। किं कृत्वा, पीडयित्वा विमृद्य। कमिव, नवं अलक्तकमिव। कथं यथा भवति, असुरसादाननिःकार्यं यथा भवति, असव एव रसोऽसुरसः तस्या-

---

१ का०-जातानवमपुरहरक्षिप्तया।

ऽऽदानं ग्रहणं, असुरसादानेन निःकार्यं यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात्, निर्गतः कार्यात् निःकार्यः अनादेयः, क्रियाविशेषणं महिषविशेषणं वा । निर्गतः कार्यान्निः-कार्यः, असुरसादानेन निःकार्यः असुरसादाननिःकार्यस्तं असुरसादाननिःकार्यम् । अत्र विशेषणस्य विशेष्ये गुणाधानहेतुत्वात् क्षेपणक्रियायाः कश्चन गुणोऽसुरसादान-निःकार्यरूपेण विशेषणेन नाधीयते ।

पूर्वत्राऽपरतोषो वा विषयव्याप्तिरेव वा ।
सर्वव्याख्याविकल्पानां द्वयमिष्टं प्रयोजनम् ।।

इति कृत्वा तत्र गुणाधानदर्शनात् । तद्विशेषणतापक्षस्तूपक्षेपः ।

ननु लोकोत्तरवीर्यस्य महिषस्य पादेन क्षेपोऽनौचित्यमावहतीति कथमुक्तं पादेनैव क्षिपन्तीति, मैवं वादीः । यथा अलक्तकं तत्सारभूतं रसमादाय अवकर-रूपा लाक्षा निरस्यते तथा सारभूतान् प्राणान् आदाय निर्यासकल्पस्य निरसन-मेवोचितमिति कवेरभिसन्धिः । प्राणानां सारभूतता च शतपथश्रुतौ "इन्द्रियाणां स्वस्वप्राधान्याभिमानसंवादे चक्षुराद्युत्क्रमणक्रमेण यदा प्राणा उदक्रामन् तदा तैर्विना सर्वेषामवकरप्रायत्वात्" प्रत्यपादि ।

किं कुर्वाणा भगवती, तां शोभामादधाना । क्व, अर्थाच्चरणयोः । 'तां' इति सर्वनाम्नः प्रसिद्धपरामर्शः प्रकृतानुसन्धानं चेति व्यापारद्वैविध्यात्, कामित्य-पेक्षायां प्रकृतमनुसंदधाति । या शोभा भगवत्याश्चर[4b]णयोः जाह्नव्या न जाता । कथम्भूतया जाह्नव्या, अनुनयपरहरक्षिप्तया, अनुनयनमनुनयः, अनुनय एव परं साध्यं यस्य स अनुनयपरः, स चासौ हरश्च तेन क्षिप्ता तया । अत्र हरक्षिप्तयेति "कर्तृकरणे कृता बहुलम्" इति समासो हरस्य सर्वोत्कृष्टत्वेन कमपि प्रभावातिशयं दर्शयति, न गङ्गायाः । अथ चैवं व्याख्याने हरतीति हर इति सर्वोऽपि यस्माद् बिभेति सोऽपि अनुनयपरः, इति । हरानुनयवशाद् यद् भगवत्याः सौभाग्यातिशयकथनं तद् हरस्य समासे निमीलितम् । हरेण क्षिप्तयेति भवितव्यम् । हरस्य प्राधान्ये विवक्षिते क्षिप्तया सह समासे विधेयाऽनूद्य यो विपर्यासे न्यग्भावः कृतः स चाऽयुक्तः । तथा चोक्तम्—

पदमेकमनेकं वा यद्विधेयार्थमागतम् ।
न तत्समासमन्येन न चाप्यन्योन्यमर्हति ।।१।।

तस्मादस्मादृशां महाकविप्रयोगा अविचारणीया इति । न पौरो भाग्यमा-सेव्यते । किं कुर्वत्या जाह्नव्या, क्षालयन्त्या अर्थात् देव्याश्चरणौ, रक्ते वस्तुनि शुभ्रधौते काऽप्यभिख्या भवति, अयमाशयः, स्त्रीणां सौभाग्यस्य एतावत्येव परा-काष्ठा यत् सपत्नीसन्निधौ भर्त्ता चरणयोः पतति । तत्रापि च सपत्नीमपि

पातयति । अत्रापि च साऽपि तच्चरणक्षालनं करोति । अनु च, नूनं निश्चितं नूपुरेण अपि या शोभा न जाता, अनु च, नखानां ज्योत्स्नया च शोभा न जाता नोत्पन्ना । किंविशिष्टेन त्रयेण, ग्लपितशशिरुचा, ग्लपिता ग्लानिं प्रापिता शशिनो रुक् कान्तिर्यया येन यया च, शुभ्रत्वादेतत्त्रयस्यापि विशेषणम् । भिन्न-लिङ्गविशेषात् श्लेषोऽपि, अद्भुतता च । एतदुक्तं भवति, तदानीं कृष्णेनाऽपि महिषेण चरणाग्रलग्नेन या शोभा जाता सा अत्युज्ज्वलेनापि तत्त्रयेण न जातेत्यर्थः । एकेनापि कृतं कथं हेतुत्रयमुपात्तं, तद्विवरणं पूर्वं पीडनसमये पाद-तले लग्नः ततोऽतिरभसतो निरसनायोत्पातितो नूपुरदेशमागतः, पश्चात्पतन्न-खाग्रलग्नः । एवं च स्थानत्रयसंस्पर्शाद्धेतुत्रयस्य साधकतेति ।

अत्र न जाता इत्यस्य पदस्य एकत्रस्थस्यैव समस्तवाक्यदीपनात् दीपनकम् । अलक्तकमिवेत्यत्रोपमा । अत्रोत्साहस्थायिभावाद्वीरे प्रस्तुते रतेरुद्दीपनेन शृङ्गारस्य परितोषं नीतत्वादनौचित्यमिव प्रतिभाति । प्रकरणवर्तिनो वीरस्य शृङ्गारेण न्यग्भावं गमितस्य प्रधानरससम्बन्धनानि(दि)कमनौचित्यमेव, तदुक्तमानन्दवर्द्धनेन—

विरोधी वाऽविरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे ।
परितोषं न नेतव्यस्तेन स्यादविरोधिता ॥ इति,

तदेवाऽत्र वैपरीत्येनोपलभ्यते । मुख्यो वीरो रसः । प्राप्तिपर्यन्तव्याप्तिशायी जाह्नव्येत्यादिशृङ्गाररसपोषेण विरसतां नीतः ! अवरुद्धोऽपि परपुष्टो विरुद्धता-मावहति । विरुद्धवर्णनोदिते नह्यनौचित्येन स्थायी कुञ्जर इव स्वभ्रपातितः पुनरुत्थातुं नोत्सहते इति, अलमिति विस्तरेण । अत्रार्थे महिम्नः सम्मतिः—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्र[9a]ह्वौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परे ॥ इति,

अनया दिशा रससङ्करभेदप्रपञ्चौचित्यं विपश्चिद्भिः स्वयं विचार्यम् ॥३॥

सं० व्या०—आर्या देवी जयति, किं कुर्व्वती क्षिपन्ती, कं महिषं, कमिव नव-मिव अलक्तकं, किं कृत्वा पीडयित्वा पादेन क्षिपन्त्यपि पादेनैव अत एव एवकारो-ऽत्र युक्तः, किं रूपं असुरसादाननिःकार्यं, असवो रसस्तस्यादानं ग्रहणं तेन निःकार्यं निःप्रयोजनं एतदुक्तं भवति यथा अलक्तकं पीडयित्वा रसमादाय कश्चित् क्षिपति एवं देवी रसभूतान् प्राणान् गृहीत्वा महिषं क्षिपन्ती, पुनरपि किं कुर्व्वाणा आर्या जयति आदधाना धारयन्ती तां शोभां पीडयित्वा अलक्तकाद् रसादाने या रक्तत्वलक्षणा भवति किन्तु अलक्तकरसेन कृत्रिमा शोभा इयं तु स्वाभाविकी चरणस्य, अत एव जाह्नव्येत्यादि—जाह्नव्या गङ्गया अरुणत्वलक्षणा शोभा न

जाता न तता, किंभूतया जाह्नव्या अनुनयपरहरक्षिप्तया, अनुनयनं अनुनयः प्रसादनं तस्मिन् परः स चासौ हरश्च तेन निक्षिप्तया, इदमुक्तं भवति पादयोः पतनेन शिरश्चुम्बितया, किं कुर्व्वत्या क्षालयन्त्या प्रक्षालयन्त्येति नूनं नूपुरेण ग्लपितशशिरुचा, ग्लपिता शशिनः रुक् चन्द्रकान्तिरधिकप्रबलेन येन स ग्लपितशशिरुक्, नूपुरेण नूनं निश्चितं नो जाता या शोभते ज्योत्स्नया वा नखानां चन्द्रिकया वा शोभा न जाता तां आदधाना इति सम्बन्धः, ग्लपितशशिरुचेति विशेषणं जाह्नव्या ज्योत्स्नया च योजनीयमिति ॥३॥

मृत्योस्तुल्यं[1] त्रिलोकीं ग्रसितुमतिरसा[न्]निःसृताः किं नु जिह्वाः
किं वा कृष्णांह्रिपद्मद्युतिभिररुणिता विष्णुपद्याः पदव्यः ।
प्राप्ताः सन्ध्याः स्मरारेः स्वयमुत नुतिभिस्तिस्र इत्यूह्यमाना
देवैर्देवीत्रिशूलक्षतमहिषजुषो रक्तधारा जयन्ति ॥४॥

कुं०वृ०—जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते, कास्ताः, रक्तधाराः रक्तस्य धारा रक्तधाराः, ऊर्ध्वं निःसृताः, "धारा कारा रुधिरस्य प्रवाहा" इत्यर्थः । गुरोर्द्रव्यस्य अधोगामित्वमतिक्रम्य ऊर्ध्वगमनात् जगदानन्दहेतुत्वाच्च लोकोत्तरस्वरूपा जयन्तीत्युक्तम् । कतिसंख्याकाः, तिस्रः इति । किम्भूताः, देवीत्रिशूलाहतमहिषजुषः, देव्याः त्रिशूलं देवीत्रिशूलं तेनाहतो देवीत्रिशूलाहतः, स चासौ महिषश्च देवीत्रिशूलाहतमहिषः तं जुषन्तीति तास्तथा । किंभूताः, देवैरित्यूह्यमानाः, उत्प्रेक्षमाणाः । इतीति किम्, 'नु' वितर्के, एता मृत्योः तिस्रो जिह्वाः । किंभूताः, अतिरसात् अतीवग्रसनाभिलाषात् तुल्यमेककालं त्रिलोकीं ग्रसितुं निर्गताः निःसृताः । त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी ताम् । ननु मृत्योरेकजिह्वत्वात् तिस्रो जिह्वा इति कथं, उच्यते—पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं चेत्यनुमानस्य त्रैविध्यात्, वृष्टेर्मेघोन्नतिवत् । क्वचित्कार्यानुरूपं कारणमनुमीयते, यावत्कार्यमारब्धं तावतैव कारणेन भवितव्यम् । अतस्त्रिलोकीं ग्रसितुं देवानां कामरूपत्वात् जिह्वात्रयकारणमौचितीमावहति । पुनः का इव, विष्णुपद्याः गंगायास्तिस्रः पदव्यः मार्गाः किं वा इवार्थे । ननु विष्णुपद्या शुभ्रया कथमुपमीयन्ते रक्तधाराः ? अतो हेतुगर्भं विशेषणमाह—'कृष्णांह्रिपद्मद्युतिभिररुणिताः, अंह्री पद्मे इव अंह्रिपद्मे तयोर्द्युतयस्ताभिः अरुणिताः अरुणीकृताः । तत्करोतीति णिच् । अथ अंह्री एव पद्मे इति रूपकालङ्कारो वा । पुनः का इव, उत इति वितर्के, स्मरारेर्नुतिभिः स्वयं

---

१ तुर्यं, इति प्रतौ ।

प्राप्तास्तिस्रः सन्ध्या इव । कदाचित् किल कार्यान्तरव्यासङ्गेन सन्ध्यालोपे प्रबुद्धेन परमेश्वरेण स्तुतास्तिस्रोऽपि सन्ध्या जगदप्यरुणीकृत्य युगपन्मूर्त्तिमत्य-उपतस्थिरे परमेश्वरं, अत एव स्मरारिग्रहणं स्मरवदस्य नापि भस्मसान्मा कार्षीत्। शूलस्यातिवेगित्वात् प्रहारमदृष्ट्वा सामि निःसृता धारा दृष्ट्वा महिषभीतैः सुरै-र्यमजिह्वाभिरुत्प्रेक्षिताः पश्चाद् दीर्घीभूताः, प्रहारे च दृष्टे स्वास्थ्यमितैर्विष्णुपदी पदवीभिः, ततो बाहुल्यमितो जगद्व्यापिनीभिः सन्ध्याभिरिति कवेरभिप्रायः। अत्र—

"अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेत् तस्येतरस्य वा ।
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्बुधाः ।" इत्युत्प्रेक्षालङ्कारः ।

अत्र देव्यास्त्रिशूलस्य च प्राधान्यात् उभयस्यापि यत्समासेन प्राधान्यमस्तं नीतं तन्न जाघट्टि[9b] इदमत्र तात्पर्यम्—यत् कथञ्चिदपि प्रधानतया विवक्षितं न तन्नियमेनेतरेण सह समासमर्हतीति, इतरच्च विशेष्यमन्यद्वा वस्तु न तत्र नियमः। अन्यच्च, रक्तस्य धारा रक्तधारा इत्यत्रापि च षष्ठीत्यनेन विहितः समासः, षष्ठ्यन्तस्य पदान्तरेण समासो वाऽनुपपन्नः, यतः सर्वेषामेव समासानां विशेष्याणि विशेषणानि चाभिधातुं शीलानि यानि पदानि तैर्निष्पादितशरीरत्वं नाम सामान्यं लक्षणं विशेषणविशेष्याणामेव समासः । अन्यथा समर्थतानुपपत्तेः "समर्थः पदविधिः" इति परिभाषणात्। सामर्थ्याभावात् समास एव न स्यात्। विशेषणविशेष्यभावस्य च समानाधिकरणव्यधिकरणभेदभिन्नत्वेन द्वैविध्यं, समानाधिकरणत्वं तु नीलोत्पलमत्र तु नीलशब्दस्य गुणस्य गुणनिवृत्तेः। वैयधि-करण्यं तु कष्टश्रितं इत्यत्र ग्रामादि यत् किञ्चनाश्रयणव्यावर्त्तनाद् विशेषणत्वम्, एतेन यदेव समानाधिकरणव्यधिकरणयोर्व्यावर्त्तकत्वेन प्रतीयते तदेव विशेषणं, एतावता सम्बन्धो नाम समासार्थः। स च सम्बन्धिनं विना च सम्बोभवीति, इति कृत्वा समसितपदस्य नीलगुणविशिष्टमुत्पलं वाच्योऽर्थः।

ननु "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" इति विशेषणविशेष्यपादोपादानादेवा-ऽन्यत्र तु समासे कष्टादेर्विशेषणत्वं श्रितादेर्विशेष्यत्वं च नास्तीति अवगच्छामो यतोऽलक्षणपदानां अतिव्याप्तिनिवारकत्वं प्रसिद्धं, सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणमनर्थवद् भवतीति वचनात्। अन्यथा, कष्टश्रितादावपि विशेषणसमास-एव स्यात्। तत्कथं सर्वेषामेव विशेषणविशेष्यपदो[:] परिचितत्वं;उच्यते—विशेषण-समासः सामान्यरूपः, अन्ये विशेषरूपाः। तत्र सर्वत्र सामान्यप्रवृत्तौ यत्र यत्र विशेषणबाधस्तं तं विषयं परित्यज्य प्रवृत्तौ यत्रैवाबाधित्वं तत्रैव लक्षणस्य चरि-तार्थत्वम्। तथा च, द्वितीयादिषु व्यधिकरणेषु तत्पुरुषविधानात् अव्ययीभाव-

विधानाच्च समानाधिकरणेष्वपि विशेषणेषु अन्यस्य पदार्थस्यार्थे वर्त्तमानेषु बहुव्रीहिविधानात्, संख्यायां विशेषणभूतायां समाहारे च द्विगोर्विधानात्, नञ्विशेषणे पर्युदासे नञ्समासविधानात्, तद्व्यतिरिक्ते प्रथमान्ते समानाधिकरणे विशेषणे कर्मधारयसमासः। अत एवाचार्येण 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यत्र विशेषणपदानुपादानेऽपि सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहावित्यत्र विशेषणपदोपादानं कृतं, तत्पुरुषः समानाधिकरणः, कर्मधारय इत्यत्र विशेषणवान् इत्येव सिद्धे समानाधिकरणपदप्रयोगः कृत इति। सर्वेषां समासानां विशेष-विशेषण-विशेष्यपदरचितत्वमवगम्यते। अतएव चेह भूतले घटो नास्तीत्यादौ भूतलादेर्व्यधिकरणस्यापि विशेषणत्वमुपगतं वृद्धैः। इयांस्तु विशेषः, समानाधिकरणे नीलोत्पलादौ केवलस्योत्पलशब्दस्य प्रयोगेपि गुणिनो गुणाऽव्यभिचाराद् रक्तादौ गुणे प्राप्ते तद्व्यावृत्तेर्मुख्यत्वेन नीलादिपदप्रयोगः। स्वरूपप्रतिपत्तिस्तु आनुषङ्गिकी, कष्टादौ तु मुख्यत्वेन स्वरूपप्रतिप [10a]त्तिः स्वरूपस्येतरव्यावृत्तिरूपत्वात्। व्यावृत्तकत्वं तदभिप्रायेणाचार्यस्य समानाधिकरणे विशेषणपदप्रयोगः, इत्यलमन्यार्थप्रवृत्तेनान्यार्थसंरंभेणेति, व्याकरणं चर्चयति संक्षिप्य किञ्चिदुच्यते—

अत्र समासे बहुव्रीहौ द्वे पदे बहूनि वा पदानि परस्परं विशेषणविशेष्यभूतान्यपि समासपदेभ्यः पृथग्भूतस्य पदस्यार्थे विषये विशेषणविशेष्यभावं भजन्तीति न तद्गुणसंविज्ञानेऽपि नाऽव्याप्तिः। अयमर्थः—नीलोत्पलादौ उत्तरपदार्थप्रधानत्वात् यथा नीलशब्दः स्वरूपप्रतिपादनपूर्वकं विशिष्टे वर्तते, उत्पलशब्दश्च रक्तादिव्यावृत्तं नीलगुणविशिष्टं स्वार्थं प्रतिपादयति। ततश्चोभयपदात्मकमेकं पदं उत्तरपदार्थप्राधान्येनोभयार्थवाचकं न तथा बहुव्रीहौ। अपितु, चित्रगुशब्दे चित्र-गो-शब्दाभ्यां व्यावर्त्तकव्यावर्त्तनीयाभ्यां विशिष्टं विहायि(य), विशिष्टवति वर्तनादन्यपदार्थविशेषणविशेष्यभावापत्तिः। ननु स्वार्थे अनेकमिति वचनात् द्वयोर्बहूनां वा बहुव्रीहिः, चित्रगुरिति द्विपदो बहुव्रीहिः, सवत्सचित्रगुरिति चतुःपदः, नाऽत्र बहुत्वस्य कपिञ्जलन्यायेन संकोचः, चतुर्णां पञ्चानामपि समासदर्शनात्। समानाधिकरणे एवं संख्याया विशेषणत्वम्। पञ्चपूलीत्यत्र समाहारे द्विगुः। यदा च नञर्थस्य विशेषणत्वं सोऽपि भिन्नः।

ननु कथं नञो विशेषणत्वं समानाधिकरणत्वं च, उच्यते—निषेधो हि नञर्थः स च प्रतियोगिनं विना निरूपयितुं अशक्यत्वादव्यवस्थितत्वाच्च प्रतिषेध्य धर्मस्य प्रतीयत इति निषेधो धर्मः। स च धर्मपदश्चेत् निषेधो घटस्येति समानाधिकरणत्वं, धर्मिपरत्वे तु नीलमुत्पलमितिवत् निषेधो घट इति सामान्याधिकरण्यं, अतश्च धर्मिपरत्वे नञो लुप्तप्रथमाविभक्तिकस्य स्वपदेनाऽविगृहीतस्याऽस्वेतरशब्देन

विगृहीतस्य पूर्वपदत्वं समानाधिकरणत्वं च तादृशस्याऽश्वशब्देन "नञ्" इत्यनेन सूत्रेण समासः। यद्यपि विशेषणसूत्रेणैव समासः सिद्ध्यति तथापि 'अव्ययं विभक्ती' ति नियमात् न सिद्ध्यति, इति सूत्रारम्भः। व्यधिकरणविशेषणविशेष्यभावः कर्म्मादीनां कारकाणां स्वस्वामिरूपस्य सम्बन्धस्य वैयधिकरणत्वेपि व्यावर्त्तकत्वाद् बहुप्रकारस्य तत्पुरुषस्य पन्थाः। यद्यपि कर्मधारयोऽपि तत्पुरुषविशेष एव तथाप्युपयुक्तं विशिष्टतत्पुरुषविषयमेतद्‌वचनं व्यधिकरणेऽपि यदा अव्ययार्थस्य विशेषणत्वम्। उपकुम्भमित्यत्रोपशब्दसमीपवाचिनोऽव्ययस्य कुम्भेन पदादिभ्यो व्यावर्त्तनीयत्वाद् विशेष्यता कुम्भस्य तु विशेषणत्वं, उपशब्दस्य तु उपसर्जनत्वं पूर्वनिपातार्थं पारिभाषिकं न तात्त्विकं; तात्त्विकं तु कुम्भपदस्यैव, द्वन्द्वे तु विशेषणविशेष्यभाव एव नास्ति, सर्वेषां समासपदानामितरव्यावर्त्तकत्वाभावात्, तस्मादेव युक्तेन प्रकारेण कर्मधारयादीनां समासानां द्वन्द्वविरहितानां विशेषणांशः पूर्वपदार्थः। अव्ययी[10b]भावे चोत्तरपदार्थः, तद्विपरीतश्च विशेषांशः तदुभयपदस्य प्रतिपादकत्वे स्थिते यदि विशेषणांशः स्वाश्रयस्य विशेष्यं सस्योत्कर्षापणद्वाराद् वाक्यार्थं च, नमस्कारो विशिष्टार्थलाभात् चित्तस्योल्लासः, स च चित्तधर्मो रसाविर्भावहेतुः। तस्य कारणत्वं तेनैवाप्रधानस्यापि प्रधानत्वेन विवक्षा, न तु तत्वं तस्याविषयीभूतो विधेयधुरां प्राप्नुयात्। विशेष्यांशस्तु अनूद्य सदृशत्वेन न्यग्भावमिव न तु उपसर्ज्जनत्वमेव प्राप्नोति। तदासौ विशेषणांशो न समासस्य विषयो लक्षणप्राप्तिरस्तीत्येतावता रसप्रतिपादनपदवाक्येन युक्तः। यतः समासे स प्रधानोपसर्ज्जनभावो विशेषणविशेष्यांशयोरस्तं प्राप्नुयात् तद्विशेषणमेकमनेकं वा विधेयत्वेन विवक्षितम्। अस्तु, न भेदः कश्चिदिति। ननु विशेषणं व्यवच्छेदकं तच्च व्यवच्छेद्यस्य गुणीभूतं विधेयत्वं च प्रधानत्वं वक्तुर्हि विवक्षाप्रधाने भवति, तदङ्गत्वेन विशेषणमाकांक्षावशात्परापतति तत्कथमेकत्र पदे तयोः समावेशः? एकत्र प्रदेशे एकस्य पदार्थस्य भावाभावयोरिव अन्योन्यविरोधे एकस्य स्थितावितराऽवस्थितिः कथमुपपद्यत इति। येनैकत्रोत्कर्षाधानद्वारा विधेये विशेषणे नैयत्येन समासनिषेधः। अन्यत्र स्वरूपपरे विशेषणे विकल्पः, नैष दोषः, विरोधस्योभयवस्तुनिष्ठत्वात् सम्बन्धवत्। यथा एकत्र जलादौ शीतत्वेन सहोष्णत्वं नावतिष्ठते न च सत्यत्वमुभयोः संभवति। सत्ययोर्हि शीतत्वोष्णत्वयोर्विरोधो न तु सत्यासत्ययोः। यथा विरहिणा परिकल्पितस्य शशिनि संतापस्य तदीयेन शीतत्वेन विरोधः, यथा वा मृगतृष्णिका घर्मसंतापस्य कल्पितेन जलशीतत्वेन विरोधः; एवमिहापीति। एकस्य विशेषणस्य सत्यत्वात् विधेयस्य तु विवक्षितत्वेन सत्यत्वाभावात्। इच्छा हि अवस्तुन्यपि भवति, न हि सत्यं हस्तिनः कल्पना

केसरिणश्च कश्चिदन्योन्यं विरोधमवगच्छति। अनयोश्च विशेषणत्वविधेयत्वयोः सत्यासत्ययोः फलभेदो निर्विवादः। विशेषणस्य सकलजगदगम्यं शब्दो हि साध्यत्वेन प्रयोजनं, येषां इदं विशेषणं समर्थं समासायेत्येव लक्षणं प्रवर्त्तयन्ति ये प्रवृत्ते च लक्षणे समासे जाते पूर्वोत्तरपदार्थयोः संबन्धमात्रं प्रतीयन्ते। यतस्तदेव फलं व्ययस्य (यद्यस्य) तु कतिपयसहृदयसंवेदनीयो विषयः। कालिदासादिसत्कविगोचरः प्रयोगविषयः वाक्यार्थस्य संबन्धस्य चमत्कारविशेषः। 'फलं राजपुरुष' इत्युक्ते राजसंबन्धमात्रं प्रतीयते, राज्ञः पुरुष इत्युक्ते उपसर्जनीभूतस्यापि प्रधानविवक्षया राजगताऽधृष्यत्वादिसंबंधातिशयः सहृदयानामुल्लसति। तथात्र काव्यमीमांसिषु प्राप्तमहिमा महिमा यदवीवदत्—

विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां　स्वदंतेऽर्थान्न　जातुचित्।
तदर्थमेव　कवयोऽलङ्कारान्　पर्युपासते ॥१॥
तौ　विधेयानुवाद्यत्वविवक्षैकनिबंधनौ।
सा　समासे　समायातीत्यसकृत्प्रतिपादितम् ॥२॥
अत एव हि वैदर्भी रीतिरेकैव शस्यते।
यतः　समाससंस्पर्शस्तत्र नैवोपपद्यते ॥३।
संबंधमात्रमर्थानां　समासो ह्यवबोधयेत्।
नोत्कर्षमपकर्षं[11a] वा वाक्यात्तूभयमप्यदः ॥४॥ इति

अत्र आचार्यः पाणिनिरपि 'वृषल्याः कामुक' इत्यत्र कामुकादिगताक्रोशप्रतिपत्तये समासेपि सति विभक्तौ सत्यामेवोत्कर्षापकर्षौ ज्ञायेते नान्यथा चमत्कारातिशय इत्येवमर्थं प्रकटयन् 'षष्ठ्या आक्रोशे' इति अलुकं प्रणीतवान्। एवं सति 'पुत्रेऽन्यतरस्या'मिति सोऽपि यदसूत्रयत्, यच्च लुक्पक्षे तत्स्वरूपमात्रपरमितिः अस्मादिगोचरः परं सूत्रारम्भप्रयोजनं स एव जानाति। ननु आचार्येण पाणिनिना एव समासरूपाऽनिष्टनिवृत्तये समासविधाने 'विशेषणं विशेष्येण बहुलमि'ति बहुलग्रहणं कुर्व्वता सर्वं निरधारि। तत्कृतमेतेन प्रधानत्वाप्रधानत्वनिरूपणेन मैवं वोचः समासस्य विधेः। अनु च, प्रधानत्वाप्रधानहेतोः प्रतिषेधस्योत्सर्गापवादत्वात् येषु समासेषु विभाषाग्रहणं तत्र विकल्पः, यत्र च नित्यग्रहणं तेषु तथा एवं च बहुलग्रहणस्य क्वचित् प्रवृत्तिरिति प्रदर्शितपक्षचतुष्टये विकल्परूपः पक्षो न भवति, व्यवस्थानियमाभावात्। व्यवस्थितत्त्वेऽपि पदव्यवस्थैव वा अर्थव्यवस्थैव वा उभयथाऽपि पक्षत्रयवैयर्थ्यम्। तथा च विभाषाग्रहणेनैव सिद्धं सिद्धे च बहुलग्रहणं कृतं, अन्यतरपक्षपरिग्रहणं निराकृत्य एकैकत्र पक्षचतुष्टयं परिगृह्णाति। तत्परिग्रहे तु अनैयत्यमेव तच्चानियतं कथं नियामकं स्यात्? अपवादस्तु

नियामकतो नोत्सर्गप्रवृत्तिरिति, एतावान् चेत् बहुलग्रहणस्य महिमा तर्हि शास्त्रादावेव बहुलग्रहणं कर्त्तव्यम्। येन सामान्यविशेषरूपशास्त्र निरूपणनिरपेक्षावेव विधिनिषेधौ स्याताम्। इत्यत्र तु प्रधानेतरभावपरिकल्पनेन समासो न कर्त्तव्य इति नियमः सिद्धयति। आचार्येणापि 'समर्थः पदविधिरि'ति परिभाषायां कुर्व्वताऽयमेव पक्षः कक्षीकृतः। एतस्य एव अयं प्रपञ्चः, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायात्। अत्रार्थे श्लोकौ—

विधेयोद्दिश्य भावोऽयं वक्तुं वृत्या न पार्यते।
यत्नेनाऽनभिधानं वा समर्थग्रहणं च वा।
कारणद्वयमेवेष्टं बहुलग्रहणं न तु।
अशक्यनियमो ह्यर्थो विषयस्तस्य नेतरः॥ इति,

तथा चोक्तं—

प्रकरणकक्वा सखो(द्यो) यस्यार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
इष्टार्थभंगभीतेः शब्दो न समासमर्हति।

सरति एवं स्थिते यदेतदिह पद्ये देवीत्रिशूलमिति, रक्तधारा इति च उदाहरणद्वयेऽपि विचार्यते। केवलधाराग्रहणे धारामात्रप्रतीतिः। रक्तग्रहणे तु तत्संबंधोऽपीति तदसंबंधव्यावृत्तिश्च प्रतीयते। उत देवीसंबंधेन त्रिशूलस्य माहात्म्यातिशयो रक्तसंबंधेन धाराणां रौद्रत्वातिरेकश्च। तत्र देवीसंबंधमात्रे प्रतीते तस्याऽन्यशूल इव प्रभावातिशयो निर्निबंधनः स्यात्। महेशादित्रिशूलेभ्यो वा स्वतंत्रेभ्यो व्यावृत्तस्य देवीकर्तृकं कमप्युपकारं अनासादयतो रक्तकर्तृकं वा। तथा माहात्म्यं वा न संभाव्यते रक्तस्य धारेति कर्त्तरि षष्ठी देवीसंबंधेन माहात्म्यं देव्या रक्तस्य च विशेषणभूत[11b]योः तदतिरेकपरिपोषपर्यवसायिमाहात्म्यातिशयाधाननिबंधनभावेन विधेयतया प्राधान्येन विवक्षितत्वात् न भवितव्यमेव समासेन, समासे वाऽस्य विध्यनुवादभावस्य निमज्जनादिति, तथा च महिमा—

यत्रोत्कर्षापकर्षौ वा विशेष्यस्य विशेषणात्।
तदेव वा विधेयं स्यात् समासस्तत्र नेष्यते।
अन्यत्र त्वर्थसंबंधमत्रैव वक्तुमभीप्सिते।
कामचारस्तदर्थं हि समर्थग्रहणं कृतम्।
न तु सापेक्षताद्यन्यदोषजापि निवृत्तये।

विधेयत्वे सति समासनिवृत्तय इति शेषः। एवं सति देवैः शूलेन देव्याहतमहिषजुषोऽस्रस्य धारा जयंतीति युक्तः पाठः॥४॥

सं० व्या०—४. मृत्योस्तुल्यमिति ॥ रक्तस्य धारा रक्तधाराः जयन्ति, कि-

विशिष्टा रक्तधाराः, देवीत्रिशूलाहतमहिषजुषो देव्यास्त्रिशूलं देवीत्रिशूलं तेनाहतः स चासौ महिषश्च तं जुषन्ते सेवन्ते इति देवीत्रिशूलाहतमहिषजुषः देवीत्रिशूलकृतछिद्रवाहिन्यो महिषस्य लग्नास्तिस्रो रक्तधारा रुधिरधारा इत्यर्थः, किं क्रियमाणास्ताः, देवी (वैः) इत्यूह्यमानाः वितर्क्यमानाः कथमिति तदुच्यते याम्यास्तुल्यमित्यादि, यमस्य मृत्योः कि (यन्ति ?) तिस्रो जिह्वाः निःसृताः निर्गताः अर्थान्मुखकुहरादिति, नु इति वितर्के किं कर्तुं ग्रसितुमतुलैस्त्रिलोकीं त्रैलोक्यं अतिरसात् अतिरागात् तुल्यमेककालं मृत्योः जिह्वात्रयं सम्भवत्येव देवानां कामरूपत्वादिति अदोषः, किं वा अथवा पदव्यस्तिस्रस्त्रयो मार्गाः, किंभूताः पदव्यः, विष्णुपद्याः विष्णुपदं आशुदृश्यमिति त्रिगृह्यपदमस्मिन् दृश्यमिति तद्विष्णोर्यत्, पुनरपि किंविशिष्टाः पदव्यः अरुणिताः अरुणीकृताः, काभिः कृष्णाङ्घ्रिपद्मद्युतिभिः हेतुभूताभिः, स्मरारेः कामशत्रोः शङ्करस्योत अथवा तिस्रः संध्याः प्राप्ताः स्वयमेव नुतिभिः सुभिः (स्तुतिभिः) इत्यर्थः ॥४॥

पूर्वस्मिन् पद्ये त्रिशूलेन महिषहननमनुचितमभिमन्यमानः पादस्यैव तद्धननसामर्थ्यं दर्शयन्नाह—

दत्ते दर्पात्प्रहारे सपदि पदभरोत्पिष्टदेहाऽवशिष्टां
श्लिष्टां शृंगस्य कोटिं महिषसुररिपोर्नूपुरग्रंथिसीम्नि ।
मुष्याद्वः कल्मषाणि[1] व्यतिकरविरतावाददानः कुमारो
मातुः प्रभ्रष्टलीलाकुवलयकलिकाकर्णपूरादरेण ॥५॥

कु. वृ.—कुमारः कार्तिकेयो वो युष्माकं कल्मषाणि पापानि मुष्यात् अपहरतु, नाशं नयतु । अत्र कुमारः कल्मषाणि मुष्यादित्यनेन कुमारस्य महिषशृंगकोटिग्रहणव्याजेन देवीकर्णपूरकुवलयकलिकादानकर्तृत्वाभ्युपगमे भगवत्या तावता कालेन महिषो व्यापादितः यावता सविधे स्थितेनापि कुमारेण तावान् व्यतिकर एव न ज्ञातः । क्षणादेव ध्वस्त इति परमेश्वर्याः सकलसमररसिकवीरशौर्यशौण्डीर्याति[2]शायिप्रयासराहित्यं भक्तानां पापं मुष्यादिति व्यज्यते, इति कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः, किम्भूतः कुमारः, महिषस्य शृंगकोटिं शृंगाग्रभागं आददानः गृह्णन्, केन मातुः पार्वत्याः प्रभ्रष्टलीलाकुवलयकलिकाकर्णपूरभ्रमेण, कुवलयस्य कलिका कुवलयकलिका, लीलायै कुवलयकलिका लीलाकुवलयकलिका सा चासौ कर्ण-

१. ज० का० किल्बिषाणि ।
२. शुण्डा गर्वो अस्ति अस्य ईरन्, स्वार्थे अण् गर्वान्विते (त्रिकाण्डशेषे धनञ्जये च)

पूरश्च लीलाकुवलयकलिकाकर्णपूरः, तस्य आदरस्तेन भ्रान्तिसमुत्थया श्रद्धयेति यावत् । कस्यां सत्यां, व्यतिकरविरतौ, व्यतिकरः संग्रामः तस्य विरतिर्विरामोऽवसानमिति यावत् तस्याम् । अत्र कलिकैव कर्णपूरः इति रूपकालङ्कारः । अन्यच्च, कुवलयकर्णपूर इत्येव सिद्धे कलिकाग्रहणं व्यर्थम् । कलिका चासौ कर्णपूरश्चेति लिंगानौचिती च मातुर्ग्रहणमस्थाननिक्षिप्तमिति । अस्थानस्थपदाख्यो दोषश्चापि मातुः कर्णपूर इति अर्थादेवाक्षिप्यते, महिषस्य कर्णपूराभावात् । मातृप्रभ्रष्टलीलेति पाठेन भवितव्यम् । तथा च, महाकवीनां रहस्यम्—

यतः समासो वृत्तं च वृत्तयः काकवस्तथा ।
वाचिकाभिनयात्मत्वाद्रसाभिव्यक्तिहेतवः ॥

तथा—

तस्माद्भिन्नपदार्थानां संबंधश्चेत्परस्परः ।
न विच्छेदान्तरा कार्यो रसभङ्गकरो हि सः ॥

इति विस्तरभीत्योपरम्यते । किंविशिष्टां शृंगस्य कोटिं, दर्प्पात् गर्व्वात् प्रहारे दत्ते सति, अर्थाच्चरणस्यैव सपदि तत्कालं पदभरोत्पिष्टदे[12a]हावशिष्टां, पदस्य भरः पदभरः गुरुत्वं तेन उत्पिष्टश्चूर्णीकृतः स चासौ देहश्च तस्मात् अवशिष्टा शेषा या सा तां; पुनः किंविशिष्टां, नूपुरग्रंथिसीम्नि श्लिष्टां नूपुरस्य ग्रंथिः नूपुरग्रंथिः तस्य सीमा संधिः तस्यां नूपुरग्रन्थिसीम्नि लग्नां, तदयं वाक्यार्थः संपन्नः । रणरसिकत्वेन शृंगाग्रेण नूपुरमुच्छेत्तुमिच्छोर्महिषस्य रोषात् पादप्रहारेण देहस्तथा वज्रनिष्पेषपिष्टो यथा नूपुरे लग्नशृंगाग्रमात्रावृते महिषस्य न किंचिदवशिष्टं, अणुमात्रमपि दृश्यं नाभूत् । एवं सति स्वस्थां परमेश्वरीमालोक्य लीलाकुवलयकलिकाभ्रांत्या नूपुरग्रंथिसीम्नि लग्नां शृंगकोटिमाददानः कुमारो वः पायादिति । अत्र महिषश्चासौ सुररिपुश्चेति महिषस्य सुररिपुरिति विशेषणं विशेष्येण बहुलमिति सूत्रार्थपर्यालोचनया समासस्यासिद्धत्वात् कथं कविना कृत इति तदभिप्रायमवगच्छद्भिर्विपश्चिद्भिः समासश्चिन्तनीयः । तादृशि व्यतिकरेऽपि स्वास्थ्यादतिशयोक्तिः । कुवलयकलिकायाः शृंगकोटिरुपमानोपमेयभावो व्यङ्ग्यः । वा शृंगकोटिः कुवलयकलिाकायै उत्प्रेक्ष्यते तामपेक्ष्य भ्रांतिमतः प्रादुर्भावः तस्यैवात्र प्राधान्यं अपि च वीरसमुपक्रम्य-शृंगारस्य प्रवृत्तिरिति कृत्वा तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिता इति रसाभासोऽवगन्तव्यः । उत्साहक्रोधयोः शांतिरपि यद्यपि वीरशृंगारयोः संकरो न विरुद्धः, तथापि परिपोषं न नेतव्यः इत्यावेदितं प्राक् दर्प्पादिति च यत् स्वपदेनोपादानं तदपि न सामंजस्यमारोहतीत्यलं प्राकृतजनमात्रस्य मम महाकविप्रयोगविचारेणेति । अत्र शब्दचित्रमेवालंकारतया व्यवस्थापनीयं किं बहुना ॥५॥

सं० व्या०—५. दत्ते दर्पादिति । कुमारः कार्तिकेयः मुष्यात् मुष्णातु वो युष्माकं किल्विषाणि पापानि, कि कुर्व्वन् आददानो गृह्णन् शृंगस्य कोटिं अग्रभागं व्यतिकरविरतौ महिषयुद्धलक्षणस्य व्यतिकरस्यावसाने केन हेतुना गृह्णन् तदुच्यते, मातुः प्रभ्रष्टलीलाकुवलयकलिका सा चासौ कर्णपूरश्च स कुवलयकलिकाकर्णपूरस्तस्य आदरेण श्रद्धया कुमारः शृंगस्य कोटिं दधानः इति सम्बन्धः; कस्य महिषसुररिपोः महिषश्चासौ सुररिपुश्चेति विग्रहः, किंविशिष्टां शृंङ्गस्य कोटिं पदभरोत्पिष्टदेहावशिष्टां दर्पात् दर्पेण प्रहारे दत्ते सति सपदि तत्क्षणं पदभरेणोत्पिष्टश्चूर्णितः स चासौ देहश्च, ततोऽवशिष्टामुद्धृतां, पुनरपि किंविशिष्टां श्लिष्टां संलग्नां, क्व नूपुरग्रन्थिसीम्नि नूपुरस्य या ग्रन्थिस्तस्याः सीम्नि सीमायामित्यर्थः ॥५॥

इदानीं ब्रह्मस्वरूपाया भवान्या यथाकथंचिदपि स्मरणं दर्शनं च सकलकलिमलापहारीति दुष्टस्यापि महिषस्य स्वर्गप्राप्तिद्वारेणाह—

शश्वद्विश्वोपकारप्रकृतिरविकृतिः साऽस्तु शांत्यै शिवा वो
यस्याः पादोपशल्ये त्रिदशरिपुपतिर्दूरदुष्टाशयोऽपि ।
नाके प्रापत् प्रतिष्ठामसकृदभिमुखो वादयन् शृंगकोटया
हत्वा कोरोन वीणामिव रणितमणिं मरडलीं नूपुरस्य ॥६॥

कु. वृ.—सा शिवा पार्व्वती वो युष्माकं शांत्यै शमसुखायास्तु भवतु । सा कथंभूता, शश्वत् अनवरतं विश्वोपकारप्रकृतिः, विश्वस्योपकारो विश्वोपकारः स एव प्रकृतिः स्वभावो यस्याः सा तथाऽथवा विश्वस्य जगतः उपकरोतीत्येवंशीला उपकारिणी; तथा, तथाविधा प्रकृतिः स्वभावो यस्याः सा तथाऽथवा विश्वोपकारिणी चासौ प्रकृतिश्च विश्वोपकारप्रकृतिः, गुणत्रयसाम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानमिति यावत् सापि महदादिस्व(स)र्गद्वारा संसारहेतुत्वात् आत्मपुरुषविवेकद्वारेण मोक्षहेतुत्वाच्च विश्वोपकारिणी भवति षोडशकविकारकार[12b]णत्वात् प्रकृतिरिव । तथा चोक्तं मदीये **दर्शनसंग्रहे**—

सत्वं रजस्तम इति गुणास्त्रय उदाहृताः ।
तत्साम्यावस्थितिर्नाम प्रधानं प्रकृतिस्तु सा ।

सैवाविकृतिराख्यातेति मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतयः सप्तेति; सप्तेति सप्तत्यामपि विकृतिशब्देन कार्यमुच्यते । सर्व्वस्य कारणत्वात् प्रकृतिः केनापि न क्रियते इति अविकृतिः । तथा च मार्कण्डेयपुराणे—

हेतुः समस्तजगतां त्रिगुणापि देवै-
न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा ।
सर्वाग्र(श्र)याऽखिलमिदं जगदंशभूत-
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या ।। इति,

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशक इत्यादि सप्तत्युक्तेश्च—

मैत्र्यादिचित्तपरिकर्म्मविदो विधाय,
क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः ।
ख्यातिं च सत्वपुरुषान्यतयाऽधिगम्य,
वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम् ।। इति,

माद्येपि(?) पुनः किंविशिष्टा, अविकृतिर्न विद्यते विकारो यस्याः सा तथा, तादृश्यपि व्यतिकरे विकारदर्शनात् यद् भगवत्या विश्वोपकारित्वं अविकारित्वं च उक्तं च तदेव दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावेन विशदयति। सा का यस्याः पादोपशल्ये चरणसमीपे दूरदुष्टाशयोऽपि अत्यन्तदुष्टचित्तोऽपि त्रिदशरिपुपतिः त्रयोदशकाः परिमाणमेषां ते त्रिदशाः, वा तिस्रो दशा वयोऽवस्था येषां त्रिदशाः, सर्व्वदा त्रिंशद्वर्षाः, त्रिदशानां देवानां रिपवः त्रिदशरिपवस्तेषां पतिः स तथा; नाके स्वर्गे प्रतिष्ठां स्थितिं प्रापत् लेभे; किं कुर्व्वन् सन् अभिमुखः सन्, शृंगाग्रकोट्या शृंगाग्रविभागेन नूपुरस्य मंडलीं असकृत् वारं वारं हत्वा वादयन् सशब्दां कुर्व्वन्, किंभूतां मंडलीं रणितमणिं रणिताः शब्दिता मणयो यस्यां सा तथा तां; कामिव, कोणेन वीणामिव, कोणो वीणादिवादनमिति । एतदुक्तं भवति । दुष्टाशयोऽपि महिषः रणाऽजिरेऽभिमुखः सन् नूपुरमंडलदेशे प्रहरन्नपि स्वर्गमाप । एतच्च परमेश्वर्याः कृपालुत्वम् । अनु च रणेऽभिमुखस्य मृतस्य स्वर्गित्वम् । अनु च नूपुरमंडल्या वीणोपमानेन पार्व्वत्याः पुरतः स्मृतिनोदितस्य वीणावादनस्य स्वर्गप्राप्तिहेतुत्वं च दर्शितम् । तथा च स्मरणं—

वीणावादनतत्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति । इति

वीणाया नूपुरमंडल्याश्चोपमानोपमेयभावादुपमालंकारः ।।६।।

सं० व्या०—६. शश्वदिति ।। शिवा भवानी वो युष्माकं शश्वत् नित्यं शान्तये अस्तु भवतु, किंविशिष्टा शश्वद्विश्वोपकारिप्रकृतिरविकृतिः विश्वस्य जगतः उपकर्तुं शीलं यस्याः सा तथाविधा प्रकृतिः स्वभावो यस्याः सा विश्वोपकारिप्रकृतिः, अविकृतिः न विद्यते विकृतिः विकारो यस्याः सा अविकृतिः, कथं विश्वोपकारिप्रकृतिरविकृतिश्चेत् इति दर्शयन्नाह-'यस्याः पादोपशल्ये' इति; यस्याः

देव्याः पादोपशल्ये पादस्याश्रये त्रिदशपतिरिपुः महिषः प्रापत् प्राप्तवान् प्रतिष्ठां स्थितिं, क्व नाके स्वर्गे अमररिपूणां दानवानां पतिरधिदेवत्वं प्राप्नोति यत्पाद-वधप्रभावादित्यर्थः; किंभूतस्त्रिदशपतिरिपुः दूरदुष्टाशयोपि दूरमत्यर्थं दुष्ट आशयश्चित्तं यस्य सः तादृशोऽपि अत एव विश्वोपकारिप्रकृतिरविकृतिर्देवीत्यर्थः, किं कुर्वन् नाके प्रतिष्ठां प्राप; वादयन् मण्डलीं नूपुरस्य, किं कृत्वा हत्वा, कया कोटचा शृंगस्य शृंगाग्रताभागेन, कथंभूता मण्डली नूपुरस्य रणितमणिः रणिता मणयो यस्याः सा रणितमणिः तां तथोक्तां, कामिव केन वादयन् वीणामिव कोणेन वादयन् दण्डेन, किमुक्तं भवति शृंगकोट्या हत्वा नूपुरमण्डलीं रणितवीणामिव कलुषचित्ततया वादयन् महिषोऽबाधितत्वात् नाके प्रतिष्ठां प्राप इति परमार्थः, भावार्थस्तु यः किल देवीपादोपशल्ये वीणां वादयति स मृतः स्वर्गं प्राप्नोति ।।६।।

प्रथमश्लोके परमेश्वर्याः ब्रह्मस्वरूपत्वं निरूप्य साम्प्रतं पुनर्लौकिकव्यवहारोचितं वीर्यातिशयं निरूपयन्नाह—

निष्ठ्यूतोऽङ्गुष्ठकोटया नखशिखरहतः पार्ष्णिनिर्यातसारो
　गर्भे दर्भाग्रसूचीलघुरिव गणितो नोपसर्प्पन्समीपम् ।
नाभौ वक्त्रं प्रविष्टाकृतिविकृति यया पादपातेन कृत्वा
　दैत्याधीशो विनाशं रणभुवि गमितः साऽस्तु शांत्यै शिवा वः ।।७।।

कुं० वृ०—सा शिवा कल्याणनिधानं वो युष्माकं शांत्यै शम-सुखायाऽस्तु भवतु यया रणभुवि संग्रामभूमौ दैत्यानामधीशो महिषो विनाशं गमितः प्राणैर्वियोजितः । किं कुर्व्वन्, समीपमुपसर्प्पन्, केन पादपातेन चरण[13a]प्रहारेण, किं कृत्वा, नाभौ नाभिप्रदेशे वक्त्रं कृत्वा, किम्भूतं वक्त्रं, प्रविष्टाकृतिविकृति प्रविष्टा प्रवेशं इता आकृतेः पूर्व्वाकारस्य विकृतिर्विकारो यस्मिन् तत् प्रविष्टाकृतिविकृति प्राप्ताकार-वैपरीत्यं प्रविष्टग्रहणादिति ज्ञायते, तद्वक्त्रे विकारेण तदैव प्रवेशो लब्ध इति, अन्यथा प्रविष्टग्रहणं व्यर्थं स्यात्, अधिकं सत्किंचिद् ज्ञापयतीति न्यायात् । प्रविष्ट-ग्रहणस्य एतत्सामर्थ्यं अभिमुखागतस्य शिरसि पादाघातात् नीचैरधोमुखपतनवशात् मुखं नाभिप्रदेशमागच्छतीति तस्यावेगः प्रहारस्यातिगुरुत्वं वा वर्णितम् । कथं तदेव विवृण्वन्नाह, पूर्व्वं अंगुष्ठकोटचा अंगुष्ठाग्रभागेन निष्ठ्यूतो निरस्तः, ष्ठीव् निरसने, भूते कर्म्मणि क्तः, छ्वोः शूडनुनासिकेति ऊडादेशः । पुनः किंविशिष्टः नखशिखरहतः नखस्य शिखरं नखशिखरं तेन हतः । पुनः किम्भूतः, गर्भे पाद-तलमध्ये दर्भाग्रसूचीलघुरिव न गणितः, दर्भस्य अग्रं दर्भाग्रं तदेव सूची इव तद्वल्लघुः दर्भाग्रसूचीलघुः स इव न गणितः यः अति कठोरचरणः । कश्चित्कार्य-

व्यासंगात् पादतले लग्नं अणुतरं दर्भाग्रमात्रं न गणयति तथेति । अथवाऽयं विग्रहः दर्भाग्रसूच्याः लघुः सुसूक्ष्मो भागः स इव न गणितः, अत्र गर्भशब्देन पादतलमध्यम्—

प्रसादादथवौचित्याद् देशकालविभागतः
शब्दैरर्थाः प्रतीयन्ते न शब्दादेव केवलात् ।

इति न्यायमाश्रित्य व्याख्यातम् । पुनः किम्भूतः, पार्ष्णिनिर्यातसारः, निःशेषं यातो निर्यातः, निर्यातः सारो यस्मादसौ निर्यातसारः, पार्ष्ण्या निर्यातसारः पार्ष्णिनिर्यातसारः । अत्र केचित् पार्ष्णिनिष्ठ्यूतसारमिति पाठान्तरेण व्याकुर्व्वन्ति, एतदुक्तं भवति— लाघवात् चरणव्यावर्तनेन क्रमेणैवं कृतः—पूर्व्वमंगुष्ठाग्रेण निरस्तः, तदनु तन्नखाग्रेण, ततः पादस्य मध्ये इति पादतलमध्यं आनीतः, पश्चात् पार्ष्ण्या पिष्टः । एवं च पार्ष्णिग्रहणे पश्चात्कर्त्तव्ये वृत्तानुरोधात् मध्येऽभाणि । अत्र च उपसर्प्पन्नित्यत्रोपशब्दो न समीपार्थे उक्तसमीपशब्दस्थाने हसंत्या इति पाठं पठन्ति । तदभिप्रायः, अंगुष्ठाग्रनखशिखरे अतिक्रम्य शिक्षालाघवात् पादतलं प्राप्तं दृष्ट्वा ईषद्धासं विधाय पार्ष्ण्या पीडित इत्यर्थः ॥७॥

सं० व्या०—७. निष्ठ्यूत इति ॥ सा शिवा शिवपत्नी वो युष्माकं शान्त्यै शान्तये अस्तु भवतु, दैत्यानां अधीशो दैत्याधीशः महिषः समीपमुत्सर्पन् यया शिवया पादस्य व्याहतत्त्वात् क्रमेणैवं कृतः, किंभूत इत्याह, पूर्वं तावत् अङ्गुष्ठकोट्या निष्ठ्यूतः अङ्गुष्ठाग्रेण निरस्तः तदनु नखशिखरहतः तस्यैव तस्या यो नखस्तस्य शिखरेण विभागेन हतस्ताडितः, तदनन्तरं च गर्भे पादमध्ये सूच्या अग्रं अग्रसूची तस्या लघुः स्तोकः अग्रसूचीलघुः दर्भाग्रसूचीलघुः स इव न गणितः न मतः, अथो पार्ष्णिनिष्णातसारः पार्ष्ण्या पादपश्चिमभागेन निष्णातो नितरां स्नातो मग्नः बलं यस्य स तथोक्तः निस्नाति इत्यनेन स्नात इति षत्वं, गर्भे दर्भाग्रसूचीत्यादि पश्चात् पार्ष्णिनिष्णातसार इति पदे प्रयोक्तव्ये छन्दोवशात् पूर्वमेव प्रयुक्तमिति प्रष्टव्यं, इदानीं मामकीनोऽनेन पादोऽतिक्रान्त इति भावेन हसन्त्या प्रहसितवदनया पादपातेन समग्रस्यैव पादस्य पातेन नाभौ वक्त्रं प्रविष्टाकृतिविकृतिर्यस्य वक्त्रस्य तथाविधं कृत्वा पश्चाद्व्यापादित इत्यर्थः ॥७॥

इदानीं महिषस्य सर्व्वजेतृत्वं तज्जयेन देव्याः सर्व्वोत्कृष्टत्वं च वर्णयन्नाह—

ग्रस्ताश्वः शष्पलोभादिव हरितहरेरप्रसोढानलोष्मा
स्थाणौ कण्डूं विनीय प्रतिमहिषरुषेवान्तकोपान्तवर्त्ती ।
कृष्णां पङ्कं यथेच्छन् वरुणमुपगतो मज्जनायैव यस्याः
स्वस्थोऽभूत्पादमाप्त्वा ह्रदमिव महिषः साऽस्तु देवी मुदे वः[1] ॥८॥

---

१ का० — दुर्गा श्रिये वः ।

कुं०वृ०-सा देवी मृडानी वो युष्माकं मुदे हर्षाय भूयात् । सा का, महिषो महिषनामा दैत्यो यस्याः पादं आप्त्वा प्राप्य स्वस्थोऽभूत् स्वास्थ्यं लेभे । कः कमिव, प्राकृत-महिषो ह्रदमिव । पातीति पाः, तं ददातीति पादः [13b] 'तन्त्रस्थो रक्षाप्रदं आप्य स्वस्थो भवतीति', अथवा, पां अत्तीति पाद् तं पादं आप्य स्वः स्वर्गे तिष्ठतीति स्वःस्थः । सेनातनुत्रादिरक्षाहेतुत्वात् स्वर्गमापेति पक्षे स्वस्थो निराकुलः प्राकृतमहिषो ह्रदं प्राप्य स्वास्थ्यमाप्नोतीति । किंविशिष्टो महिषः, ग्रस्ताश्वः, कस्येत्यपेक्षायां हरितहरेः सूर्यस्य हरिता हरयो यस्य स तस्य । उत्प्रेक्ष्यते, शष्पलोभादिव नूतनतृणाभिलाषादिव महिषस्य स्वभावोऽयं यन्नवतृणादनम्, महिषः खलु तृणाशी भवति, सूर्यस्य च हरयो हरितवर्णा अत एव हरिततृणभ्रान्त्या कवलीकृताः । एतावता सूर्यलोकोऽपि तेन जित इति । एवं अत्र हरितहरिपदं औचितीं आवहति । यतः—

नाम्ना कर्म्मणुरूपेण ज्ञायते गुणदोषयोः
काव्यस्य पुरुषस्येव व्यक्तिः संवादपातिनी ।

अत्र [ग्र]स्ताश्वशब्दो हरितहरिशब्दस्य सापेक्षमहिषशब्दस्य विशेषणत्वेन सापेक्षः, ग्रस्ताः अश्वा येनेति बहुव्रीहेरन्यपदार्थत्वात् अश्वशब्दो महिषशब्दस्यो-पसर्ज्जनीभूतो न स्वार्थोक्तौ समर्थः । कथं, सापेक्षमसमर्थं स्यादिति न्यायात् । अत्र हि हरितहरिग्रस्ताश्वो विवक्षितः । तच्च तदा प्रतीतिपथमवतरति यदा ग्रस्त-हरिदश्वाश्व इति तद्विशेषणं प्रक्षिप्यते, "वाच्यात्प्रतीयमानोऽर्थः तद्विदां स्वदते-ऽधिकमिति' वचनात् । अत्राश्वशब्दस्याऽन्यसंबंधेन सूर्यसंबंधो न्यग्भावमाप्तः । केचित्पुनरनयोः पाठयोरर्थस्य उत्कर्षापकर्षयोग्यत्वेन न कश्चित्प्रतीतिभेद इति मन्वाना अनेन पथा संचरन्ते । ते इदं प्रष्टव्याः, किं सर्व्ववाक्येषु उत्कर्षापकर्षसाम्यं उत बहुव्रीहिसंबन्धिन्येव, तत्र सर्व्ववाक्येषु सर्व्वसमासेषु प्रत्यक्षलक्ष्यः प्रतीतिभेदो ना-ऽपलापं अर्हति । अथ बहुव्रीहिविषये एव तदयुक्तं, यतः अन्यत्र समास इव ज्ञात-सामर्थ्ये प्रतीतिभेदकारणे प्रधानोपसर्ज्जनभावे सति, अकस्मात्कारणेन विना न तदभावो युक्तः । एवमप्यङ्गीक्रियमाणे विकलयामपि क्षित्यादिसामग्र्यां अंकुरादि-कायोत्पत्यभावाङ्गीकारोऽपि सुवचः प्रसज्येत, इति हेतोः सामग्री ह्यविकला कार्यं जनयत्येव, अतः सर्व्वेषु समासेषु प्रतीतिभेदोऽङ्गीकर्त्तव्यः । नैव वा कुत्रचित् न पुनरिदमर्द्धजरतीयं लभ्यते, तिष्ठतु वादः । प्रधानोपसर्ज्जनभावविषये यत्र च विध्यनुवादभावाभिधित्सया पदानि विरच्यन्ते तत्रापि विध्यनुवादभावेऽपि विधेय-त्वादस्य प्राधान्येन समासेन निर्जीवीकरणम् । अत्र हरितहरित्वं अनूद्य ग्रस्ताऽश्वत्वं विधीयते एवं विधेयानूद्यभावो वा प्रधानोपसर्ज्जनभावो वाऽस्तु नात्र

कश्चिदभिनिवेशः। सर्व्वथा वाक्येन वा कथितनयेन समासेन भवितव्यं यतः समासे पूर्व्वन्यायेन प्रधानानूद्यमानगतो विशेषो विधीयमानसादृश्येन सूर्यसंबंधिनां अश्वानां वाक्यार्थी भवति। एतच्च नाल्पविवरण[14a]गोचरविद्भिरूह्यं, पदार्थ-मात्रं व्याक्रियते। अत्र विशेषणाभिप्रायः, यावता सूर्यस्याश्वाः प्राप्तास्तावदेव तत्तापाभिभूतोऽनलं गत इति ध्वन्यते। ह्रदपक्षे देवीचरणपक्षे तु यथा नील-तृणानि स्वेच्छयाऽव्यग्रोऽत्ति तथा सूर्यमप्यगणयन् अश्वान् गृहीतवानित्यर्थः। पुनः किंविशिष्टः, अप्रसोढानलोष्मा, न प्रसोढः अनलस्याग्नेरूष्मा प्रतापो येन स तथा। सूर्यं जित्वाऽनलमपि जितवान्। ह्रदपक्षे सूर्योष्मतापितोऽनलं गतस्तत्रापि तत्तेजो न सेहे, ततोऽनलं जित्वा स्थाणुं हरं गतः। तत्र रणकण्डूं विनीय तेन संग्रामं कृत्वा अन्तकोपान्तवर्ती जातः। महिषस्य स्वभावोऽयं यत्स्थाणौ कीलके कण्डूं खर्ज्जूल-शरीरभावं घर्षणादिना अपनयति, तत्रापि युद्धश्रद्धामशिथिलीकृत्य तदनु यमलोकं गतः। अन्तकस्य उपान्तः समीपं अन्तकोपान्तः तत्र वर्त्तत इत्येवंशीलः, अन्तको-पान्तवर्त्ती। उत्प्रेक्ष्यते, प्रतिमहिषरुषा इव, प्रतिपक्षो महिषः प्रतिमहिषः तस्मिन् रुट् प्रतिमहिषरुट् तया प्रतिमहिषरुषा, महिषः खलु प्रतिमहिषं न सहत एव। तदनु कृष्णं इच्छन् तल्लोकं युद्धाय गत इत्यर्थः; कमिव, पङ्कमिव यथाऽत्र इवार्थे यथानलाभितप्तो महिषः पङ्कमिच्छति, पङ्क इव कृष्णवर्त्म इति वाक्छलम्। अथ सर्व्वोत्कृष्टत्वेन यथा पङ्कं अहं मर्द्दयामि तथैवैनमिति बुद्धया तदनु वरुण-मुपगतः। कया इव, मज्जनया मज्जनश्रद्धया इव। यथा महिषः पङ्कलिप्तः सन् मज्जनश्रद्धया जलावगाहार्थं वरुणं याति। अत्र वरुणशब्देन लक्षणया जलं लक्ष्यते; एतदुक्तं भवति, सूर्यानल-स्थाणु-यम-कृष्ण-वरुणानपि जित्वाऽनपगतसमरकेलि-कंडूतिर्भगवतीचरणतलं प्राप्य निर्व्वाणमापेत्यर्थः। यथा प्राकृतमहिषः स्वेच्छाहार-तृप्तो दिनकराऽनलादितापमसहमानोऽल्पजलाशयेऽपरितुष्टोऽगाधजलं प्राप्य सुखी भवति इति वाक्यार्थः। अत्रेदं विचार्यते, अप्रसोढानलोष्मेत्यत्र नञ्-समासानुप-पत्तिः। न प्रसोढः अप्रसोढः इति नञा विगृह्य नञि तत्पुरुषं विधाय अनलस्य ऊष्मा अनलोष्मा इति पदे विधाय पश्चात्सह सुपेति एकवचनस्य विवक्षितत्त्वात् अप्रसोढः अनलोष्मा येनेति विग्रहः। अथ प्रसोढः अनलोष्मा येनेति प्रसोढानलोष्मा पश्चान्नञ्-समासः तथापि प्रसज्यार्थ एव दृश्यते न पर्युदासः। स तावदनुपपन्नः। समासस्य पर्युदासविषयत्वात् नञ्-विशेषणं विशेषणस्य च व्यावर्त्तकत्त्वात्। नञः सुबंतेन उत्तरपदेन संबंधस्य उपपन्नत्वात् निषेध्येतरसद्भावप्रतिपादको नञ्-पर्यु-दास इति तल्लक्षणत्वात्। यत्र च नञ्-पदं उत्तरपदेन संबध्यते सोऽपि च तदुक्तम्—

प्रधानत्वविधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो, यत्रोत्तरप[14b]दे नञि॥ इति,

यथा युगोपात्मानमत्रस्त इत्यत्र निषेधगुणाभावेन विधिरिति तात्पर्यार्थः। एतच्च समानाऽसमानजातीयव्यावर्त्तकं निषेधात्मकत्वेन समानजातीयप्रसज्यप्रतिषेधे समासाभावः। नञ्-समासस्य विषयेन प्रसज्यप्रतिषेधः, तस्य समासविषयविपरीतत्वात्, तदुक्तं, अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधौऽसौ क्रियया सह यत्र नञिति आरोप्यमाणसद्भावोपसर्ज्जनः प्रसज्य-प्रतिषेधः क्रियासंबंधवान्निषेधः। प्रसज्य-प्रतिषेध इति च अनेनापि लक्षणेन क्रियाशब्दैर्भवत्यादिभिः समासाभावात्। सुबंतस्य नञः समर्थेन सुबतेनैव सह-सुपेत्यधिकारे समासविधानात् प्रसज्य-प्रतिषेधे समासाभावः। यथा, 'नवजलधरः सन्नद्धोयं न दृप्तनिशाचर' इत्यत्र। अत्र च अप्रसोढ़ानलोष्मेति अर्थस्य प्रतिषेधप्रधानस्य संबंधानुपपत्तेः पर्युदासो न युक्तः। यतोऽत्र प्रसोढाऽनलोष्मत्वप्रतिषेधः प्रधानतया वक्तव्ये नाभिमतः प्रसक्तस्य प्रसोढानलोष्मत्वस्यैव प्रतिषेध्यत्वात् न तु प्रसोढानलोष्मत्वेतरविधिः, पर्युदासे हि समासे सति प्रसोढानलोष्मेतरविधिः पर्यवस्यतीति नियमेन विवक्षितेतरसिद्धिरेव नाभिमतसिद्धिः। अप्रसोढेति पदे एव क्रियांशस्य प्रतिषेधप्रतीतौ सत्यां नञः क्रियासंबन्ध उपपन्नो भवति, अयमभिसन्धिः। भवति पचतीत्यादिषु तिङन्तेषु प्रकृत्या क्रियोच्यते प्रत्ययेन कर्त्ता सिद्धिरूपः तथापि समुदाये साध्यरूपा क्रिया एव प्रधानं, कृदन्तेषु पाचककुंभकारादिषु तु कर्त्ता एव प्रधानं सिद्धरूपः, न क्रिया; तथापि तव्यनिष्ठादिषु उभयप्राधान्येन प्रयोगः क्वचित्क्रियाप्राधान्येनैव यथा घटमकार्षीदिति क्रियान्वयेन वाक्यस्य नैराकांक्षम्। एवं घटं कृतवानित्यपि च क्रियांशप्राधान्येन नैराकांक्षमेव। तथा सति प्रसोढेति पदेऽपि क्रियांशप्राधान्यात् तत्प्रतिषेधप्रतीतौ नञः क्रियया संबंधोपपत्तेः क्रियासंबंध-नञर्थः प्रसज्यप्रतिषेध इत्यस्य कृतसंबंधेऽपि न विरोधः, तर्हि समासे अपि क्रियांशप्राधान्यान्नञर्थसंबंधः प्रतीयतां नाम, मैवं तत्प्रतीतेर्योगिनामप्यगम्यत्वात्। यतः प्रसोढेत्यस्य निषेधस्य गुणीभूतत्वेन तादृशस्य अन्यस्यैवार्थस्य तत्सदृशस्य सद्भावे प्रतीतेः। यथा अनश्व इत्युक्ते अश्वनिषेधं उपसर्ज्जनीकृत्याश्वसदृशस्य गर्दभस्यैव सद्भावः प्रतिपादितो भवति। यदि च तत्सादृश्यं न प्रतिपाद्यं स्यात् किमर्थं सर्व्वतद्रूपताप्रतिपादनपराश्वनिषेधेन गर्द्दभं ब्रूयात्? गर्द्दभ इत्येव किं न तस्मात्सर्व्वतद्रूपतानिषेधे किञ्चित्ताद्रूप्यस्वीकारपरत्वमेव स्वीकर्त्तव्यम्। शब्दशक्तिबलादेव न च केनापि प्रकारेण प्रसोढत्वनिषेधप्रतीतिरित्यर्थः। विविक्षितस्यार्थस्य प्रसोढत्वनिषेधस्य कथमपि सिद्धौ प्राधान्येन समासो न युक्तः। तस्मादेकं संधित्सतोऽपरं प्रच्यवत इति[15a] न्यायात्। निषेधप्राधान्ये समासाभावः। समासे च निषेधाऽप्राधान्यमित्यर्थः। भवतु समासेऽपि नञर्थस्य प्राधान्यं, का नः क्षतिरिति। अहो प्रज्ञाप्रागल्भ्यमायुष्मतां यत्समासलक्षणमपि विलक्षणतामापाद्यमानं न पश्यति। विलोकयन्तु निषेधस्य विधीयमान-

त्वेन प्राधान्यादुत्तरपदार्थस्य प्रसोढत्वस्यानूद्यमानत्वेन प्राधान्याभावात्। उत्तर-पदार्थप्रधानतत्पुरुष इति लक्षणं समासे च सति प्रसोढत्वानुवादेन नञर्थविधानस्य निर्ज्जीवीकरणप्रसंगात्, उत्तरपदार्थप्राधान्येन पूर्वपदार्थप्राधान्याभावात् यत्र नञर्थप्राधान्याभावः तत्र समासः कर्त्तव्य एवेत्यर्थः। अत्रार्थे प्रसज्यपर्युदासयो-रेकस्मिन् वाक्ये उदाहरणम्—

'काव्यार्थतत्त्वावगमो न वृद्धाराधनं विना।
अनिष्टवान् राजसूयं कः स्वर्गसुखमश्नुते'॥ इति

तथा चोक्तम्—

क्रियाकर्त्रंशभागर्थो वाक्ये योज्यो नञा यदि।
क्रियांश एवापोह्यः स्यान्नेष्टवानितिवत्तदा॥
अकुंभकार इतिवद् वृत्तौ तु स्याद्विपर्ययः।
इत्येष नियमोऽर्थस्य शब्दशक्तिस्वभावतः॥ इति,

इह केचिच्छब्दशास्त्राज्ञानात् पर्युदासेऽपि समासनैयत्यादरं न कुर्व्वन्ति प्रसह्य-पर्युदासयोर्विवेकमबुध्वा प्रसज्यवत्, पर्युदासोऽपि शक्तिकांतेषु मानो न कुर्व्वत इत्यादौ समासं न कुर्व्वन्ति। इष्यते च स इति ननु प्रसोढत्वनिषेधः प्राधान्येनास्तु न प्रसोढेतरत्वविधिः। एवं 'न श्राद्धं भुंक्ते अश्राद्धभोजी'त्येतद्वत् प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि समासो भवतु। किं नो बाधकम्? श्रूयतामवधानेन, अत्र नञश्चोत्तरपदार्थेन श्राद्धेन श्राद्धप्रतिषेधरूपः कोऽपि संबंधो न प्रतीयते, अपि तु विशेष्यत्वेन प्रधानेन तद्भोज्यर्थेन सम्बद्धचते। तत्रापि भोजिपदे क्रियाकर्त्रंशवति कर्त्रंश एव प्रधानं न क्रियांशः। अयमभिप्रायः, अश्राद्धभोजीत्यत्र त्रीणि पदानि, तत्र प्रथमतः श्राद्ध-पदेन समासे श्राद्धव्यतिरिक्तं भुंक्ते इत्यर्थात् श्राद्धभोजनप्रतिषेधाभावादभिमतार्थ-लाभो न तस्मात् श्राद्धपदेन न समासः, किंतु श्राद्धं भोक्तुं शीलमस्येति विगृह्य 'सुप्य-जातौ णिनि ताच्छील्ये' इति श्राद्धशब्द उपपदे णिनि-प्रत्ययमुत्पाद्य उपपदमतिङिति समासे सति श्राद्धभोजीति निष्पन्ने पश्चान्नञा सह श्राद्धभोजीत्यनेन समासः। तथा च सति समासे कर्त्रंशस्य प्राधान्यं न क्रियांशस्य, वाक्य एव क्रियांशनिषेधादित्युक्तवान्, अत्र श्राद्धभोजिपदे श्राद्धभोजनशीलः कर्त्ता प्रतीयते, न तस्य भोजनमात्रं क्रिया-कर्त्तरि णिनेर्विहितत्वात् कर्त्तरि कृदिति तर्हि उभयांशप्राधान्यात्। कृदंते क्रियांश-संबंधोऽपि नञोस्तु न समासे कर्त्रंशः प्रधानं ततः शब्दव्यापारगम्यः कर्त्रंशेनैव संबंधो न क्रियांशेन, तर्हि कस्य कर्त्तेत्यपेक्षायां क्रियासंबंधोऽपि शब्दव्यापारगम्योऽस्तु न क्रियासंबंधसामार्थ्यात् प्रमाणान्तरादवसीयते, क्रियासंबंधस्वीकारं विना कर्तृत्वानुपपत्तेः। अर्थापत्त्या क्रियासंबंधावगतिः। तथा च मदीये **दर्शनसंग्रहे**—

दृष्टार्थानुपपत्या च कस्याप्यर्थस्य कल्पना ।
क्रियते यद्बलेनासावर्थापत्तिरुदाहृता ।। इति,

यथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' इति वाक्यात्पीनगुणविशिष्टस्य देवदत्तस्य दिनभोजनप्रतिषेधोऽवगम्यते, रात्रिभोजनं तु पीनत्वाऽन्यथाऽनुपपत्या प्रतीयते । तद्वदिहापि प्रमाणान्तरगम्य: क्रियासंबंध इत्यर्थ: । तर्हि कथं प्रसज्यप्रतिषेधप्रतीतिर्लोकानां अर्थापत्तिप्रतीतक्रियासबंधमात्रकृता तद्भ्रांति:, परं निश्चयेनाश्राद्धभोजीत्यस्य प्रतिषेधस्य प्रसज्यप्रतिषेधरूपता कापि न संभवति । प्रसज्यप्रतिषेधता तु वाक्यादेव न[15b] समासात् । समासवाक्ययो: सिद्ध: कारकरूप: साध्य: क्रियारूपो योऽर्थस्तत्प्रधानतया भिन्नार्थत्वात् भवितव्यमेव । अश्राद्धभोजीत्यत्र समासेन असूर्यंपश्यादिष्वपि पर्युदास एव, असूर्यललाटयोर्द्दशितयोरिति खश्-प्रत्ययविधाने वृत्तिकारेणोक्तं, अत एव निपातनात् असमर्थसमास इति । असूर्यशब्देनासूर्येतरदर्शनं प्रतीयते । प्रथमत: सूर्येण समासे ततोऽसमर्थ: समास एव न भवति, राजदाराणां पुरुषांतरदर्शनायोगात् विवक्षितार्थासिद्धे: । न सूर्यं पश्यंतीति प्रसज्यप्रतिषेधे समासस्य विधानात् असामर्थ्यं तत्परिहारार्थोऽतिदेशोऽश्राद्धभोजिवदिति । यथा वृत्तिकारमते असमर्थं समासं विधायोपपदस्थापनं आचार्याभिप्राय: । तथाकरिष्यमाणं नञ्समासं विषयीकृत्य सूर्यपदस्यैवोपपदत्वं, तद् योगात् प्रत्ययविधानं, तत: उभयपदसमास: । तत: कर्त्रंशप्राधान्येन नञ्समास: आचार्यस्याभिमत: । अप्रसोढेति पदे निषेधस्य प्राधान्यविवक्षा न विधे: प्रसोढेतरस्य । तर्हि न भवितव्यमेव समासेन, यथा भुंक्ते सदाश्राद्धमयमपरांश्चोपतापयेदिति अयथार्थमेव । सम्यक् स्वभावावगतौ स यवान्नश्राद्धभोजी न परोपतापी अत्र णिनि-प्रत्ययांतस्य कर्त्रंशेन वा क्रियांशेन वा संबन्धाभावान्न पूर्व: पर्यनुयोग:, किंतु प्रतीयमानेन क्रियासंबन्धेनाऽपरिपूर्णस्य वाक्यार्थस्य पूर्णाक्षेपलब्धस्य भगवत्यादि क्रियार्थेन समन्वयो विप्रतिपन्नो निषेधस्य प्राधान्येन ज्ञायते, क्रियापदान्तराश्रवणे कृभ्वस्ति - संबंधस्य न्यायसिद्धत्वात् । तर्हि असमासेऽपि पर्युदास एवास्तु न नञर्थेन विशिष्टस्योत्तरपदार्थस्य श्राद्धभोजनशीलस्य विधेरप्रतीते: तत्प्रतीतिरूपत्त्वात् पर्युदासस्य अयं तु प्रसज्य-विषय एव नान्य:, अश्राद्धभोजी अप्रसोढेति च तस्मात् अप्रसोढेति पदसंबंधस्य नञो विधेयार्थप्रतिपादकतया प्रधानस्य अनूद्यमानार्थप्रतिपादकतया तस्य प्रधानस्य विपरीतक्रियेणाऽप्रधानाभिधायकेन प्रसोढपदेन समासो विद्वद्भिर्नेष्यत एवेति स्थितं, तथा चोपसंहारार्थ:

नञर्थस्य विधेयत्वे निषेध्यस्य विपर्यये ।
समासो नेष्यतेऽर्थस्य विपर्यासप्रसंगत: ।। इति,

एवमस्मिन्वाक्ये स्वमतिपरिणामावधि पदार्थविचारेऽवधारिते संप्रति वाक्यार्थविचारा या भूमिकोपरच्यते तत्र महिषितवपुषि विद्विषि वाक्यार्थ-विषयभूते अप्राकरणिकप्राकृतमहिषप्रतिमोत्पत्तौ न किंचिन्निमित्तमुपलभ्यते। महिष-शब्द एवानेकार्थत्वादस्तु अथ तद्विशेषणानि अथ विशेषणानामनेकार्थत्वं विशेष्यानेकार्थमन्तरेण न संभवतीति कृत्वोभयमपि वा परस्परानुग्राहितया अन्य-स्यार्थप्रकरणादेरसंभवान्न निमित्तान्तरं विकल्पमर्हति, महिष-शब्दस्यानेकार्थत्वे विशेषे नियमहेतोरभावादनभिप्रेतेप्यर्थे प्रतीत्युदयप्रसंगात् महिष-शब्द एव न निमित्तम्। विशेषणानामपि दैत्यम[16a]हिषार्थाऽनुगुणार्थद्वययोगो विशेष्यार्थद्वया-वगमः तदेवाकस्मिकः प्रसज्येत। विशेषणानां च विशेष्यद्वितीयार्थानुगुणार्थनिबंध-नत्वे व्यक्तमन्योन्याश्रयः, तर्हि उभयमप्यस्तु अर्थांतरप्रतीत्युत्पादकं यथा मृदादिकं घटादिकं प्रति विषमोऽयं दृष्टांतः घटाद्युत्पत्तौ समवायानपेक्षः कारणक्रमोऽयं शब्दे तु वाचकभावेन श्रोतुः समवायानुसंधानापेक्षार्थप्रत्ययोत्पत्तिः न वाच्यवाचकस्व-रूपावस्थानमात्रं कृता, अत्र दैत्यार्थकृता अत्र दैत्यार्थविषयस्य प्रयुक्तः शब्द एव समय विषय-संस्कारस्याविर्भावनिमित्तं प्राकृतमहिषार्थस्य तु अप्राकरणिकस्यावश्य-मन्यदेव निमित्तं वाच्यं, अर्थद्वयेऽपि एक एव वाचकः समयो वा न निमित्तं, एकहेतु-कत्वे प्राकरणिकाऽप्राकरणिकयोरर्थयोर्दैत्यार्थप्रतीतिः, अनन्तरमेव महिषार्थावि-गमरूपः क्रमनियमो दुरुपपादः, यावन्तोऽर्थास्तावतां शब्दानामुपस्थापनांगीकारे पक्षान्तरप्रतीतिः स्यात्। नहि एकेन शब्देन अर्थद्वयप्रतीतौ शब्दान्तरनिवेशो युक्तः। अतो वाच्यावाच्ययोरर्थयोर्भिन्न हेतुकत्वमङ्गीकरणीयम्। तच्चोपात्तशब्दा-वृत्या वा अर्थप्रकरणादिना वाऽर्थो देव्या सह युद्धाभिनिवेशः, प्रकरणं च दैत्य-वर्णनोपक्रमः तेनाऽस्तु न काचन क्षतिः, द्वितीयार्थप्रतीत्युद्भवे प्रकरणादेरसंभवः। अन्यस्मात्प्रकरणादेर्द्वितीयार्थप्रतीतौ तस्यैव हेतुता तस्मात् ग्रस्ताश्वः शष्प-लोभादित्यादौ निबंधनान्तररहितस्य महिषशब्दस्यानेकार्थावबोधहेतुकः शब्द-शक्तिकल्पनारूपोऽर्थान्तरप्रतीत्यभ्युपगमो निर्मूल एव युक्तः। अतो द्वितीयार्था-भिधाने प्रस्तुतार्थप्रसंगापत्तेरुपमानोपमेयभावकल्पनापि निर्मूलैव यतो वाच्या-ऽतिरेकिणोऽर्थांतरस्य प्रतीतिरेव दुःप्रतीतिः। यतः शब्दानां संकेतप्रतिसंधाना-ऽनुकूला संयोगाद्यनुकूला वाऽर्थप्रतीतिः, अतो नियतार्थत्वाभावात् सर्व्वोऽर्थः सार्व्वैः शब्दैर्वाच्यो भवति। अतः सामग्रीवशात् अन्योऽपि घटादिशब्दः कंबलाद्यर्थ-वाचको भवति। सामग्रीविकलत्वेन घटशब्दोपि तदर्थबोधको न स्यात्। संकेतस्तु नियत एव यतः सामग्रीवशादर्थ-प्रत्ययः। ततश्चार्थभेदे शब्दभेदाद् अन्यो दैत्य-वाची अन्यो महिषवाची सामग्रीवशात् द्वितीयार्थोद्बोधकसंभवात् समासोक्ति-न्यायेन विशेषणसाम्ययुक्त्या द्वितीयमर्थं बोधयितुं शक्नुयादेव, तत्र हि विशेष्यं

महिषपदं अतदर्थमपि तद्व्यवहारारोपात् तदर्थवद्भवतीत्यर्थः। न पुनः प्राकृत-महिषार्थोऽपि सामग्रीविकलो हि तदर्थता चार्थभेदेऽपि शब्दैक्यपक्षाश्रयेण सामग्री-वशादर्थान्तरप्रतीतिसद्भावे अवाचकस्याप्यसाधुशब्दस्य सामग्रीवशात् वाचकत्व-मनुमीयते । अतः सामग्रीसद्भावान्वयव्य[16b]तिरेकानुविधायिनीयमर्थान्तर-प्रतीतिरिति निश्चयो जायते ।

तथा च **हरिवार्तिकम्**—

असाधुरनुमानेन वाचकः कैश्चिदिष्यते ।
वाचकत्वाविशेषेऽपि नियमः पापपुण्ययोः ।।

इति, केषांचिन्मते असाधुर्ऋतकशब्दः साधुं ऋतकशब्दं स्मारयति । स्मृत्यारूढश्च ऋतकशब्द एवार्थं बोधयतीति द्योत्यते न च साधुवैलक्षण्यमात्रेण अधर्मजनकत्वेन वा तस्य साधोरपशब्दव्यवहारविषयत्वं वक्तुं युक्तम् । यतः शब्द इति शब्दनं, शब्द इति करणव्युत्पत्त्या शब्द्यतेऽभिधीयतेऽनेनेति करणे घञन्तं रूपम् । तस्य बोध-कस्य शब्दस्य प्रकृतिप्रत्ययादिविभागपरिकल्पनया लक्षणानुगतत्वेन लक्षण-कृतावयवविकल्पनारहितत्वेन विगुणसामग्रीकत्वेन अर्थाप्रतिपादकत्वेन च साधु-असाधु-अपशब्दरूपत्वेन त्रैविध्यं, तत्र सामग्रीविकलत्वेनावाचकत्वे साधोरसाधोर्वा साम्येऽसाधुर्गव्यादिरपि अपशब्दो हि मूलभूतं गवादिशब्दमभिमृश्य तदनुमानेन तदभिज्ञस्य तु तत्वारोपणार्थं बोधयति । एवं च साधोरसाधोर्वा सामग्रीसापेक्ष-वाचकत्वावाचकत्त्वे च स्थिते अवाचकत्वात् साधोर्वाचकत्वादसाधोश्चापशब्दत्व-सुशब्दत्वे च स्थिते पुराणादिष्वप्यसाधुत्वादपशब्दत्वं निरस्तम् । अविषये प्रयुक्तस्य सुशब्दस्याप्यपशब्दत्त्वं स्थितं, यदुक्तम्—

अश्वगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे ।
निमित्तभेदात् सर्व्वत्र साधुत्वं च व्यवस्थितम् ।। इति,

ननु यद्यसाधोरपि वाचकत्वादनपशब्दत्वं तर्हि वैयाकरणाचार्यविरोधादागम-विरोधः कथं नापतेत् ? अवहितो भूत्वा शृणु, समानायामप्यर्थावगतौ साधुभिरेव भाषितव्यं नासाधुभिरिति शास्त्रेण पाक्षिक्यां प्राप्तौ भाषणीयाभाषणीयत्वेन पक्षां-तरनिवृत्तिः, साधुभिरेव भाषितव्यं नासाधुभिरिति पुण्यपापयोर्विषयीभूतयोर्भाषण-विधिरपि नियमरूपः निषेधोऽपि नियमरूप एवेति तत्र नियमे तद्गतः साधूच्चा-रणधर्म्मः । कूपखानकवद्वृत्या प्रतिविहितोऽतो नागमविरोधः । तत्र शब्दप्रधाने वेदे न सा इति अर्थप्रधानेषु पुराणादिषु साऽस्तु । काव्यस्य च शास्त्रं प्रागेव दर्शितम् । तत्र तु शब्दार्थौ चित्यजीवातुप्राप्तजीवरसात्मकत्वादुभयप्रधानत्वं तस्मात्कूपखान-कवृत्तिः पुराणादिष्वप्येवेति स्थितम् । धर्मस्य च साधुशब्दोच्चारणजन्यत्वमा-चार्योऽप्याह—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे,
शब्दान् यथावद्व्यवहारकाले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र,
वाग्योगविद्दुष्यति चापशब्दैः ।। इति,

अलमप्रस्तुताभिधानेनेत्युपरम्यते । तस्मादनेकार्थाभिधायिशब्दप्रयोगे मुधा बुधाः खिद्यन्ते । ततो—

यावद्भिरर्थैः संबंधः प्राक्शब्दस्यावधारितः ।
तावत् स्वल्पनिराशंसः श्रुतः सन् कुरुते मतिम् ॥

इत्यादि, पूर्वपक्षे निक्षिप्य—

यद्यप्यर्थेषु सर्व्वेषु प्राक्शब्दः कुरुते मतिम् ।
तथापि तद्विवक्षार्थं विशे[17a]षणमपेक्षते ॥
तच्चैतद्वदनेकार्थं मुख्योऽर्थः कोऽवतिष्ठताम् ।
यस्तत्र प्राकरणिकः पौर्वापर्यगतिः कुतः ॥

इत्यादिना—

तस्मादनेकार्थत्वेऽपि विशेषणविशेष्ययोः ।
अर्थान्तरप्रतीत्यर्थं वाच्यमेव निबन्धनम् ॥

इति उपसंहारार्थः । अत्र श्लेषालंकारः, अत्र च नञ्समासाऽसमर्थत्वदोषयोः परिजिहीर्षया चिरकालगलितपूर्वपरिपाठोपरि जामातृशोधनं विमुच्य बाणकृतमेव पाठमाहृत्य 'प्रास्याऽश्वान् शष्पलोभादिव हरितहरेर्न प्रसोढाऽनलोष्मा', इत्ययमेव पाठो भणितुं न्याय्य इति शिवा [शिवम्] ।।८।।

सं० व्या०—८. सा देवी वो युष्माकं मुदे हर्षाय अस्तु भवतु, यस्याः पादं आप्त्वा ह्रदमिव प्राप्य महिषः स्वस्थोऽभूत्, किमुक्तं भवति यस्य ऊष्मणोपचितस्य कृष्णपङ्कजलप्रत्युपगमेऽपि न स्वस्थता जाता, स ह्रदवच्चरणं प्राप्याथ स्वस्थो भूतः, वस्त्वर्थपक्षे छलपक्षे स्वस्थो निरातुरः, किल महिषादेः ह्रदप्राप्त्यां ऊष्मोपगते सति स्वस्थतेति, यः कीदृशो महिषः हरितो हरयो यस्य शष्पलोभादिव हरितबालतृणगाद्धर्यादिव रवेर्ग्रस्ताश्वः कवलीकृततुरगः महिषः किल ग्रसन्बुद्ध्या शष्पेषु लुभ्यतीति परमार्थः न तु शष्पलोभादिति । पुनरपि किंभूतो यः अप्रसोढानलोष्मा अप्रसोढः अनलस्य ऊष्मा ऊष्मत्वं येन सः तथोक्तः देवानां हि पक्षतया अग्रे ऊष्माणं न सोढवानिति वस्त्वर्थः, कविभावस्तु अश्वानां ग्रसनेन भानुः स न विद्यते पूर्वमेवोपतप्तः स्थितः ततोऽनलस्योष्माणं न सोढवान्, अत एव शब्दच्छलेनैव कविः कृष्णं पङ्कं यथेच्छन् वरुणमुपागतः इत्युक्तवान्, स्थाणौ शङ्करे छलपक्षेन स्थाणौ खुंटके

विवशे तदाकुलितचित्तत्वादविधेयेन्द्रियवर्गे, अतो रक्षाऽसमर्थे इति तर्हि धाता तिष्ठतु। इन्द्रादयः स्वस्वाधिकारे जाग्रति तेष्वयं त्रैलोक्यभारं निधाय सुखी वर्त्तते कृतकृत्यत्वात्। न पुनः केषु कथं सत्सु, द्रविणपतिपयःपालकालानलेषु द्रवत्सु पलायमानेषु सत्सु, किं केवलेषु, नेत्याह इन्द्राद्येषु इन्द्र आद्यो येषां ते इन्द्राद्याः पलायमानेषु इन्द्रोऽग्रेसरो बभूव इत्यर्थः। द्रविणस्य पतिर्द्रविणपतिः धनदः, पयांसि पालयतीति पयःपालो वरुणः, ततो द्वंद्वः द्रवि[17b]णपतिश्च पयःपालश्च कालश्च अनलश्च ते तथा तेषु एवं सति त एव लोकरक्षायै प्रवृत्तास्त्वां पान्त्विति वाक्यार्थः। अत्र वर्णानुप्रासः शब्दचित्रं 'उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' इति व्यतिरेको वाच्यालङ्कार इत्यादि विस्तरभीत्या न प्रपञ्च्यते ॥९॥

सं० व्या०—९. अपरे अन्ये पञ्च लोकपालाः त्वां भवन्तं पांतु रक्षन्तु कस्याश्चण्डिकायाः, केन चरणनखनिभेन चरणस्य ये नखास्तेषां निभेन व्याजेन, किं कृतवन्तः त्रातवन्तो जगन्ति त्रीनपि लोकान् अत एव लोकपाला इत्युक्तम्। किं कृत्वा त्रातवन्तः पिष्ट्वा संचूर्ण्य, कं महिषं महिषरूपं दानवं अतिरुषं अतिशयकोपं स्पर्शेनैव न तु ताडनादिना, किल महतां स्पर्शोऽपि········प्रभावेन पिनष्टि। ननु ब्रह्मादयः क्व गताः ये देवोपादनखाः महिषं पिष्ट्वा लोकपालाः संवृत्ताः इति, तदुच्यते प्रविशति विवशे 'धातरि ध्यानतन्द्रीमिति' धातरि ब्रह्मणि प्रविशति सति कां ध्यानतन्द्रीं, किंभूते विवशे [illegible]

इति लोके प्रसिद्धे कण्डूं विनोय अपनीय प्रतिमहिषरुषेव तत्तुल्यान्यमहिषकोपेन एव अन्तकोपान्तवर्ती जातः अन्तकस्योपान्ते महिषात्मसमीपे वर्त्तितुं शीलमस्येति विग्रहः, कृष्णं विष्णुं तदीयकल्पनया पङ्कमिव पङ्कं यथेच्छन् इच्छानिवृत्तये उपागतः वरुणं जलपतिं मज्जनायेव शुद्धचर्थमिवोपगतः, किल महिषः कृष्णपङ्के लुठित्वा तदनु महति जले शुद्धचर्थं प्रविशति इति भावः, वस्त्वर्थस्तु कृष्ण-वरुणाभ्यां सह युद्ध्वापि शममनाप्नुवन् देवीं प्रति गत इत्यर्थः ॥८॥

इदानीं विश्वप्रकृतिं परमेश्वरीं सर्व्वदेवमयत्वेनाऽभिष्टौति—

त्रैलोक्यातङ्कशान्त्यै प्रविशति विवशे धातरि ध्यानतन्द्रा-[1]
मिन्द्राद्येषु द्रवत्सु द्रविणपतिपयःपालकालानलेषु ।
ये स्पर्शेनैव पिष्ट्वा महिषमतिरुषं त्रातवन्तस्त्रिलोकीं[2]
पान्तु त्वां पञ्च चण्डयाश्चरणनखमिषेणापरे[3] लोकपालाः ॥९॥

कु.वृ.—लोकपालास्त्वां पान्तु रक्षन्तु । के ते अपरे इंद्रादिभ्योऽन्ये, कति पञ्च अयमर्थः । वक्ष्यमाणप्रकारेण लोकपालेषु अपालेषु सत्सु तैस्तत्कर्म्मकारित्वाल्लोक-पालत्वमाहृतं इत्यपरत्वं, केन चण्डया रुद्राण्याश्चरणनखमिषेण, चरणस्य अर्थात् वामचरणस्य नखाश्चरणनखाः तेषां मिषं छद्म तेन नखानां त्रिलोकीत्राणहेतुत्वात् लोकपालोपमा, त्रीन् लोकान् पालयन्तीति वाक्यार्थव्याजेन लोकपालस्वरूपं भवान्या नखेषु उपचरन् आह, ते लोकपालास्त्वां पान्तु, अत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् यत् शब्दमपेक्षते । ते के ये त्रिलोकीं त्रातवन्तः पालितवन्तः, किं कृत्वा पिष्ट्वा सञ्चूर्ण्य कं महिषं, किंविशिष्टं अतिरुषं अतीवरोषणं, यस्य रोषोऽपि वाचामविषयः, केन स्पर्शेनैव स्पर्शमात्रेण, एवकारः साधनान्तरं व्युदस्यति । एवंविधं महिषं स्पर्श-मात्रेणैव संचूर्ण्य लोकपालेभ्योऽधिकत्वं आपुरित्यर्थः । ननु पूर्वे लोकपालाः क्व गताः येन देवीनखास्तत्पदेऽभिषिक्ताः ? एतदेव तत्स्वरूपकथनद्वारे विवृण्वन्नाह क्व सति धातरि वेधसि ध्यानतंद्रां विवसति सति ध्यानव्याजनिद्रां प्रमीलामिति यावत्, कस्यै त्रैलोक्यातंकशान्त्यं त्रैलोकस्यातंक उपद्रवः तस्य शांतिः शमनं तस्यै, धाता किल ध्यानेन सर्व्वं पश्यति । ध्यानमष्टाङ्गयोगस्योपलक्षणम् । योगाविष्टो न बाह्यं किंचन वेदेति । महिषपौरुषमालोक्य कथं अयं मया शान्तिं नेय इति

१. ज० का० ध्यानतन्द्री;
२. ज० त्रातवन्तो जगन्ति;
३. ज० का० चरणनखनिभेनापरे ।

विवशे तदाकुलितचित्तत्वादविधेयेन्द्रियवर्गे, अतो रक्षाऽसमर्थे इति तर्हि धाता तिष्ठतु। इन्द्रादयः स्वस्वाधिकारे जाग्रति तेष्वयं त्रैलोक्यभारं निधाय सुखी वर्त्तते कृतकृत्यत्वात्। न पुनः केषु कथं सत्सु, द्रविणपतिपयःपालकालानलेषु द्रवत्सु पलायमानेषु सत्सु, किं केवलेषु, नेत्याह इन्द्राद्येषु इन्द्र आद्यो येषां ते इन्द्राद्याः पलायमानेषु इन्द्रोऽग्रेसरो बभूव इत्यर्थः। द्रविणस्य पतिर्द्रविणपतिः धनदः, पयांसि पालयतीति पयःपालो वरुणः, ततो द्वंद्वः द्रवि[17b]णपतिश्च पयःपालश्च कालश्च अनलश्च ते तथा तेषु एवं सति त एव लोकरक्षायै प्रवृत्तास्त्वां पान्त्विति वाक्यार्थः। अत्र वर्णानुप्रासः शब्दचित्रं 'उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव स' इति व्यतिरेको वाच्यालङ्कार इत्यादि विस्तरभीत्या न प्रपञ्च्यते ॥९॥

सं० व्या०—९. अपरे अन्ये पञ्च लोकपालाः त्वां भवन्तं पांतु रक्षन्तु कस्याश्चण्डिकायाः, केन चरणनखनिभेन चरणस्य ये नखास्तेषां निभेन व्याजेन, किं कृतवन्तः त्रातवन्तो जगन्ति त्रीनपि लोकान् अत एव लोकपाला इत्युक्तम्। किं कृत्वा त्रातवन्तः पिष्ट्वा संचूर्ण्य, कं महिषं महिषरूपं दानवं अतिरुषं अतिशयकोपं स्पर्शेनैव न तु ताडनादिना, किल महतां स्पर्शोऽपि········प्रभावेन पिनष्टि। ननु ब्रह्मादयः क्व गताः ये देवोपादनखाः महिषं पिष्ट्वा लोकपालाः संवृत्ताः इति, तदुच्यते प्रविशति विवशे 'धातरि ध्यानतन्द्रीमिति' धातरि ब्रह्मणि प्रविशति सति कां ध्यानतन्द्रीं, किंभूते विवशे विह्वले जगदातङ्कवशेनेत्यर्थः, अत एवोक्तं त्रैलोक्यातङ्कशान्त्यै इति त्रैलोक्यातङ्कं आकृतः [आतंकः] तस्य शान्त्यै शान्तये, इन्द्र आद्यो येषां ते इन्द्राद्याः तेषु इन्द्राद्येषु द्रवत्सु सङ्ग्रामान्निवर्तमानेषु सत्सु। अथ तेषु इत्याह द्रविणपतिपयःपालकालानलेषु धनदवरुणयमाग्निष्वित्याह ॥९॥

इदानीं भगवत्याश्चरणस्य गुरुत्वातिशयं दर्शयन्नाह—

प्रालेयोत्पीडदीव्नां[1] नखरजनिकृतामातपेनातिपाण्डुः
पार्व्वत्याः पातु युष्मान् पितुरिव तुलिताद्रीन्द्रसारः स पादः।
योऽधैर्यान्मुक्तलीलासमुचितपतनापातपीतासुरासी-[2]
न्नो देव्या एव वामच्छलमहिषतनोर्नाकलोकद्विषोऽपि ॥१०॥

कुं० वृ०— स पार्व्वत्याः पादो युष्मान् पातु अवतु रक्षतु। किंविशिष्टः नखरजनिकृतां आतपेन नखचन्द्राणां ज्योत्स्नयाऽतिपाण्डुः अतिगौरः, रजनि रात्रि

---

१. का० प्रालेयोत्पीडपीव्नां; ज० प्रालेयोत्पीडदीप्तां (दीव्यन्)।
२. का० यो धैर्यान्मुक्तलीला०; ज० यो धैर्यामुक्तलीला०।

कुर्वन्तीति रजनिकृतः, नखा रजनिकृत इव, अथ नखा एव रजनिकृतः, रूपकम् । तेषां किंविशिष्टानां रजनिकृतां, प्रालेयोत्पीडदीव्नां प्रालेयानि हिमानि तेषां उत्पीडो राशिः तद्वद्दीव्यंन्तीति दीवानः तेषां, क इव, पितुः पाद इव, पितुरिति पार्व्वत्याः पितुर्हिमाचलस्य पाद इव पादः प्रत्यंतपर्व्वतः हिमालयपादोऽपि प्रालेयोत्पीडेन दीप्तिमान् भवति पाण्डुश्च । कथंभूतः पादः तुलिताद्रीन्द्रसारः अद्रीणामिन्द्रोऽद्रीन्द्रः तस्य सारो बलं तुलितोऽद्रीन्द्रसारो येन स तुलिताद्रीन्द्रसारः, अद्रीन्द्रसार-समानसारतां अन्तरेण महिषस्य संचूर्णनं न घटते । स किंविशिष्टः वामः, अत्र शब्द(च्छ)लेनाह, यः केवलं देव्या एव वामो न अपितु नाकलोक-द्विषोऽपि वामः प्रतीपः वैरी, नाकलोकं द्वेष्टीति नाकलोकद्विट् तस्य नाकलोकद्विषः, अपिः समुच्चये । वामशब्दस्यावान्तरसूचनेन महिषमपि समुचिनोति । किं-विशिष्टस्य तस्य नाकलोकद्विषः छलमहिषतनोः, महिषस्य तनुरिव तनुर्यस्य स तथा छलेन व्याजेन महिषतनुः छलमहिषतनुः तस्य, सप्तम्युपमान इति मध्य-पदलोपी समासः । ननु महिषस्य कथं वामः ? इत्यत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह, कथं-भूतः अधैर्यान् मुक्तलीलासमुचितपतनापातपीतासुः, मुक्ता चासौ लीला च मुक्त-लीला मुक्तलीलया समुचितं सदृशं यत्पतनं, पूर्व्वसदृशेति समासः, तस्य आपातः आरम्भः तस्मिन् एवं पीता असवो येन स तथा । अत्र अधैर्यादिति अकारप्रश्लेषः । कथं, मुक्तलीलाशब्दश्रवणात् । कोऽभिसन्धिः नाकलोकद्विडिति । समरे सर्व्वदैत्य-संशयं दृष्ट्वा 'कार्या शत्रुषु नावज्ञा' इति लीलाग्रहणे कालविक्षेपं बुध्द्वा अधैर्य-मास्थाय लीलां मुक्त्वा सपदि एव हतः, इति भावः । अत्र उपमानरूपकवक्रोक्ति-शब्दचित्राण्यलङ्काराः ॥१०॥

सं० व्या०—१०. पार्वत्याः सम्बन्धी पादोऽङ्घ्रिः युष्मान् भवतः पातु रक्षतु, कीदृशः पितुरिव पादः पितुर्जनकस्य गिरेरिव पादः प्रत्यन्तनगः, एकोऽपि पाद-शब्दो द्विरावर्तनीयः उभयोरपि, किंभूतः पादः तुलिताद्रीन्द्रसारः अद्रीणामिन्द्रस्तस्य सारो बलं तुलितोऽद्रीन्द्रसारो येन स तथाविधः, पुनरपि किंभूतः अतिपाण्डुः अधिकधवलः केन तापेन ज्योत्स्नया केषां नखरजनिकृतां नखा एव रजनि-कृतश्चन्द्रास्तेषां, किंविशिष्टानां प्रालेयोत्पीडदीप्तां(व्नां) प्रालेयानि हिमानि तेषामुत्पीड उत्करस्तद्वद्दीव्यती(न्ती)ति दीव्यन्त(स्तेषां) इति प्रालेयोत्पीड-दीप्तां(व्नां) नखास्तेषामेतदुक्तं भवति, पार्वत्याः पादस्य क्लृप्तनखानां कान्त्या अतिपाण्डुः हिमवत्पादो हिमोत्करप्रभायति, कीदृशः चरणः नो देव्या एव वामः किं तदङ्घ्रिच्छलमहिषतनोर्नाकलोकद्विषोऽपि इति अपि-शब्दः सम्भावयति, कथं महिषस्य वामः प्रतिकूलः आसीत् पाद इति चेत् तदाह धैर्यामुक्तलीलासमुचित-

पतनापातपीतासुरासीत् धैर्येणामुक्तं लीलायाः समुचितः योग्यं यदात्मनः पतनं पातस्तस्यापाते आरम्भे एव पीता असवो येन छलेन महिषतनुर्यस्येति विग्रहः, देवीपक्षे वामो दक्षिणेतर उच्यत इति ॥१०॥

साम्प्रतं देवीचिकीर्षितमन्तरेण नखानामेव तद्वधकर्तृत्वमुपपादयति—

वद्धो व्याजैर्गराजः स दशभिरभिनत् पाणिजैः प्राक् सुरारेः
पञ्चैवास्तं नयामो युवतिचरणजाः शत्रुमेते वयं तु।
इत्युत्पन्नाभिमानैर्नखशशिमणिभिर्ज्योत्स्नया[1] स्वांशुमय्या
यस्याः पादे हतारौ हसित इव हरिः सास्तु शान्त्यै शिवा वः[2]॥११॥

कुं०वृ०—सा शिवा वः शांत्यै सर्वोपद्रवना(१8 a)शाय भूयात्। सा का, यस्याः नखशशिमणिभिर्हरिः श्रीनृसिंहो हसित इव। यद्यपि 'हसितविडंबितवर्जितादयः शब्दाः कविसमये उपमावाचकाः' इति कृत्वा हसित-ग्रहणेनैव उपमायां सिद्धायां इव-ग्रहणं प्रत्युत उपमेयस्यैवाधिक्यद्योतनार्थं कविना पृथक् कृतं, इति अस्ति स्थितिः। अप्रसिद्धमुपमेयं प्रसिद्धमुपमानं अत्र तु तद्विपर्ययः। अथवाऽव्ययानामनेकार्थत्वात् इव-शब्द एवकारार्थः, हसित एव न तत्सदृशो बभूवेत्यर्थः, इति पौनरुक्त्यपरिहारः। क्व सति, पादेऽर्थात् देव्याश्चरणे हतारौ सति, हतो व्यापादितोऽरिर्येन स तथा। शशिनो मणयः शशिमणयः चंद्रकांताः नखाः शशिमणय इव नखशशिमणयः, उपमितं व्याघ्राद्यैः सामान्यप्रयोगे इति समासः, तैः नखशशिमणिभिः। अत्र यद्यपि लक्षणमस्तीत्येतावतैव लक्षणानुगतः प्रयोगो रसभंगे न कर्त्तव्यः, काव्यस्य रसात्मकत्वात्, रसस्य च शब्दार्थौचित्येनैव प्रयोगपरिपोषदर्शनात्। 'प्रसिद्धौचित्यबंधस्तु रसस्यौपनिषत् परे'ति च वचनात्। नखानां च प्राधान्यं तत्त्वेन च विधीयमानत्वं; अत्र च यथा 'सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ' तथा नखान् अनूद्य शशिमणित्वं विधीयते। विभक्त्यन्वयव्यतिरेकाभिधायिनी हि विशेषणानां विधेयतावगतिः तत एव च एषां विशेष्ये प्रमाणांतरसिद्धोत्कर्षापकर्षाऽभिधायिनां शाब्दे गुणभावेऽप्यार्थं प्राधान्यं विशेष्याणां च शाब्दे प्राधान्येऽप्यार्थो गुणभावोऽनूद्यमानत्वादित्युक्तम्। अत्र च पृथग् विभक्त्यभावान्नोत्कर्षावगतिरिति न तन्निबन्धना रसाभिव्यक्तिरिति कृत्वा नखानां 'प्रधानाऽप्रधानयोः

१. ज० इत्युत्पन्नाभिमानैर्गतिरुचिरनखैर्ज्योत्स्नया।

२. का० सास्तु काली श्रिये वः।

प्रधाने कार्यप्रत्यय' इति न्यायाच्च विधेयत्त्वे पृथक्त्वेन वा निर्देशे प्राप्ते हरिशब्दे श्लेषाभित्सया सिंहस्य बुद्ध्युपारोहात् तदपेक्षया निकृष्टत्वेन शशित्वारोपात् समर्थसाध्येऽसमर्थसाध्यत्वात् आपादनमुपहासविषयौचित्यमादधाति, इति कृत्वा कविः स्वातंत्र्यमापन्नो यद् इच्छति करोति तत् प्रमाणयन् नखानां प्राधान्यं समासेन अस्तंगमितवान्नित्यलमतिविस्तरेण। अत एव हसितहरिरित्यत्रापि इव-शब्दोपादानं कवेर्निरर्गलतामेव द्योतयतीति पुनरुक्तमेव, हसित इत्यस्य मुख्यार्थबाधे सति तत्सदृशार्थप्रतीतेः सामर्थ्यसिद्धत्वोपगमात् वाच्यो ह्यर्थो न तथा स्वदते यथा स एव प्रतीयमानः। तथा च कविरहस्यम्—

'वाच्यात्प्रतीयमानोऽर्थस्तद्विदां स्वदतेऽधिकम्
रूपकादिरतः श्रेयान् अलङ्कारेषु नोपमा'। इति
एकैवालङ्कृतिर्यत्र शब्दत्वे चार्थभेदतः।
द्विरुच्यते तां मन्यन्ते पुनरुक्तिमतिस्फुटम् ॥

इत्यादि बहुवक्तव्ये सत्यपि नोच्यतेऽप्रस्तुतत्वादिति। नखशशिमणिभिरिति अत्र कर्त्तरि तृतीया 'कर्त्तृकरणयोस्तृतीयेति' सूत्रेण। कया ज्योत्स्नया ज्यो[18b] त्स्नयेत्यत्र कर्त्तृकरणयोस्तृतीयेत्यनेन सूत्रेण करणे तृतीया। 'भिन्नः शरेण रामेण रावणो लोकरावणः' इत्युदाहरणं दृष्टांतदार्ष्टांतिकयोरभेदो यथा—नखशशिमणिभिः कर्त्तृभिः ज्योत्स्नया करणभूतया हरिः कर्म्मतापन्नो हसित इति क्रियास्थानीयं पदं, तथा रामेण कर्त्रा शरेण करणभूतेन रावणः कर्म्मतापन्नो भिन्न इति क्रियास्थानीयं पदम्। अत्र केचन पण्डितम्मन्या देवानां प्रिया नखशशिमणिभिः अत्र तृतीयां सम्बन्धषष्ठ्यर्थे ब्रुवाणाः प्रष्टव्याः, अहो केयं तृतीया नाम या षष्ठीं बाधितुमुत्सहते 'षष्ठी शेषे' इति पाणिनीयमतपर्यालोचनया सर्वा विभक्तीर्बाधित्वा षष्ठी प्राप्नोति। सर्व्वाण्यपि कारकाणि सम्बन्धार्थमन्तरभा[वी]न्येव भवन्ति। 'एकशतं हि षष्ठ्यर्था' इति भाष्यकारोप्याह। अतः सर्व्वासां अर्थे षष्ठी प्राप्नोति, न पुनः षष्ठीं बाधित्वा तदर्थे काचिदिति कृतमनेन वैयाकरणोपालम्भेन। अत्र तदुचितमेवान्यत् किंचिद्विचार्यते साधु ज्ञातं तत् केयं तृतीया नामेति 'षडूर्मिरहितः शिव' इत्यत्र षडूर्म्मयोऽशनाद्या विद्यन्ते तर्हि एवं व्याकरणकर्त्तुर्मोहलक्षणां ऊर्म्म्यवस्थां बाधित्वा विद्यांतश्चाऽविद्यांतश्च तृतीया काचन विभक्तिर्भविष्यति। विद्यया ज्ञानेनाविद्ययाऽज्ञानेन कर्मलक्षणेन च तेषामयं व्यामोहो न याति। तेषां व्यामोहो यया याति सान्यैव काचन, एतद् द्वयादन्या ज्ञानाऽज्ञानव्यतिरिक्ता तृतीयाविभक्तिर्भविष्यतीति साधुदर्शनेभ्यस्तेभ्यो नमोऽस्तु। अथ किमर्थमसत् परिकल्प्यते, सत्येव दानभोगाभ्यां अन्या तृतीया विभक्तिः तस्य तृतीया गति-

र्भवतीति। तथा च पाणिनिराचार्यः 'अपवर्गे तृतीया' अपवर्गे अवसाने तृतीयैव प्राप्नोति। इदमेव सूत्रं श्रीहर्षमिश्रैरन्यथा व्याकृतम्, 'उभयी प्रकृतिः का मे सज्जेदिति मुनेर्मनः'। 'अपवर्गे तृतीये'ति भणतः पाणिनेरपि एवं या काचन तृतीया तैर्दृष्टा सा भवतु, वयं तु प्रकृतमेवाऽनुसरामः। केषां ज्योत्स्नयेत्यपेक्षायां विशेषण-द्वारेणाह—स्वांशुमय्या स्वकीयाश्च तेंऽशवश्च स्वांशवः तन्मयी तया स्वांशुमय्या, अत्र प्राचुर्य्ये मयट्, अंशुप्राचुर्यवत्या नखज्योत्स्नयेत्यर्थ., अत्र अचेतनानां नखानां हासासंभवात्। हतमहिषरुधिरक्षालनोत्तेजनोज्वलीभूतनखकिरणव्याजेन हास-साधर्म्याच्चेतनधर्म्म उपचर्यते। कथम्भूतैर्नखचन्द्रकान्तैः, इति वक्ष्यमाणप्रकारेण उत्पन्नाभिमानैः 'उत्पन्नोऽभिमानो गर्व्वो येषां ते तथा तैः। इतीति किं, सव्या-जैणराजः एणानां राजा एणराजः, व्याजेन एणराजो व्याजैणराजः कपटनृसिंहः। अत्र व्याजैणराज इति शब्दमहिम्ना व्याजसिंह एव प्रतीयते, अर्थाच्च नृसिंहो जायते। पाणिजैरिति शब्दसन्निधेश्च शब्दार्थस्यापरिच्छेदे सान्निध्यादीनां विशेष-स्मृतिहेतुत्वाऽभ्युपगमात् नृसिंह इति व्याख्यायते। अथ जनी प्रादुर्भावे 'वेजननप्रसव-विकारोत्पत्तिषु ड-प्रत्ययांतः। विशिष्टज्ञानवान् आ सामस्त्येन जायते इति [19a] व्याजो मनुष्यः, अज क्षेपणे। वैः कैतवे विशिष्टं आ सामस्त्येन जानाति। अथ भक्तानां दुरितानि क्षिपतीति व्याजो नरः। नरश्चासौ सिंहश्च व्याजसिंहः, विः कपटार्थं वक्तीति कपटनृसिंह इति शब्दः संपद्यते। अतः स व्याजैणराजो माया-नरसिंहः। प्रागित्याद्यन्वयः प्राक् पूर्व्वं सुरारेः सुराणां अरिः सुरारिः तस्य हिरण्य-कशिपोर्वक्षो हृदयं दशभिः पाणिजैः पाणेर्जाताः पाणिजाः अभिनत् विदारयामास अत्रायमभिसन्धिः। स इति परोक्षार्थसूचकतदो दर्शनात् नृसिंहेन दैत्यो व्यापादितः स्मर्यते परं न दृश्यते। तु पुनः वयं एते साम्प्रतमेव रिपुमस्तं नयामः। किं-विशिष्टा वयं, युवतिचरणजाः, अत्रापि च ते पुंपाणिजाः, अत्र पुंनार्योः पाणि-पादयोश्च सिंहशशकयोश्च बले विशेषो गर्वकारणं, तत्रापि च ते दश वयं तु पञ्चैव। एव शब्दो द्वितीयचरणनखव्यावृत्त्यर्थः वामपादेनैव हननात्, इति त्रिभि-र्हेतुभिरुत्पन्नाभिमानैरिति वाक्यार्थः। अत्र उपमारूपकश्लेषाऽलङ्काराः ॥११॥

सं.व्या.—११. शिवा गौरी वो युष्माकं शान्त्यै शान्तये अस्तु भवतु, यस्याः पादे अधिकरणभूते नखैर्हरिर्विष्णुः हसित इव, कया ज्योत्स्नया किंभूतया स्वांशुमय्या स्वांशवः कृता यासां तया, क्व सति हतारौ हतश्चासौ अरिश्च स हतारिः तस्मिन् हतारो व्यापादितमहिषसंज्ञशत्रौ, किमिव स्वैर्नखैरिति एवमुत्पन्नाभिमानैरिति वक्षो व्याजैण-राज इत्यादि, व्याजैणराजशब्देन ना मृगराजो अभिनत् भिन्नवान्, वक्षः उरः सुरारेः हिरण्यकशिपोः, प्राक् पूर्वं दशभिः पाणिजैः एते वयं पुनः पदैव [पञ्चैव]

युवतिचरणजाः युवतिचरणे जाताः शत्रुं महिषं विनाशं नयाम इति । अत्र पञ्चैव युवतिचरणजा इत्युत्पन्नाभिमानेन नखानामभिमानो हरिणा सह व्यतिरेकश्च प्रतिपादितः, अत एव हसित इव हरिरित्युक्तम् ।।११।।

इतो महिषे व्यापादिते भगवत्याः क्रीडावर्णनं प्रस्तौति—

रक्ताक्तेऽलक्तकश्रीर्विजयिनि विजये नो विराजत्यमुष्मिन्
हासो हस्ताग्रसंवाहनमपि दलिताद्रीन्द्रसारद्विषोऽस्य ।
त्रासेनैवाद्य सर्वः प्रणमति कदनेनामुनेति क्षतारिः
पादोऽव्याच्चुम्बितो वो रहसि विहसता त्र्यम्बकेणाऽम्बिकायाः ।।१२।।

कु.वृ— इदानीं सर्व्वातिशायिवीर्यां व्यापादितशत्रुं भ(ग)वतीविपक्षक्षेपाविर्भूतरौद्ररसोपशमनेन श्रृंगारं आविर्भावयितुं श्रांतसंवाहनादिलोकप्रचाराचरणार्थं च अलक्तकादिना प्रसाधनां कुर्व्वाणां विजयां सखीं प्रति उक्ति-व्याजेनाह, रक्ताक्ते इति । अम्बिकायाः पादश्चरणो वो युष्मान् अव्यात् रक्षतु । कथंभूतः पादः, रहसि एकांते इति विहसता विशिष्टं हास्यं कुर्व्वता, त्र्यम्बकेन त्रिनेत्रेण त्रीणि अम्बकानि यस्य स तेन प्रसाधनं कुर्व्वन्तीं विजयां इति वक्ष्यमाणं उक्त्वा चुम्बितः मुखेनाश्लिष्टः, चुम्बित इति ग्राम्यवचनेन क्लिष्टकर्म्मोत्तीर्णाया भगवत्या विषये परमेश्वरस्यौत्सुक्यं दर्शयति । अन्यथा एषां प्रतीयमानतैव रसोत्कर्षं पुष्णाति, न पुनः साक्षादुपादानं, त्र्यंबक इति अत्यादरेण नेत्रद्वयासाध्यत्वेन त्रिभिरपि नेत्रैर्देवीं विलोक्य चुंबितेति त्र्यम्बकशब्दं प्रयुञ्जानस्य भावः । कथंभूतः पादः, क्षतारिः व्यापादितरिपुः तदेव वक्ष्यमाणमाह, हे विजये ! प्रियसखि ! रक्तेनाक्तो रक्ताक्तः(तस्मिन्), महिषरुधिरारुणे अमुष्मिन् अलक्तकश्रीर्यावकशोभा नो विराजति । अलक्तकेन रचिता श्रीः अलक्तकश्रीः अलक्तकस्तिष्ठतु यतोऽयं रक्ताक्तः, अलक्तकः सामान्यस्त्रीषु शोभते अमुष्मिन् चरणे रक्तेनैव शोभा इदमेव रक्तं जगच्छोकापहारि; वा श्लेषे रलयोर्न भेद इति । अयं रक्तकस्तिष्ठतु, चरणस्तु रक्ताक्तो विद्यते, अरक्तकरक्तयोः सहानवस्थाना(19b)द्विरोधः । पुनः किंविशिष्टे विजयिनि जयशीले, यतो हि विजयिनि जयश्रीः स्वभावतो रक्ता विद्यते अतोऽलं पुनरुक्त्या । अथ यस्मिन् एकस्या अयुतसिद्धोऽनुरागः तत्रानुरक्तको ननु रागवान् कथं संयुज्य[ते] इति भावः । अथ स्त्रियां अनुरक्तस्य न पुंसा संयोगः सामंजस्यमावहति । अथ च नाहमलक्तकं ददामि किंतु श्रांतायाः स्वामिन्याः हस्ताग्रसंवाहनं करोमि इति विजयोक्तिमाशंक्याह हे विजये ! अस्य वामचरणस्य हस्ताग्रसंवाहनमपि हासः, अत्र स्थायी एव उद्रिक्तः सन् रमतां इतः इति रसवदलंकारता अस्येत्येकवचनं

पादस्य कर्म्मणि प्रधानस्यैव फलभाक्त्वात् वामपादस्यैवोपचरणं युक्तिमिति दर्शयितुम् । अपिः पूर्व्वोक्तसमुच्चयार्थः, किंविशिष्टस्याऽस्य दलिताद्रीन्द्रसारद्विषः अद्रीणामिन्द्रोऽद्रीन्द्रो हिमालयः तस्य सार इव सारो अस्य, उपमानसमासः, स चासौ द्विट् च स तथा दलिताऽद्रीन्द्रसारद्विट् येन स तस्य एतदुक्तं भवति । येनाचलप्रायो रिपुर्व्यापादितः तस्य विजयाकरतलस्पर्शः कियानिति । अथ च नाहं संवाहनोद्युक्ता किन्तु कृताञ्जलिर्नतिं आतनोमीति विजयोदितमाशङ्क्याह-ज्ञानं तर्हि भक्तिपरत्वं त्वमपि किं एतस्मात्त्रस्यसि, एवेति वितर्के, यतोऽद्य अमुना कदनेन त्रासेन सर्व्वः सकलोऽपि लोकः एनं प्रणमति नमस्यति त्वं अपि तदन्तर्गतासीति नतियुक्तेति उपहासार्थः । कदनेन त्रासेनेत्युभयत्र हेतौ तृतीया । कदनहेतुकं त्रासनिमित्तं नतिं सर्व्वः करोतीति वाक्यार्थः । रसवद्रूपकव्याजोक्त्या विशेषोऽलङ्कारः ॥१२॥

सं० व्या०-१२. अम्बिकायाः गौर्याः पादः क्षतारिः वो युष्मान् अव्यात् रक्षतु, क्षतो अरिर्येन इति विग्रहः, किंविशिष्टः रहसि एकान्ते अन्यं विनयप्रकारं अपश्यता त्र्यम्बकेन त्रिनयेन चुम्बितः, किं कुर्वता विहसता प्रहसता एवं अमुना प्रकारेण किं कुर्वता इत्यर्थः, कथमिति तदुच्यते रक्ताक्ते इत्यादि, हे विजये ! सखि न विराजति न शोभते अमुष्मिन् चरणे किम्भूते विजयिनि विजयशीले रक्ताक्ते रक्तेन अत्याक्ते का न विराजति अलक्तकश्रीः शोभा, हस्ताग्रेण सम्मर्द्दनं तदपि हासो हास्यं अस्य ह्रियमाणे ऽऽऽऽऽऽऽ न दलिताद्रीन्द्रसारद्विषः दलितोऽद्रीन्द्रसारः द्विट् महिषो येन विनयं साधयतीत्याह अमुना कदनेन महिषवधलक्षणेन कदनेन कृतेन यस्त्रासश्चमत्कारः तेनैवाद्याधुना सर्वः प्रणमतीति ॥१२॥

इदानीं महिषे व्यापादिते स्वास्थ्यमितायां भगवत्याः शक्रादीनां प्राप्तकालायाः स्तुतेः प्रस्तावं दर्शयन्नाह—

भङ्गो न भ्रूलतायास्तुलितबलतयाऽनास्थमस्थ्नां तु चक्रे
न क्रोधात् पादपद्मं महदमृतभुजामुद्धृतं शल्यमन्तः ।
वाचालं नूपुरं नो जगदजनि जयं शंसदंशेन पार्ष्णे-
र्मुष्णन्त्याऽसून् सुरारेः समरभुवि यया पार्व्वती पातु सा वः ॥१३॥

कुं०वृ०-सा पार्व्वती वो युष्मान् पातु । सा का यया भ्रूलताया भङ्गो न चक्रे न कृतः नाकारि । भ्रूरेव लता भ्रूलता तस्याः, पुनः अस्थ्नां महिषकीकसानां भङ्गः कृतः कथं यथा स्यात् तुलितबलतया परिच्छिन्नबलत्वेन अनास्थं अ स्थारहितं यथा स्यात्, अयत्नमिति यावत्, अनाक्षेपं वा संभावनारहितं वा । महिषास्थिभङ्गे कस्यचिदपि संभावना एव मा भूत्, इति एतदुक्तं भवति, कोपचिह्नं भ्रूभङ्गं

विनापि अप्रयत्नेनैव वा नाक्षिप्यैव महिषस्यास्थ्नां भङ्गो व्यधायि। तु पुनः अन्यच्च, क्रोधात् पादपद्मं नोद्धृतं अर्थान्महिषशिरसः, तु पुनः अमृतभुजां देवानां अमृतं भुञ्जते इत्यमृतभुजः। अतः हृन्मध्यात् महदिति अनन्यनिरसनीयं शल्यं महिषलक्षणं उद्धृतं, अयमर्थः। क्रोधात् महिषशिरसि न्यस्तं पादं अनुद्धृत्यैव देवशल्यमुद्धृतं पादप्रहारमात्रेणैव देव्या[वा] निःशल्या बभूवुरित्यर्थः। अपरं च, तत्सन्नूपुरं धीरतया अचलनत्वेन वाचालं सशिञ्जितं नाऽजनि न जनितं, नूपुर-शब्दस्य महाकविप्रयोग(20a)त्वान्नपुंसकता न विचारणीया। तु पुनः महिषवधानन्तरं जगत् जयं शंसत् अजनि, 'जय जये'तिघोषपरं जातं, नूपुरमजनीति विण्, भावकर्म्मणोरिति कर्मणि विण्, जगदजनीति। दीपजनेत्यादिना कर्त्तरि विणिति मन्तव्यम्; अयमभिसंधिः यावता नूपुरमपि सशब्दं नाभूत् तावदेव हतेऽरौ जगत् स्तोत्रकृज्जातमित्यर्थः। कर्म्मणि विण्। पक्षे भवान्या तच्छिरसि तथा श्लक्ष्णतया सलीलं पादो न्यधायि यावन्नूपुरोऽपि सशब्दो न जातः हेलयैवाऽरिर्हतः; विनापि कारणं कार्योत्पत्तिरिति विभावना। 'अक्लेशेन कार्यकरणं समाधिर्वा विशेषणैर्यत्सा-कूतैरिति परिकरो' वा यथासंभवमलङ्कारयोजना। किं कुर्व्वन्त्या हरन्त्या मुष्णन्त्या कान् असून् प्राणान्, कस्य सुरारेः महिषस्य, केन पार्ष्णरंशेन पादतलपाश्चात्य-भागेन, क्व समरभुवि सङ्ग्रामभूमौ। अत्र भ्रूभङ्गे वक्तव्ये यल्लतापदोपादानं तस्यायमभिप्रायः, देवी महिषस्य प्राणान् मुष्णाति चोरयति, सहसैव हत इति सोऽपि न जानाति स्मेति हरणं, यश्च यस्य कस्यचित् यत्किञ्चन मुष्णाति स सर्वोऽपि आत्मप्राकट्यशङ्कया लतादेर्भङ्गं न करोति इति स्वभावः। अथ महिष-स्याऽसवश्चापहृताः ततः कारणाभावे कार्याऽनुदयात्। लताभङ्गकारणप्राणवत्ताभा-वात्, तत्कार्यभङ्गानुत्पत्तिः। अथवा, अयत्नेन महिषे हते शृङ्गारचेष्टा लीलादिसद्-भावात्। भ्रूलतोपादानं अत्र पूर्वस्मिन् व्याख्याने भगवत्या माहात्म्यवर्णनमपरि-पुष्टमिति भङ्ग्यन्तरेण व्याक्रियते, यया केवलं भ्रूलताया एव भङ्गो नाकारि किन्तु अनास्थं यथा स्यात्तथा महिषस्याऽपि भङ्गः कृतः, किमुक्तं भवति, भ्रूभङ्गसम-कालमेवाऽस्थ्नां भङ्गो जातः नास्थिभङ्गे प्रयत्नान्तरमभूदित्यर्थः। भ्रूभङ्गं दृष्ट्वा एव महिषस्य देहो विशकलित इति। तु पुनः, यया क्रोधान्महिषवधार्थं केवलं पादपद्मं नोद्धृतं महिषशिरसि न्यस्तो यावता चरणो नोद्दधारि किंतु अमृतभुजां अन्तःशल्यमपि उद्धृतं, अमृतभुजामिति कोऽर्थः अमरणधर्मता; अनु च, 'दुराधर्षो रिपुश्चेति शल्यम्', अनु च, महिषवधार्थं देव्या पादे उत्क्षिप्ते एव हतोऽस्मद्रिपुरिति निःशल्या अभूवन्। अनु च, यया केवलं नूपुरमेव वाचालं नोऽजनि किं च जगदपि जयं शंसद्यातं, चरणोत्क्षेपणसमये नूपुरे एव शब्दायिते जगत् 'जय जय देवि' इति मङ्गलघोषपरमभूदित्यर्थः। अयं क्रमः, यः कञ्चन हन्तुं उपक्रमं करोति स पूर्वं

भ्रूभङ्गचरणोत्क्षेपप्रहारान् करोति इति, जातिरलङ्कारोऽपि । अन्ये प्रागेव दर्शिता इति ॥१३॥

सं० व्या०—१३. पार्वती पर्वतपुत्री वो युष्मान् पातु रक्षतु, यया पार्वत्या पूर्वोक्तमेव न कृतं त्रितयं, अपरं च कृतं, कथमिति तदाह, भ्रूभङ्गो न भ्रूलतायाः भ्रू एव लता भ्रूलता तस्याः भ्रूलतायाः भङ्गो न चक्रे न कृतः, केन हेतुना तुलितबलतया तुलितं बलं सामर्थ्यं अर्थात् महिषस्य यया सा तुलितबला तद्भावे तत्, किं कुर्वत्या मुष्णन्त्या हरन्त्या असून्, कस्य सुरारेः महिषस्य, केन करणभूतेन पार्ष्णेः पादपश्चिमभागस्यांशेन, क्व समरभुवि सङ्ग्रामभूमौ, अस्थनां तु भङ्गश्चक्रे कृतो येन सुरारेः समररिपोरिति योज्यं, कथमनास्थं विद्यते न आस्था आदरो यत्र भङ्गकरणे तद्यथा भवत्येवं क्रोधाच्च पादपद्मं महत्त्वादन्तर्मध्यान्नोद्धृतं नोत्खातं, अमृतभुजां देवानां महच्छल्यमुद्धृतं, नूपुरं पादाभरणं वाचालं मुखरं नोऽजनि जगत् वाचालं जयं विजयं शंसत् कथयत् अजनीति नूपुरशब्दोऽत्रेतर एव सूत्रं महाकविप्रयोगान्तः पुंसि वर्त्तते(इति) वेदितव्यम् । अस्थ तु शब्दो पुनरर्थः ॥१३॥

इदानीं निष्पादितदेवकार्यया भगवत्याः क्रीडारसव्याजेन रणकर्म्माणि प्रकाशयन् स्तौति—

निर्यन्नानाऽस्त्रशस्त्रावलि[1] चलति[2] बलं केवलं दानवानां
द्राङ् नीते दीर्घनिद्रां द्वि(20b)षति न महिषीत्युच्यसे प्रायसो(शो)ऽद्य
अस्त्रीसंभाव्यवीर्या त्वमसि खलु मया नैवमाकारणीया
कात्यायन्यात्तकेलाविति हसति हरे[3] ह्रीमती हन्त्वरीन्वः ॥१४॥

कुं०वृ०—कात्यायनी दुर्गा वो युष्माकं अरीन् हन्तु । किंविशिष्टा कात्यायनी ह्रीमती ह्रीर्विद्यते यस्यां सा ह्रीमती । क्व सति, हरे महेश्वरे इति हसति सति । किंविशिष्टे हरे, आत्तकेलौ गृहीतक्रीडे, महतां किल स्व स्वकृते महति कर्मणि अन्येनाऽऽख्यापिते लज्जा भवत्येव, विशेषात् पत्युः सविधे स्त्रीणाम् । इतीति किं, हे कात्यायनि ! अद्य त्वं जाने प्रायशो बाहुल्येन मम महिषी इति नोच्यसे न कथ्यसे, कस्मात् ह्यतो दानवानां बलं केवलं एकाकि चलति पलायते एव, किंभूतं(बलं) निर्यन्नास्त्रशस्त्रावलि, निर्यन्ति निर्गच्छन्ति च तानि नानाऽनेकप्रकाराणि अस्त्राणि शरादीनि शस्त्राणि च खड्गादीनि, अथवा अस्त्रेण मन्त्रेण अभिमन्त्रितानि यानि

१ ज० तिर्यङ्नानास्त्रशस्त्रावलि ।
२ ज० चलित; का० बलति ।
३ ज० हसितहरे ।

शस्त्राणि तानि अस्त्रशस्त्राणि तेषां तथाविधानां आवलिः पंङ्क्तिर्यत्र तत्तथाभूतम्। कस्मिन् सति, द्विषति शत्रौ दीर्घनिद्रां मरणं नीते प्रापिते सति। कथं द्राक् शीघ्रं, किं च अद्य इदानीं खलु निश्चितं महिषीत्येवं मयाऽपि त्वं नाकारणीया नाह्वाननीया यतस्त्वमस्त्रीसम्भाव्यवीर्या स्त्रीषु संभाव्यं स्त्रीसंभाव्यं, न स्त्रीसंभाव्यमस्त्रीसंभाव्यं वीर्यं यस्याः सा अस्त्रीसंभाव्यवीर्या। अस्मिन् पाठेऽरीणां बलं पलायते, त्वं महिषीति नोच्यसे इति। परस्पराऽन्वयाभावादपरितोषे पाठान्तरमप्यस्ति, तिर्यङ्नानास्त्रशस्त्रावलि वलितमिति, वलितं च तत् बलं च वलितबलं, किंविशिष्टं तिर्यङ् तिरश्चीनं, पुनः किंविशिष्टं बलं, नानाऽस्त्रशस्त्रावलि, नाना अस्त्राः शस्त्रावलयो येन तत्तथा, एवमपि वलितबलमिति केनापि न संयुज्यते। अतः पाठान्तरे व्याख्यातं "निर्यन्नानास्त्रशस्त्रावलिवलितबले केवलं दानवानां" इति। निर्यन्नानाशस्त्रावलि वलतीति, किंविशिष्टे द्विषति, दानवानां बलं वलति संवृण्वति सति। किंविशिष्टं बलं केवलं मुक्तस्वामिकं निर्यत्। अद्य त्वं जानेः प्रायशः प्रायेण महिषीति नोच्यसे। मह्यां शेते इति महिषी युद्धे विजयसंदेहे इति। द्वयोर्युद्धमानयोः कस्य जयपराजयाविति संशय्य अद्य द्विषति व्यापादिते त्वयि च विजयवत्यां रणभूमौ स्थितायां महिषीशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्ताभावो जातः। अत्र वक्रोक्तिरलङ्कारः ॥१४॥

सं० व्या०—१४. कात्यायनी भगवती वो युष्माकं अरीन् शत्रून् हन्तु व्यापादयतु, किंविशिष्टा ह्रीमती ह्रीर्लज्जा विद्यते यस्याः सा ह्रीमती, क्व सति इति हसितहरे सति संजातहासे सति शङ्करे, किंभूते आत्तकेलौ आत्ता गृहीता केलिः परिहासो येन सः आत्तकेलिः तस्मिन् तथोक्ते हसित इति, हसनं हासस्वनं हासो वेति हासो जातोऽस्येति विगृह्य तदस्य जातं 'तारकादिभ्यः इतच्' हसितश्चासौ हरिश्चेति विग्रहः, कथं हसितहरेत्याऽऽशङ्क्याऽऽह, तिर्यङ्नानेत्यादि, चलितं च तद्बलं च चलितबलं, केषां दानवानां, किंभूतं तिर्यक् तिरश्चीनं, किंविशिष्टं पुनरपि नानाऽस्त्रशस्त्रावलि नोचा(नाना)अस्त्राः क्षिप्ताः शस्त्रावलयो येन तत्तथोक्तं, किमुक्तं भवति, मुक्तायुधं भूत्वा दानवानां बलं तिर्यक् चलितं, द्विषति शत्रौ महिषाख्ये, दीर्घा वाऽसौ निद्रा च दीर्घनिद्रा मृत्युः तां क्षिप्रं नीते सति त्वयेत्यर्थात्तेन सम्बन्धः, अत एव प्रायशः प्रायेणाऽद्य अधुना त्वं महिषीति नोच्यसे, कोऽभिप्रायः, किल महिषी महिषं न व्यापादयति त्वया तु व्यापादितः अत एव हेतोरस्त्रीसंभाव्यवीर्या त्वमसि भवसि, न स्त्रीसंभाव्यं अस्त्रीसंभाव्यमित्यर्थः अस्त्रीसंभाव्यं वीर्यं बलं यस्याः तव सा त्वं एवंविधा महिषीत्याकारयितुं न युज्यसे मया, स्त्री भार्या भवति सा महिषीत्युच्यते, त्वं महिषवधेन पुरुषचेष्टितत्वात् अपगतभार्याभावेति ॥१४॥

इदानीं पुनरपि वाक्छलेनाह—

जाता किं ते हरे भीर्भवति महिषतो भीरवश्यं हरीणा-
मद्येन्दो द्वौ कलङ्कौ त्यजसि जलनिधे[1] धैर्यमालोक्य चन्द्रम् ।
वायो कम्प्यस्त्वयाऽन्यो यम नय[2] महिषादात्मयुग्यं ययाऽरौ
पिष्टे नष्टं जहास द्युजनमिति जया साऽस्तु चण्डी[3] श्रिये वः ॥१५॥

कुं० वृ०— सा चण्डी वो युष्माकं श्रियेऽस्तु भवतु यया चण्डयाऽरौ पिष्टे सति जया देवीसखी द्युजनं देवलोकवासिनं इन्द्राद्यं इति जहास हासं चकार । किंविशिष्टं द्युजनं नष्टं पलायितं इतीति किं, हे हरे ! इन्द्र ! ते तव भीर्भयं किं जाता मत्सख्यां सत्यां(२।२) कथं महिषादबिभः, इति पृष्ट्वा हरिशब्दच्छलेन स्वयमेवाऽऽह अथ च स्वभावोऽयं त्वया नामसदृशमाचरितं, यतो हरीणां अश्वानां महिषात् भयं भवत्येव । एवं हरिं उक्त्वा इन्दुं आह, हे इन्दो ! अद्य तव द्वौ कलङ्कौ जातौ, एकेनाऽपि कलङ्किनं त्वां वदन्ति अलं अपरेण पलायनभयेनेति, द्वितीयस्त्वयि क्वाऽवकाशं आप्स्यतीति, इति इन्दुमुपहस्य वरुणमाह, हे जलनिधे ! त्वं चन्द्रं आलोक्य धैर्यं त्यजसि त्वं अपि धैर्यं त्यजन् दृश्यसे तर्हि किं पलायितं, चन्द्रं दृष्ट्वा त्यजसि, यस्य खलु पुत्रः पलाय्य गच्छति स धैर्यं त्यजत्येव; अथवा, इन्दु-दर्शनात् समुद्रो मर्यादां मुञ्चतीति, स्वभावोऽयम् । अथ जलनिधिशब्देन लक्षणया वरुणं उच्यते, जलनिधिशब्दः स्वार्थे बाधितशक्तिः सन्, वरुणस्य युद्धेऽधिकारात्, तत्सिद्ध्यर्थं जलनिधिशब्दः स्वार्थं वरुणे समयति(ते) । तत्र चन्द्रं पलायितं दृष्ट्वा तद्गताऽनुगतिकत्वेन वरुणस्याऽपि भीरभूदित्यर्थः । अथवा, जलनिधिः मूषसहायो भवति, स शूरवृत्तिं अपि त्यक्त्वा पलायते एवेति भावः । इतो वायुमाह, हे वायो ! त्वयाऽन्यः कम्प्यः कम्पनीयः, परं कम्पयतीति कम्पन इति निरुक्तेः, ततः किं त्वं कम्पसे, प्रतिविपर्ययेन साधीयानिति । अथ वाति गच्छतीति वायुत्वमेव युक्तं अङ्गीकरोषि; इदानीं यममाह, हे यम ! महिषात् आत्मयुग्यं नय प्रदेशान्तरं प्रापय इति प्रदेशान्तराऽऽध्याहारेण व्याख्यानं । अथ हे यम ! इति अकार-प्रश्लेषात् त्वं अन्यान् नियन्तुं क्षमः साम्प्रतं आत्मयुग्यमपि नियन्तुं न शक्नोषि यतस्त्वं रणादपनीयसे ॥१५॥

---

१. ज० का० त्यजति पतिरपां ।

२. ज० का० नय यम ।

३. ज० का० देवी ।

सं० व्या०–१५. सा देवी भगवती वो युष्माकं श्रिये सम्पदे अस्तु भवतु, यया देव्या अरौ महिषाख्ये पिष्टे चूर्णिते सति जया तदीयप्रतिहारी जहास हसितवती, द्युजनं स्वर्लोकं इन्द्राद्यं, किंभूतं नष्टं महिषभयेन पलायित, कथं जहास इत्येयं तदुच्यते 'जाताकिं ते हरेरित्या'दि, स्वस्वामिनीविजयगर्विता जया हरिशब्दं छलन्ती इन्द्रमुपेन्द्रं च तावत् सामान्योक्त्या द्युजनमेवं पृच्छती जहास, किं वा जाता अथवाऽभूत् हरेरिन्द्रस्य विष्णोश्च भीर्भयं यतोऽवश्यं निश्चितं महिषतः सकाशात् हरीणां भीर्भयं भवति, अत्र पक्षे, हरयोऽश्वा उक्ताः, अद्य अधुना इन्दोः चन्द्रस्य द्वौ कलङ्कौ एकस्तावल्लोके प्रसिद्ध एवाऽपरस्तु पलायनकृत इति, अम्पापतिर्वरुणश्चन्द्रं नष्टं आलोक्य धैर्यं त्यजति कातरो भवति कातरस्येदमपि स्वरूपं भवतीति भावः, छलपक्षे तु अपां पतिः समुद्रः स तु चन्द्रदर्शनात् सुतोत्कण्ठतया धैर्यं त्यजति चञ्चलो भवति वेलाभिमुखं प्रसरतीति, एतदधुनाश्चर्यमिदं विचित्रं यत्ते वायो ! कम्प्यस्त्वयान्यः, वायो ! पवन ! तव भवतां अन्यः कम्प्यः कम्पनीयः तत् किं स्वयं कम्पसे इत्यभिप्रायः, यम ! त्वं आत्मयुग्यं वाहनं महिषान्नय अयमत्र भावः धृष्टो महिषो अपरं महिषं दृष्ट्वा धावतीति ॥१५॥

शूलप्रोतादुपान्तप्लुतमहि[1] महिषादुत्पतन्त्या स्रवन्त्या
वर्त्मन्यारज्यमाने सपदि मखभुजां जातसन्ध्याविमोहः।
नृत्यन् हासेन मत्वा विजयमहमहं मानयामीतिवादी
यामाश्लिष्य प्रनृत्तः[2] पुनरपि पुरभित् पार्व्वती पातु सा वः ॥१६॥

कुं०वृ०–सा पार्व्वती वो युष्मान् पातु रक्षतु। सा का, पुरभिन्महेश्वरः पुरं भिनत्तीतिपुरभित्, यां आश्लिष्य पुनरपि प्रनृत्तः प्रकृष्टनृत्तो बभूव, प्रकर्षेण नर्त्तितुं प्रवृत्त इति यावत्। किंभूतः जातसन्ध्याविमोहः जातः सन्ध्याविमोहो यस्य स तथा, ईश्वरः खलु सन्ध्यायां नृत्यतीति सन्ध्याभ्रमान्नृत्यन्; ननु जगतां सृष्टिस्थितिप्रलयहेतोर्भगवतः सर्वज्ञस्य कथं मोहः, तदुच्यते—

देवा अपि न जानन्ति, यावन्न ध्यानमाश्रिताः।
तत्त्वदृष्टिं समालम्ब्य, पश्यप्यन्तर्गतेन्द्रियाः॥ इति

क्व सति, मखभुजां देवानां वर्त्मन्याकाशे आरज्यमाने सति अरुणीक्रियमाणे सति, कया स्रवन्त्या रुधिरनद्या, किंभूतया महिषात् उत्पतन्त्या। किंभूतान्महिषात् शूलप्रोतात् शूले प्रोतः तस्मात् कथं यथा भवति। उपान्तप्लुत-

---

१ का० शूलप्रोतादुपात्तक्षतमहि।
२ ज० प्रवृत्तः।

महि यथा भवति, उपान्ते समीपे प्लुता मही यस्मिन् तत्, क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकता । किं कुर्व्वन् नृत्यन् पुनः किंविशिष्टः देवानां(21b) हासेन, नेयं सन्ध्या भ्रान्तोऽहमिति मत्वा सपदि इति वादी इत्युक्तिपरः वदन्, इतीति किं सन्ध्याभ्रान्तोऽयं नृत्यतीति नाशङ्कनीयं किन्तु मत्प्रियायाः विजयमहं विजयमहोत्सवं मानयामि पूजयामीति, वा यां आश्लिष्य पुनर्नर्त्तितुं प्रवृत्तः सा पार्व्वति वाक्यार्थः । पुरां भेत्ताऽपि भगवत्याः सर्व्वातिशायि कर्म दृष्ट्वा पुरभेदनमपि आत्मनः कर्म्म कनीयो मत्वा विस्मितः सन् प्रियाया विजयमहे नर्त्तनमुचितं करोमीति भावः । अत्र भ्रान्तिमानलङ्कारः ॥१६॥

सं० व्या०—१६. सा पार्वती पर्वतपुत्री वो युष्मान् पातु रक्षतु, यां पार्वतीमाश्लिष्यालिङ्ग्य पुनरपि भूयोऽपि पुरभित् त्रिपुरारिः प्रवृत्तो नर्त्तितुमारब्धवान्, आदि कर्मणि क्त कर्त्तरि चेति पूर्वं, किं कुर्वन् नृत्यन् कथंभूतः जातसन्ध्याप्रमोहः जातो भूतः सन्ध्यायाः प्रमोहो भ्रमो यस्य सः तथोक्तः, किल सन्ध्यासमये हरो नृत्यतीति भावः, क्व सति जातसन्ध्याप्रमोहस्तदुच्यते आरज्यमाने आसमन्तात् रज्यमाने रक्ततया युज्यमाने, सपदि तत्क्षणं, क्व वर्त्मनि मार्गे केषां मखभुजां देवानां कया रज्यया रक्ततया युज्यमाने वर्त्मनि स्रवन्त्या नद्या, किं कुर्वत्या उत्पतन्त्या ऊर्ध्वं गच्छन्त्या, कुतो महिषात् महिषरूपिणो दानवात् आरज्यमान इति वचनात् रक्तं स्रवन्त्येति गम्यते, कथमुत्पतन्त्या उपान्तक्षतमहि उपान्तेऽभ्यर्णे क्षता मही यस्मिन् उत्पतने तद्यथा भवति एवमुत्पतन्त्या; समा(हार) विधेरनित्यत्वात् तद्यु(क्त) श्चेति क प्रत्ययो न जातः ततः क्रियाविशेषणत्वात् नपुंसकलिङ्गत्वे ह्रस्वमिति किं तत्त्वान्महिषात् उत्पतन्त्या शूलप्रोतात् शूलेनायुधविशेषेण प्रोताद्भिन्नादित्यर्थः, किं कृत्वा हरः पुनरपि प्रवृत्तः इत्युच्यते मत्वा सन्ध्या न भवति अस्मद्भार्याशूलप्रोतमहिषोत्पतद्रक्तनदीस्थमेवाकाशमिति ज्ञात्वा ततो हासेन परितोषेण च विजयमहं विजयमहोत्सवं मानयामि पूजयामि अहमित्यवादीत् एवमुक्त्वा पुरभित् यामाश्लिष्य पुनरपि प्रवृत्त इति सम्बन्धः ॥१६॥

नाकौकोनायकाद्यैर्द्युवसतिभिरसिश्यामधामा धरित्रीं
रुन्धन् वर्धिष्णुविन्ध्याचलचकितमनोवृत्तिभिर्वीक्षितो यः ।
पादोत्पिष्टः स यस्या महिषसुररिपुर्नूपुरान्तावलम्बी
लेभे लोलेन्द्रनीलोत्पलशकलतुलां[1] स्तादुमा सा श्रिये वः ॥१७॥

१. ज० का० लोलेन्द्रनीलोपलशकलतुलां ।

कुं०वृ०–सा उमा पार्व्वती वो युष्माकं श्रिये स्तात् भूत्यै भूयात्, सा का यस्याः स इति प्रसिद्धो महिषः सुररिपुः नूपरान्तावलम्बी सन् लोलेन्द्रनीलोत्पलशकलतुलां लेभे। इन्द्रनीलश्चासावुत्पलश्च इन्द्रनीलोत्पलः, लोलश्चासाविन्द्रनीलोत्पलश्च लोलेन्द्रनीलोत्पलः तस्य शकलं खण्डः तस्य तुलाँ तां; किंभूतः पादोत्पिष्टः पादेन उत्पिष्टः चूर्णितः पादोत्पिष्टः, यस्याः नूपुरे पादाभरणे इयानपि महिषः लोलेन्द्रनीलशकलवत् लघुर्दृष्ट इत्यर्थः। स कः यो द्युवसतिभिर्देवैः वीक्षितः, किं कुर्व्वन्, धरित्रीं रुन्धन् आवृण्वन्, पुनः किंविशिष्टः असिश्यामधामा, असेरिव श्यामं धाम यस्यासावसिश्यामधामा। कैः कैरित्युत्प्रेक्षायामाह, किंभूतैर्देवैः नाकौकोनायकाद्यैः नाके ओकांसि येषां ते नाकौकसः, तेषां नायक इन्द्रः स आद्यो येषां ते तथा तैः, पुनः किंभूतैः वर्द्धिष्णुविन्ध्याचलचकितमनोवृत्तिभिः, वर्द्धते इत्येवं शीलो वर्द्धिष्णुः, वर्द्धिष्णुश्चासौ विन्ध्याचलश्च वर्द्धिष्णुविन्ध्याचलः, वर्द्धिष्णुविन्ध्याचलेन चकिता मनोवृत्तिर्येषां ते तथा तैः, उपमागर्भं विशेषणम्। यथा पूर्व्वं सूर्यवर्त्मनिरोधार्थं वर्द्धमाने विन्ध्याद्रौ देवान् भयमाविशत् तथैवाऽयं भूमण्डलं मारयिष्यतीति त्रस्तमनस्कैरित्यर्थः ॥१७॥

सं० व्या०—१७. सा उमा गौरी वो युष्माकं श्रियै विभूत्यै स्तात् भवतु, स्तादिति तु 'ह्योस्तातङाशिषि चे'ति तातङादेशः, यस्याः उमायाः पादोत्पिष्टः पादेन चूर्णितो वर्तुलीकृतः अपकृतोऽपि लघुतामापन्नः स महिषः सुररिपुः लेभे लब्धवान्, महिषश्चासौ सुररिपुश्चेति विग्रहः, कां लेभे लोलेन्द्रनीलोपलशकलतुलां इन्द्रनीलश्चासौ उपलश्च इन्द्रनीलोपलस्तस्य शकलं भित्तं इन्द्रनीलोपलशकलं लोलं च तत् इन्द्रनीलोपलशकलं च तस्य तुलां तुल्यतां लेभे इत्यर्थः। किंभूतो महिषो नूपुरान्तावलम्बो, नूपुरस्यान्तो मध्यं तदवलम्बितुं शीलमस्येति नूपुरान्ताऽवलम्बी नूपुरमध्यगत इत्यर्थः। किंविशिष्टः, वीक्षितः अवलोकितः, किं कुर्वन् रुन्धन् आवृण्वन् विपुलत्वेन, धात्रीं धरित्रीं, कैः दृष्टो, द्युवसतिभिः द्यौः स्वर्गो निवासो वसतिर्येषामिति विग्रहः, नाकौकसो देवास्तेषां नायक इन्द्रः स आद्यः आदिमो येषां तैस्तथोक्तैः। किंभूतो महिषः असिश्यामधामा असिरिव श्यामं धाम यस्य सः तथोक्तः, य एवंविधः अत एवोक्तं वर्द्धिष्णुविन्ध्याचलचकितमनोवृत्तिभिर्वीक्षितः इति, वर्द्धनशीलः वर्द्धिष्णुश्चासौ विन्ध्याचलश्च तत्र चकितं शङ्कितं यन्मनस्तत्रवृत्तिर्वर्त्तनं येषां तैः तथोक्तैः द्युवसतिभिरिति ॥१७॥

दुर्व्वारस्य द्युधाम्नां महिषितवपुषो विद्विषः पातु युष्मान्
पार्व्वत्याः प्रेतपालस्वपुरुषपरुषं[1] प्रेषितोऽसौ पृषत्कः ।
यः कृत्वा लक्ष्यभेदं क्षतभुवनभयो[2] गां विभिद्य प्रविष्टः
पातालं पक्षपालीपवनकृतपतत्ताक्ष्यर्यशङ्काकुलाहिः ॥१८॥

कुं० वृ०—असौ पृषत्को बाणो युष्मान् पातु रक्षतु, कथंभूतः पृषत्कः पार्व्वत्याः प्रेषितः, कथं यथा भवति प्रेतपालस्वपुरुषपरुषं यथा स्यात् तथा, स्वकीयः पुरुषः स्वपुरुषः प्रेतपालस्य स्वपुरुषः प्रेतपालस्वपुरुषः तद्वत्परुषः कठोरः, अत्र प्रेतपालपुरुषः एतावतैव यमदूते लब्धे स्वग्रहणं निजत्वविश्वासस्थानीयत्वं द्योतयति, प्राणान् अनुपादाय नागच्छतीत्यर्थः । असाविति कः, यः पृषत्कः, विद्विषो मायाबलात् सिंहादिरूपाणि विधायनानि(?) देव्या अकिञ्चित्कराणि मत्त्वा पुनर्महिषीकृतशरीरस्य; तदुक्तं मार्कण्डेयेन 'ततः सिंहोऽभवत्स (22 a) द्यः' इत्यादि; किंविशिष्टस्य विद्विषः महिषितवपुषः, महिषितं महिषीकृतं वपुर्येन स तथा तस्य,लक्ष्यभेदं कृत्वा पातालं प्रविष्टः, लक्ष्यस्य भेदो लक्ष्यभेदः, विद्विषः लक्ष्यस्य भेदं कृत्वा इति वक्तव्ये लक्ष्यभेदमिति सापेक्षोऽयं समासः । कथंभूतः क्षतभुवनभयः निवारितत्रिभुवनभीतिः किं कृत्वा पातालं प्रविष्टः, गां विभिद्य भित्वा, कथंभूतं पातालं पक्षाणां पाल्यः पङ्क्तयः पक्षपाल्यः पक्षपालीनां पवनो वायुः तेन कृता या पततस्ताक्ष्यर्यस्य शङ्का भीतिः तया आकुला अहयो यत्र तत् तथा ॥१८॥

सं० व्या०—१८. दुर्वारस्येति ॥ असौ पृषत्को वो युष्मान् पातु रक्षतु । पार्वत्याः प्रेषितः प्रहितः प्रेतपालस्वपुरुषपरुषः प्रेतपालो यमस्तस्य पुरुष आत्मीयो मनुष्यः तद्वत् परुषो निष्ठुरः, किमुक्तं भवति यमदूतकायः कस्य प्रेषितो, विद्विषः शत्रोः, किम्भूतस्य महिषितवपुषः, माहिषं वपुः शरीरं यस्य तस्य, पुनः किंभूतस्य दुर्वारस्य, केषां द्युधाम्नां देवानां द्यौः निवासो धाम येषां इति विग्रहः । यः कीदृशः शरः पातालं प्रविष्टः रसातलाभ्यन्तरीभूतः, यः पूर्वं कीदृशो लक्ष्यं प्रकृतत्वान्महिषस्तस्य भेदो लक्ष्यभेदो लक्ष्यभेदस्तं कृत्वा कृतं भुवनभयं येन स तथोक्तः । एतदुक्तं भवति, महिषे भिन्ने सति भुवनानामपि भयमुदपादि मास्या नेष भीनदीती(?) [गामेषोऽभिनदिति] किंविधो यः पातालं प्रविष्टः पक्षपालीपवनकृतपतत्ताक्ष्यर्यशङ्काकुलेन आकुला अहयो येन सः तथोक्तः, यथा पूर्वं सुपर्णेन पातालं पतता पक्षपालीपवनेन फणिनस्त्रासितास्तथा पार्वतीशरेणापि ॥१८॥

---

१. ज० का० प्रेतपालस्वपुरुषपरुषः ।
२. का० हृतभुवनभयो; ज० कृतभुवनभयो ।

वज्रं विन्यस्य हारे हरिकरगलितं कण्ठसूत्रे च चक्रं
केशान् बद्ध्वाब्धिपाशैर्धृतधनदगदा प्राक्प्रलीनान् विहस्य ।
देवानुत्सारणोत्का किल महिषहतौ मीलतो ह्रेपयन्ती
ह्रीमत्या हैमवत्या विमतिविहतये तर्ज्जिता स्ताज्जया वः ॥१९॥

कु० वृ०—जया देव्याः प्रतीहारी वो युष्माकं विमतिविहतये स्तात् दुर्म्मति-विनाशाय भूयात्, किंविशिष्टा जया, तर्जिता भर्त्सिता, कया हैमवत्या पार्व्वत्या, किंभूतया ह्रीमत्या, ह्रीर्विद्यते यस्याः सा ह्रीमती तया, इदं कर्म यन्मयाऽद्भुत-मकारि तत्पुरुषस्य कर्त्तुं युक्तं न अबलाया इति; अथवा सतां स्वकीयकृत-कर्म्मख्यापने लज्जा भवत्येव । किंभूतान् देवान् ह्रेपयन्ती लज्जां प्रापयन्ती, किं कृत्वा विहस्य अर्थात् देवान् किंभूतान् प्राक्प्रलीनान्, पूर्व्वं पलायितान्, पुनः किंभूतान्, किल इति मन्ये, महिषवधे मीलतः एकीभवतः । किंविशिष्टा जया उत्सारणोत्का निवारणतत्परा, पुनः किंभूता जया, धृतधनदगदा धृता गृहीता धनदस्य गदा यया सा तथा । अन्याऽपि प्रतीहारी किल गृहीतवेत्रा भवति, भयत्रस्त-धनदहस्तयुतां गदां वेत्रस्थाने कृत्वेत्यर्थः । किं कृत्वा, हारे हारयष्टौ वज्रं इन्द्रा-युधं विन्यस्य, हारे किल वज्रो हीरको विन्यस्यते; वज्रं हरिकरगलितं इन्द्र-हस्ताच्च्युतं; वज्रशब्द उभयलिङ्गः । च पुनः कण्ठसूत्रे कण्ठाभरणस्थाने चक्रं विन्य-स्यति, पक्षे चक्रं कण्ठाभरणविशेषः, किंभूतं चक्रं, हरिकरगलितं इन्द्रहस्तात् कृष्णकराच्च्युतं, पुनः किं कृत्वा अब्धिपाशैर्वरुणपाशैः केशान् बद्ध्वा संयम्य, अब्धिशब्देनाऽत्र तदधिष्ठात्री देवता वरुणो लभ्यते । ननु कथमत्राऽब्धिशब्देन वरुणः प्रतिपाद्यते, यावता न केनापि अब्धिशब्देनाऽभिधीयते ? उच्यते, अब्धेः पाशाऽसंभवात्, तात्स्थ्यादभेदोपचाराद्वा लक्षणया वरुण उच्यते ॥१९॥

सं० व्या०—१९. वज्रमिति ॥ जया गौर्याः प्रतीहारी स्तादस्तु वो युष्माकं किमर्थं विमतिविहतये, विरूपा मतिर्विमतिस्तस्या विहतिर्विमतिविहतिस्तस्यै विमति-विहतये, तादर्थ्ये चतुर्थी । किंविशिष्टा जया, तर्जिता शिष्टा, कया हिमवतोऽपत्यं हिमवती (हैमवती) । ह्रीर्विद्यते यस्याः सा ह्रीमती तया ह्रीमत्या हैमवत्या । किं कुर्वती जया, ह्रेपयन्ती लज्जयन्ती, कान्, देवान्, किं कुर्वतः, मीलतः एकीभवतः, क्व महिषहतौ महिषवधे, किंभूता जया, प्रतीहारकर्मणि स्थिता किलोत्सारणोत्का, विहस्योपहस्य, किंभूतान् प्राक् प्रलीनान् प्राक् पूर्वं प्रकर्षेण लीनान् अदर्शनमुपगतान् । हासस्तु तदीयमुक्तायुधग्रहणेनैव दर्शितः, तथोच्यते वज्रं विन्यस्येत्यादि, किंभूता जया उत्सारणोत्का, किं कृत्वा धृतधनदगदा वज्र-

मायुधविशेषं हारे विन्यस्य, किंभूतं वज्रं हरेरिन्द्रस्य करो हस्तः ततो गलितं, महिषक्षोभादिति विज्ञेयं, न केवलं वज्रं हारे विन्यस्य कण्ठसूत्रे ग्रैवेयके चक्रं विन्यस्य तदपि हरिकरगलितं विष्णुकराद्भ्रष्टम् । अब्धिर्वरुणस्तस्य पाशा अब्धि-पाशास्तैः केशान् धम्मिल्लान् बद्ध्वा संयम्य, अत्र योगः कर्तुं युक्त इति वज्र-चक्रे तत्र विन्यस्ते, केशबन्धस्तु दृढमावरुणपाशैः कृत इति भावार्थः । यातानैक्षत देवानित्थंभूतान् जया मीलतः उत्सारणोत्का ह्रेपयन्ती, अत एव प्रधानदेवोपहास-कारणेन ह्रीमत्या हैमवत्या तर्ज्जितेति ।।१९।।

खड्गे पानीयमाह्लादयति हि महिषं पक्षपाती पृषत्कः
शूलेनेशो यशोभाग् भवति परिलघुः स्याद्वधार्हे तु[1] दण्डः ।
हित्वा हेतीरितीवाभिहतिबहलितप्राक्तनापाटलिम्ना
पार्ष्ण्यैव प्रोषितासुं सुररिपुमवतात् कुर्वती पार्व्वती वः ।।२०।।

कुं० वृ०—पार्व्वती पर्व्वततनया वो युष्मान् अवतात् रक्षतु । किं कुर्वती, पार्ष्ण्या एव सुररिपुं प्रोषितासुं गतप्राणं कुर्वती ; एवकारोऽत्र साधनान्तरव्या-वृत्यर्थः (22b) वामपादैकदेशेनेत्यर्थः, किंभूतया पार्ष्ण्या अभिहतिबहलितप्राक्तना-पाटलिम्ना, अभिहतिरभिघातः तेन बहलितः सान्द्रीकृतः प्राक्तनः पूर्वः, आ सामस्त्येन पाटलिमा यस्याः सा तथा तया, 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः', पार्ष्णेः किल नैसर्गिकं रक्तत्वं विद्यते, अविद्यते न; तत् घनीभूतमित्यर्थः । किं कृत्वा इतीव हेतीरायुधानि हित्वा त्यक्त्वा, इतीति किं खड्गादिषु आयुधेषु सत्सु किं इति पार्ष्णिप्रयासाय परमेश्वरी प्रवृत्ता तत्कविः श्लेषोक्त्योत्प्रेक्ष्य आह, खड्गस्ताव-त्तिष्ठतु, कथं-खड्गे पानीयं विद्यते तच्च महिषं आह्लादयति, यो यस्याह्लादको भवति स तस्य मारणाय प्रवर्त्तते ? पानीयं खलु लोके महिषाह्लादजनकं भवति, उत्तेजिते खड्गे निर्म्मला छाया पानीयशब्देन व्यवह्रियते । तर्हि बाणः किमिति नोपात्तं तदाऽऽह, पृषत्को बाणः हि यस्मात् पक्षपाती, पक्षे पततीत्येवंशीलः, अत्रो-क्तिलेशः यः पक्षपाती भवति स परं प्रति प्रहितो न कार्यं साधयतीति न शत्रुषु प्रेरयितुं योग्यः । आत्मीयभावः पक्षपातः 'उभयवेतनी पक्षपाती च न तेषु प्रयोज्य' इति हि नीतिविदां रहस्यं, अत्रोभयत्र शब्दच्छलम् । किं च शूलेन महिषे हते ईश ईश्वरो यशोभाग्भवति, सत्यपि देव्याः शूले आयुधे ईश्वरस्यैवाऽसाधा-रणमायुधमिति शूलीति नामश्रवणात् । अतः शूलं न तत्र व्यापारयामास, तदा आयुधेन हननात् तस्यैव यशो भवतीति । अथ ईष्टे इति 'ईट् क्विपि' षष्ठयन्त-

१. ज० का० स्याद्वधार्हेऽपि ।

रूपम् [ईशः] शूले तस्मिन्निखाते सति, शूलस्यास्तीति शूली इति ईश्वरस्य यशो गृह्णाति, शूलिशब्दस्य वाच्यत्वात्, अतः शूलं नोपात्तमिति भावः। तर्हि दण्डः किमिति नोपात्त इति आशङ्क्याऽऽह, वधार्हे वधमर्हतीति वधार्हः तस्मिन् वधयोग्ये दण्डो वित्तादानं, दण्डशब्देन वित्तादानं आयुधविशेषश्च शब्दच्छलेनोच्यते, स दण्डः परिलघुः अत्यल्पः स्यात्, वध्ये नीतिशास्त्रविरोधात् वध एव न्याय्यो न दण्ड इति भावः। एवं तत्तद्दोषदर्शनात् हेतीर्हित्वा पार्ष्ण्या एव रिपुं व्यापादयन्ती भगवती वः पायादिति वाक्यार्थः ॥२०॥

सं०व्या०-२०. खड्गे पानीयमिति। पार्वती पर्वतपुत्री वो युष्मान् अवतात् रक्षतु किं कुर्वती, सुररिपुं देवशत्रुं प्रोषितासुं विगलितप्राणं कुर्वती, प्रोषिता असवो यस्येति विग्रहः। कया प्रोषितासुं कुर्वती, पार्ष्ण्यैव पादपश्चिमभागेनैव न आयुधेन इत्येव शब्दोऽवधारयति अत एवायुधानां खड्गादीनां अत्र कविरुत्प्रेक्षया परिहार-मुक्तवान्। किंभूतया पार्ष्ण्या अभिहतिबहलितप्राक्तनापाटलिम्ना अभिहत्या अभि-घातेन बहलितः सान्द्रीकृतः प्राक्तनः पूर्वं आ(समन्तात्) पाटलिमा आपाटलत्वं यस्याः पार्ष्णेः सा तथोक्ता तया पार्ष्ण्या, आरक्तत्वं नैसर्गिकं अभिघातेन ननु तदैव बहलितमित्यर्थः। किं कृत्वा प्रोषितासुं कुर्वती पार्वती, हित्वा हेतीः त्यक्त्वा प्रहर-णानि इतीव एवमिव कथमिति तदुच्यते, खड्गे पानीयमित्यादि, हि यस्मात् खड्गे पानीयं तत्पादं ह्लादयत्याह्लादं करोति महिषितोऽसौ न योग्यः शत्रोरुपकारित्वा-दिति भावः, पक्षपाती पृषत्क इति कृत्वा असावप्ययोग्यः, शूलिन ईशस्य यशो-भाग् भवति यशो लभते, किल शूली शङ्करः, (तत्) प्रेषितः असावपि शूलयोगात् तद्विधः स्यात्, ईश इति क्विपि षषान्तं (षष्ठचन्तं) रूपं, वधमर्हतीति वधार्हस्तस्मिन् वधार्हेऽपि दण्डः परिलघुफलः स्यात्, यो हि वध्यस्तत्र दण्डो न युज्यते इति भावः ॥२०॥

कृत्वेदृक् कर्म्म लज्जाजननमनशने शक्र नासून्[1] जहासि[2]
　　द्रव्येश[3] स्थाणुकण्ठे जहि गदमगदस्यायमेवोपयोगः[4]।
जातश्चक्रिन्[5] विचक्रो दितिज इति सुरांस्त्यक्तहेतीन् ब्रुवन्त्या
　　व्रीडां व्यापादितारिर्जयति विजयया नीयमाना भवानी ॥२१॥

---

१. ज० का० माऽसून्।
२. ज० का० जहासी—।
३. ज० –रर्थेश; का०-वित्तेश।
४. ज० गदमगदस्योपयोगोऽयमेव।
५. ज० जातश्चक्री।

कुं० वृ०—भवानी भवपत्नी जयति सर्व्वोत्कर्षेण प्रवर्तते, किंभूता व्यापादिताऽरिः व्यापादितो हतोऽरिर्यया सा तथोक्ता। पुनः किंविशिष्टा विजयया भवानीसख्या व्रीडां लज्जां नीयमाना प्राप्यमाणा। कथंभूतया विजयया, सुरान् इन्द्रादीन् इति वक्ष्यमाणं ब्रुवन्त्या, किंविशिष्टान् सुरान् त्यक्तहेतीन् त्यक्ता अस्ता हेतय आयुधानि यैस्ते तथा तान्। इतीति किं, हे शक्र! हे अनशने! न विद्यते अशनिर्वज्रं यस्य सोऽनशनिः, तस्य सम्बोधनं, हे अनशने! त्वं असून् प्राणान् न जहासि न त्यजसि(23a) अत्र नकारः काकूक्तौ तदभिद्योतनार्थं कथमित्यध्याह्रियते कथं न जहासि? तव प्राणत्यागो युक्तः। किं कृत्वा, ईदृक् अशनित्यागपलायनलक्षणं कर्म्म कृत्वा, इन्द्रो वज्री इति असाधारणमुपलक्षणमिन्द्रस्य। यथा चक्री विष्णुः असाधारणे उपलक्षणे गते प्राणा यान्त्येव, अन्योऽपि गर्हितं कर्म्म कृत्वा अनशने भोजनपरित्यागे प्राणांस्त्यजति। 'शक्लृ शक्तौ' इति प्रकृत्यर्थविकारे शक्रस्य तत् अशक्तसदृशं कर्म्म कृत्वा भोजनपरित्यागेन प्राणपरित्यागो न्याय्यः; एवं शक्रमुपालभ्य द्रव्येशमुपालब्धुकामा उक्त्यन्तरमारचयति, हे द्रव्येश! हे अगद! न विद्यते गदा यस्य स अगदः तस्य सम्बोधनं, हे अगद! अत्र अग(द)-स्येति षष्ठ्यन्तस्याऽपि अगदशब्दस्य व्याख्यानसौकर्यात् सुखावबोधार्थं अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति कृत्वा संक्षिप्तिराक्षिप्यते। हे अगद! स्थाणुकण्ठे वर्त्तमानं गदं हरगले वर्तमानं गदं विषस्वरूपं रोगं जहि नाशय, यतोऽगदस्य औषधस्य अयमेव उपयोगः यत् औषधं रोगहारि भवति, अत्र औषधस्य अज्ञानिनो नियोगाभावात्, औषधिनोरभेदोपचारवृत्या अगदशब्देन धनदः प्रतीयते, अथवा मत्वर्थीयोऽत्राकारः, अगदिना इत्यर्थः। अतो हे अगद! हे द्रव्येश! स्थाणुस्तव मित्रं स्वामी च अतस्तद्गले गदं जहि, यतस्त्वं द्रव्येशः स तु स्थाणुः, तिष्ठतीति स्थाणुः, अतस्तव अयं पदोऽपयोगः 'समुद्गद्योपनीतेषु साहाय्यायोपकल्पते' इति व्यासस्मरणात्। अत्राऽभियुक्ताः केचनागदमिति, गदां स्थाणुं कण्ठे जहि मुञ्च, तत्र हेतुर्वदति, अन्योऽपि श्रान्तः सन् गदां स्थाणौ कीलके मुञ्चति। गदाशब्दस्य गदमिति पुंवद्भावं वर्णयन्ति। जहीति जहातेः प्रयोगश्च तत्र इदं वक्तव्यं, कोऽयं पुंवद्भावो नाम सामानाधिकरण्ये किं किं चोपसर्जनस्य स्त्रीप्रत्ययस्य ह्रस्वत्वं किंवा द्वंद्वाऽधिकारे नपुंसकत्वात् ह्रस्वत्वं, नाऽसामानाधिकरण्याभावाद्यः सामानाधिकरण्यं हि खलु पदानां पदयोर्वा विधीयते न तु एकपादे। अत एव न द्वितीयतृतीयौ द्वित्रिपदाश्रितस्य समासस्याऽभावात् चतुर्थः प्रकारोऽस्त्येव, अत्र गदशब्दस्य पुंस एव पुंवद्भावः प्रतिपाद्यमानो न विचारचारुतामारचयति, तस्मात्स्त्रियाः पुंवद्भाव इत्यभिप्रेतः, तत्रभवतां एतदपि

न विचक्षणपरीक्षाक्षमं ईक्षामहे। तस्याः संसदि पुंवत् प्रगल्भतेऽपशब्दापत्तेः तस्मान्मान्यानां चरित्रस्य अविचारिणीयत्वात्, क्वचिदेकान्ते स्त्रियाः पुंवद्भावोऽपि भविष्यतीत्यनुपरम्यते। अनु च, हन्तेर्यत् त्यागार्थत्वमुपवर्णित(न)ञः हन्तेः पारम्पर्येण प्राणानां त्याग एव पर्यवसानात्, 'ओहाक् त्यागे' इति अनेनैकार्थत्वं सुवचं द्रव्येशमभिधाय भङ्गश्लेषोक्त्या चक्रिणं स्पृशति। हे चक्रिन् ! त्वं दितिजे महिषे विचक्रो जातः, चक्र(23b) मस्यातीति चक्री, चक्रित्वं ते प्रकृतिः, विचक्रत्वेन सा त्वया त्यक्तेति मम दुःखकरं, प्रकृतेर्विकृतिरुत्पातायेति हेतोः। अथ आत्मरक्षापरेण त्वया साधु समाचरितं विचक्रं मां महिषो न प्रहरिष्यतीति चक्रपरित्यागः कृतः। अथ च, हे चक्रिन् त्वं मा भैषीः केवलं त्वमेव विचक्रो न किन्तु दितिजोऽपि विचक्रो जातः 'चक्रं सैन्यमायुधं च'। अथ हे चक्रिन् ! साम्प्रतं दितिजो विचक्रो विगतसैन्यो जातः, तर्हि विचक्रश्चक्रिणि त्वयि न प्रहरिष्यतीति त्वं तस्मान्मा स्म भैषीः। अथ विगतं चक्रं यस्मात् इति विचक्रः, चक्रिणो मुक्तमपि तस्य न लग्नमिति भावः। अतो हे चक्रिन् ! यथागतं गम्यतामिति किमत्र त्वया प्रयोजनम् ॥२१॥छ॥

सं० व्या०—२१. **कृत्त्वेदृगिति**। व्यापादितो निपातितो अरिर्यया सा व्यापादितारिर्भवानी भवभार्या जयति। किं क्रियमाणा, नीयमाना प्राप्यमाना व्रीडां लज्जां विजयया देवीसख्या, किं कुर्वत्या विजयया इत्येवं सुरान् इन्द्रादीन् ब्रुवन्त्या अभिवादयन्त्या किंविशिष्टान् त्यक्तहेतीन् मुक्तप्रहरणान् क्व दितिजे दैत्ये महिषे इत्यर्थः त्यक्तायुधानस्मान्नैष महिषः प्रहरिष्यतीति विचार्य देवैर्हेतयस्त्यक्ताः, किल महान्तो मुक्तायुधेषु न प्रहरन्तीति भावः। कथमुपहासपूर्वं तान् सुरान् ब्रुवन्त्या तदुच्यते, कृत्त्वेदृक्कर्मेत्यादि, न विद्यते अशनिर्वज्रं यस्येति सम्बध्यते हे अनशने शक्र मासून् विहासीः मा प्राणांस्त्याक्षीः क्व न अशनं अनशनं तत्र अनशने इति शब्दच्छलेनोक्तं किं कृत्वा ईदृक्कर्म शत्रुं विजणं(नं) हेतित्यागलक्षणं लज्जाजननं त्रपाकरं कृत्वा विधायेति, अर्थेश धनद धनपते ! गदं रोगं जहि शमय, क्व स्थाणुकण्ठे विषापहारं कुर्व(वि)तीत्यर्थः अगदस्यायमेवोपयोगः इदमेवौषधप्रयोजनं त्वं तु अगदो विद्यसे गदायास्त्यागात्, असावपि दैत्यसूदनश्चक्री विष्णुर्विचक्रो विगतचक्रो जातो भूत इति देवान् ब्रुवाणया विजयया भगवती व्रीडां नीयमाना जयति[इति] समुदायार्थः ॥२१॥

देयाद्वो वाञ्छितानि च्छलमयमहिषोत्पेषरोषानुषङ्गा-[1]
न्नीतः पातालकुक्षिं कृतपरमभरो[2] भद्रकाल्याः स पादः ।
यः प्राग्दाक्षिण्यकाङ्क्षा[3]वलयितवपुषा वन्द्यमानो मुहूर्त्तं
शेषेणेवेन्दुकान्तोपलरचितमहानूपुराभोगलक्ष्मीः ॥२२॥

कुं० वृ०—देयात् समर्प्पयतात्, कोऽसौ स पादः, कस्याः भद्रकाल्याः, अत्र रसोत्कर्षद्योतना(र्थं) भद्रकाल्याः इति पृथक् निर्दिष्टं, कानि वाञ्छितानि अभीष्टानि केभ्यः वो युष्मभ्य, यः कीदृशः नीतः प्रापितः, कं पातालकुक्षिं पातालमध्यं, कथं अर्थात् भद्रकाल्या शिवया, कुतः छलमयमहिषोत्पेषरोषानुषङ्गात्, छलमयमहिषः छलप्रधानो यो महिषः तस्य उत्पेषः तनुचूर्णनं तत्र यो रोषः तस्याऽनुषङ्गः प्रसंगः सम्बन्धः तस्मात् । किमुक्तं भवति, छलेन सिंहादिनानारूपाणि कुर्व्वाणो महिषः पुनर्महिषतामापन्नो दुष्टोऽयं निग्राह्य एवायमिति यः परमेश्वर्या रोषो जीतः तद्वशात्तथोच्चूर्णितो यथा तं संचूर्ण्य पातालं प्रविष्टः, कथंभूतः पादः, कृतपरमभरः, कृतः परम उत्कृष्टो भरो भारो यस्मिन् स तथा कृतपरमगुरुत्वः । अपि च, इन्दुकान्तोपलरचितमहानूपुराभोगलक्ष्मीः, इन्दुकान्तश्चन्द्रकान्तो योऽसावुपलो ग्रावा तेन प्रकृतिभूतेन रचितो यो महानूपुरः अनर्घ्यनूपुरः तस्य य आभोगो विस्तारस्तस्य लक्ष्मीः शोभा यत्र स इन्दुकान्तोपलरचितमहानूपुराभोगलक्ष्मीः, अत्र लक्ष्मीशब्दोऽवयवार्थो बहुवचनान्तः, तेन 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' इति कप् न भवति । इदमुत्प्रेक्षाद्वारेण विशेषणं; किं च प्राक् आदौ वंद्यमानो नमस्क्रियमाणः, केन विशेषेणेव शेषाभिधेन नागपतिना कियन्तं कालं मुहूर्त्तं क्षणमेकं यताऽन्ये बहवो वन्दनार्थिनस्तिष्ठन्ति; किंभूतेन दाक्षिण्यकाङ्क्षावलयितवपुषा दाक्षिण्येनाऽनुकूलतया भक्त्या या आकाङ्क्षा वन्दनेच्छा तया वलयितं पादे वेष्टितं वपुः शरीरं येन तेन तथाविधेन, पूर्व्वस्योत्प्रेक्षागर्भविशेषणस्येदं विशेषणं हेतुः; शेषो हि भगवान् विमलस्फटिककान्तिः, किमुक्तं भवति महिषं भित्त्वा पातालं प्रविष्टमात्रः पूर्व्वं श्रद्धाभरात् शेषेण नमस्कृतः, तदनु अन्येभ्योऽवकाशो दत्तः । [24a] अथ प्रादाक्षिण्य इति पाठः, प्रदक्षिणस्य भावः प्रादाक्षिण्यं उभयपदवृद्धिः, तस्य काङ्क्षा वाञ्छा तया वलयितं वलयीकृतं वपुर्येन स तेन एतदुक्तं भवति ।

---

१. ज० दोषाऽनुषङ्ग ।

२. ज० कृतपरमभयो; का० हृतभुवनभयो ।

३. ज० प्रादाक्षिण्यकाङ्क्षा; का० प्रादक्षिण्यकाङ्क्षा ।

प्रदक्षिणां कर्त्तुं चरणे वलयितवपुषा शेषेण आश्लिष्टश्चरणश्चन्द्रकान्तरचितनूपुर-शोभां बभार इत्यर्थः ॥२२॥

सं० व्या०—२२. देयादिति ॥ भद्रकाल्याः देव्याः सम्बन्धी पादोऽङ्घ्रिर्वो युष्मभ्यं वाञ्छितानीप्सितानि देयात् ददातु, पातालस्य कुक्षिः पातालकुक्षिः तां पातालकुक्षिं यो नीतः प्रापितः अर्थात् देव्या भद्रकाल्या अनन्यस्यातत्वात्(?)कस्मान्नीत छलमयमहिषोत्पेषदोषानुषङ्गात् छलमयश्चासौ महिषश्च्छलमयमहिषः कृतकमहिष इत्यर्थः, छलमयमहिषस्योत्पेष उत्पेषणं स एव दोषवैगुण्यं तस्यानुषङ्गात् पाताल-कुक्षिं योऽङ्घ्रिर्नीतः इति इदमुक्तं भवति । यदि पादं नोत्पिष्येत तत्पातालं न यास्यतीति । किंभूतः पादः कृतपरमभयः कृतं परमभयं सामर्थ्यात् नागानां येन स तथोक्तः, पुनरपि किंविशिष्टः चरणः इन्दुकान्तोपलरचितमहानूपुराभोग-लक्ष्मीः, नूपुरस्य आभोगो दीर्घत्वपृथुलक्षणस्तस्य लक्ष्म्याः श्रियः शोभाः इति यावत्, इन्दोः कान्ता इन्दुकान्तास्ते च ते उपलाश्च ते रचिताः कृताः नूपुराभोग-लक्ष्म्यो यस्मिन् पादे स तथोक्तः । लक्ष्मीशब्दोऽत्रान्यपदार्थबहुवचनान्तःसमासःतत् 'उरः प्रभृतिषु एकवचनात्' न पाठात् कः प्रत्ययोऽनुभूतः, यतः चन्द्रकान्तमणि-नूपुरावृतो देवीपादः अत एवमुत्प्रेक्षितः कविना । विद्यमानो मुहूर्तशेषेण वेति, मुहूर्तं स्तोककालांशेनैव पन्नगपतिनैव वन्द्यमानः स्तूयमानः, किंविशिष्टेन शेषेण प्रादक्षिण्यकाङ्क्षावलयितवपुषा प्रदक्षिणस्य भावः प्रादक्षिण्यं तस्य काङ्क्षा समीहितं तया वलयितं वलयाकारं कृतं वपुः शरीरं येन तथाभूतेन शेषेण इव, उत्प्रेक्षायां इव ॥२२॥

शूलं तूलं नु गाढं प्रहर हर हृषीकेश ! केशोऽपि वक्र-
श्चक्रेणाकारि किं ते[1] पविरवति न ते त्वाष्ट्रशत्रो द्युराष्ट्रम्
पाशाः केशाब्जनालान्यनल न लभसे भातुमित्त्यात्तदर्प्पो[2]
जल्पन् देवान् दिवौकोरिपुरवधि यया सा तु शान्त्यै शिवा वः ॥२३॥

कु०वृ०–अस्तु भवतु, का सा शिवा गौरी किमर्थं शान्त्यै सर्व्वदुरितोपशमनाय, केषां वो युष्माकं, सा का यया दिवौकोरिपुर्महिषोऽवधि हतः, दिवि स्वर्गे ओको गृहं येषां ते दिवौकसस्तेषां रिपुः, किंभूतः आत्तदर्प्पः गृहीतगर्व्वः, किं कुर्व्वन् इत्येवं जल्पन् कथयन्, कान् देवान्, इतीति किं, तदाह, हे हर ! नु इति वितर्के

१. ज० का० मे ।

२. ज० का० भानुमित्यात्तदर्पं; भानुमिति पाठोऽपि प्रतौ व्याख्यातः ।

तव शूलं मम तूलं, नु उत्प्रेक्षा, वा तूलमिव नु, तूलं पृथक्कृतबीजकार्प्पाससंज्ञा तदिव लगति, अथ नु शब्द एवकारार्थे तूलमेव, अकिञ्चित्करत्वात्। अन्यच्च, गाढं प्रहर सबलं प्रहर यतस्त्वं हरोऽसि। अन्यच्च, हे हृषीकेश! (हृषीका) योगनिद्रा तस्या ईश! ते तव चक्रेण किं मे केशोऽपि वक्रोऽकारि, अपि तु न, यतो निद्रालुना मुक्तं प्रहरणं मनागपि किं लक्ष्यं भिनत्ति? अपि तु न, अतो मे रोमापि न वक्रीकृतम्। अपि च, हे त्वाष्ट्रशत्रो! तव पविर्वज्रो द्युराष्ट्रं स्वर्गं न अवति न रक्षति, अतश्च इमं कथं दधासि, यत्रामरमुकुटकोटिनिघृष्टचरणसरोरुहत्रिनयन-पद्मनाभ-प्रहरणयोरेवंविधा शक्तिस्तत्र त्वदायुधस्य वार्त्ताऽपि कर्त्तुं न युज्यते, यतस्त्वं त्वाष्ट्रशत्रुः तद्भ्रान्त्या महिषोपरि वृथैवागतं त्वया। अपि च, हे केश! जलनाथ! वरुण! त्वदीयाः पाशाः शत्रुबन्धनरज्जवो ममाब्जनालानि पद्मनालानीव प्रतिभासन्ते, त्वं सदा जले वससि अतो मद्भयादव्यग्रत्वेन पाशभ्रान्त्या स्वनिवासतो जलनालानि गृहीत्वा समागतोऽसि, ज्ञातं तत् तव पौरुषं, पुनः स्वस्थो भूत्वा समेहि। किञ्च, हे अनल! वह्ने! त्वं भातुं शोभितुं न लभसे शोभां धर्त्तुं न प्राप्नोषि, यतस्त्वं अनलः न अलं न समर्थः इति उक्तिलेशः, बिन्दुच्युतकम्। अतो मदीयेन तेजसा आक्रान्ततेजस्त्वात् भातुं न समर्थः, सूर्यतेजसाऽस्तमितग्रहतेजोवत्। अथ भानुमिति पाठे भानुं तेज इति व्याख्येयम् ॥२३॥

सं०व्या०—२३. शूलमिति ॥ सा शिवा गौरी वो युष्माकं शान्त्यै शान्तये अस्तु भवतु, यया शिवया अवधि हतो व्यापादितो दिवौकोरिपुः देवशत्रुः महिषः इत्यर्थः, किं कुर्वन् इत्येवं देवान् हरादीन् आत्तदर्पं गृहीतमदं (यथा स्यात् तथा) जल्पन् अभिवदन्; कथं तदुच्यते, शूलं कृत्तं[1] नु गाढेत्यादि, हे हर! गाढं दृढं प्रहरणं कृत्तं, कृत्ताद्यच्छाल्मलीकृत्तमिव तर्कयामि अत एव गाढं प्रहरेत्यादि उक्तवान्, हृषीकेश! विष्णो! किं मे केशोऽपि वक्रश्चक्रेणाकारि कृतः, अपि तु न, किमुक्तं भवति, यो युष्मद्घार्षणः स्तब्धतां गतः केशस्तावन्न छिन्नः वक्रतामपि न गतः, त्वष्टुरपत्यं त्वाष्ट्रो वृत्रस्य शत्रुरिन्द्रः हे त्वाष्ट्रशत्रो! द्यु शब्दं (द्युराष्ट्रं) पविर्वज्रं न हि स्फुटमवति रक्षति प्रतिकुंव[ण्ठ]त्वात् इति भावः, कं जलं तस्य ईशः स्वामी केशो वरुणः तस्य सम्बोधने, हे केश! पाशाः बन्धनानि अब्जनालानि कमलनालानां सदृशाः तस्मात् पाशानपि क्षिप्य मां प्रति प्रेषय, अनल! वह्ने! भातुं शोभितुं न लभसे, अस्मत्प्रभया हतस्त्वमित्यभिप्रायः ॥२३॥

---

१. ज० प्रतौ मूलश्लोके 'कूलं' इति पाठः केनापि संशोध्य 'तूलं' इति कृतः, व्याख्यायां अपि 'कूलं' इत्येव व्याख्यातमस्ति; किन्तु 'कूलं'-ग्रहणे छन्दोभङ्गो भवति ततः 'कृत्तं' इति पाठः स्यात्। 'कृत्तं दातं दितं छित्तमित्यमरः'

शार्ङ्गिन् बाणं विमुञ्च भ्रमसि बलिरसौ संयतः केन बाणो
गोत्रारे ! हन्म्यहन्ते रिपुममररिपुः शक्र गोत्रस्य शत्रुः[1] ।
दैत्यो व्यापाद्यतां द्राक् अज इव महिषो हन्यते मन्महेऽद्ये-[2]
त्युत्प्रास्योमा पुरस्तादनु दनुजतनुं मृद्नती त्रायतां वः ॥२४॥

कुं० वृ०—उमा गौरी वस्त्रायतां रक्षतु, किं कुर्वती अनु पश्चात् दनुजतनुं महिषासुरशरीरं[24b] मृद्नती चूर्णयन्ती, किं कृत्वा, पुरस्तादादौ इत्येवं प्रकारेण देवानुत्प्रास्य प्रोत्सह्य, इतीति किं, हे शार्ङ्गिन् ! विष्णो ! बाणं विमुञ्च बाणस्तिष्ठतु, किं बाणं मोक्तुमिच्छसि, कुत एतदुच्यते, यस्मात्कारणात्त्वं भ्रमसि भ्रान्ति इतोऽसि, बद्धः खलु मुच्यते ननु, अतो यतस्त्वया संयतः स बलिः, बलेरवेदं युक्तं; अयं तु बाणः बाणाऽसुरः बाणो दैत्यः शिरश्च बाणासुरः केनापि न बद्धः, अतो बाणमोचनप्रयासाय यत् यतसे सा भ्रान्तिः; अत्र प्रस्तुतं, हे शार्ङ्गिन् ! बाण आस्तां, त्वं भ्रमसि भ्रान्तोऽसि यतोऽसौ बलिर्बलवान् न तव बाणेन वध्य इत्यर्थः; त्वया केन हेतुना धनुषि बाणः संयतो नियमितः आरोपित इति यावत् । अपि च, हे गोत्रारे ! इन्द्र ! गोत्राणां पर्व्वतानां अरिः गोत्रारिः तस्य संबोधनं, अहं ते तव रिपुं शत्रुं हन्मि व्यापादयामि; गोत्रशत्रुं हन्तुं उद्यतोऽयमिति कृत्वा त्वं भयं मा कुरु । तु पुनः एष गोत्रस्य शत्रुः, अमररिपुर्देववैरी तवेन्द्रसंज्ञा, एष न केवलं अमररिपुः यावता तेषां कुलस्यापि वैरीति, गोत्रशत्रुहनने आत्मनामभ्रान्त्या भयं मा कुरु । अत्र गोत्र-शब्देन पर्व्वतः, गोत्रं कुलं लभ्यते, अहं ते रिपुं हन्मि न त्वां इति वाक्यार्थः । अथ हे गोत्रारे ! स्वकीयगोत्रशत्रो ! इत्युपहासार्थः । अन्यच्च, तर्हि शार्ङ्गि-इन्द्राभ्यां किंकर्त्तव्यमित्यपेक्षायामाह, भवद्भ्यां द्राक् तूर्णं अन्योऽपि यः कश्चन दैत्योऽत्र तिष्ठति स व्यापाद्यतां, क इव अज इव छाग इव, दैत्यः छागश्चेति जातौ एकवचनं, अद्य महिषो हन्यते ; क्व मन्महे मदीयमहोत्सवे, मन्महे खलु महिष अजाश्च हन्यन्ते इति प्रचारः; हे देवा ! वयं इति मन्महे जानीमहे अद्य महिषो हन्यते तर्हि अन्योऽपि दैत्यो व्यापाद्यतां, कश्चनेतो जीवन् मा यातु, कस्मिन् यथा मन्महे महिष अजाश्च व्यापाद्यन्ते ॥२४॥

---

१. का० त्वेष गोत्रस्य शत्रुः । ज० रिपुमसुररिपुस्त्वेष गोत्रस्य शत्रुः ।

२. ज० मन्महे स्वे ।

सं०व्या०—२४. शार्ङ्गिन् बाणमिति ।। उमा गौरी वो युष्मान् त्रायतां रक्षतु, किं कृत्वा इत्येवं उत्प्रास्य उपहस्य, पुरस्तादग्रतः शार्ङ्गि-प्रभृतीन् अनु पश्चात् मृद्नती क्षोदयन्ती, कां दनुजतनुं दनुजो महिषस्तस्य तनुं शरीरं कथमुत्प्रास्येत्याह, शार्ङ्गिन् बाणं विमुञ्चेत्यादि, शार्ङ्गं धनुरस्यास्तीति शार्ङ्गी श्रीविष्णुस्तस्य सम्बोधनं, हे शार्ङ्गिन् ! बाणं शरं विमुञ्च क्षिप, भ्रमसि भ्रान्तिं करोषि तच्चायुक्तं, बलिरसौ संयतो बद्धः केन बाणेन अपि तु न केनापि इति असुरः छलितः, गां त्रायन्तीति गोत्राः पर्वतास्तेषामरिरिन्द्रस्तस्यामन्त्रणे गोत्रारे ! हन्मि व्यापादयामि अहं ते तव रिपुं असुरश्चासौ रिपुश्चासुररिपुः तु शब्दस्तस्मिन् महे महदुत्सवे अस्मिन् काले महिषो हन्यते अज इव यथा अजश्छागः, हे दैत्या दितिजा द्राक् क्षिप्रं व्यापाद्यतां मार्यतां मया महिष इति ।।२४।।

स्पर्द्धावर्द्धितविन्ध्यदुर्द्धरभर[1]व्यस्ताद्विहायस्तलं
हस्तादुत्पतिता प्रसाधयतु[2] वः कृत्यानि कात्यायनी ।
यां शूलामिव देवदारुघटितां स्कन्धेन मोहान्धधी-
र्वध्योद्देशमशेषबान्धवकुलध्वंसाय कंसोऽनयत् ।।२५।।

कुं० वृ०—इदानीं महिषवधानन्तरं शक्राद्याः पूर्व्वावदातचरितैः कंसवधादिभिः परमेश्वर्यास्सर्व्वशक्त्येकात्मकत्वख्यापनाय च स्तुतिमारेभिरे कर्त्तुं; ननु महिषः पूर्वं व्यापादितः कंसस्तु पश्चात्, तत्कथं कंसवधस्य पूर्व्वभावित्वं व्याप्यते? उच्यते, अत्र महिषकंसादिशब्दानां प्रवाहान्तःपातित्वेन नित्यत्वमाश्रयणीयं न पौर्वापर्यक्रमः, कदाचित्कल्पभेदेन पूर्वं कंसवधः पश्चान्महिषवधः, कदाचिद्वैपरीत्येनेति सर्व्वमवदातं, तदयं कविप्रेरितकर्तृभणितत्वेन देवतास्तुतिश्लोकः, तदुक्तं अग्रेतने पद्ये 'तूर्णं तोषात्तुराषाट्-प्रभृतिषु स्तोत्रकृत्स्विति'। तदयं व्याक्रियते, कात्यायनी दाक्षायणी वो युष्माकं कृत्यानि कार्याणि प्रसाधयतु निष्पादयतु, काऽऽसौ[25a] यां कंसो गुरुत्वात् स्कन्धेन कृत्वा वध्योद्देशं वध्यप्रदेशं अनयत्, वधं अर्हतीति वध्यः तस्य प्रदेशो वध्योद्देशः । कां इव शूलीं इव, कृतमहादोषप्राणिनो वधार्थं तीक्ष्णाग्रकीलां इव । किंभूतां शूलीं, देवदारुघटितां देवदारुणा निर्मिता देवदारुघटिता तां अतिगुर्व्वीमित्यर्थः; अथ देव्या गुरुत्वद्योतनार्थं देवदारूपमा । किमर्थं अनयत्, अशेषबान्धवकुलध्वंसाय अशेषाश्च ते बान्धवाश्च अशेषबान्धवा-

१. ज० का० दुर्भरभर० ।
२. ज० हस्तादुत्पतिताथ साधयतु; का० प्रसादयतु

स्तेषां कुलं तस्य ध्वंसः तस्मै ध्वंसाय, एतदुक्तं भवति, यशोदादेवक्योरपत्य-विनिमयेन देवक्यङ्कस्थां भगवतीं तदीयजातजाताऽपत्यत्वात्तु कः(?) कंसः किल यां वध्यशिलां आनयत् सा च नभ[सि] एव सान्वयस्य कंसस्य समूलनाशे हेतुरभवत्, तत्कोपादेव कंसः सान्वयो नाशमियादित्यर्थः। अत एव किंभूतः कंसः मोहान्धधीः मोहेन अन्धा धीर्यस्य मोहेन पिहितज्ञानमित्यर्थः, यथा कश्चन शूलीं वध्यं नयति तथा मोहेन भ्रान्तत्वात् वध्यभ्रान्त्या भगवतीं एव शूलीरूपां तत्र निनाय आत्मन एव विनाशायेति यावत्। किंभूता सा हस्तात् उत्पतिता कंसे नास्फोटि हस्तेन गृहीत्वा यदा[था] भ्रामिता तथा, हे कंस! यतस्त्वं एवं कृतवांस्ततस्त्वामहं सान्वयं नाशयिष्यामीति व्याहृत्य कंसहस्तादुत्पत्य आकाशं गता। अतो विहायस्तलं गतेति विशेषणम्, किं भूताद्धस्तात्, स्पर्द्धेति स्पर्द्धया वर्द्धितः स चासौ विन्ध्यश्च, धर्त्तुं अशक्यो दुर्द्धरः विन्ध्यस्येव दुर्द्धरो यो भरः देवीशरीरगुरुत्वं तेन व्यस्तात् भारन्यासेन व्याकुलीभूतात् ॥२५॥

सं०व्या०—२५. **स्पर्द्धा वर्द्धितेति** ॥ कात्यायनी भगवती प्रसादयतु निष्पादयतु वो युष्माकं कृत्यानि, किंभूता हस्तादुत्पतिता आस्फोटयितुमिच्छोः कंसस्येत्यर्थः, पातेन सम्बन्धः, किं उत्पतिता विहायस्तलं गगनतलं, किंविशिष्टात् स्पर्द्धावर्द्धितविन्ध्यदुर्भरभरव्यस्तात् स्पर्द्धा पराभवेच्छा तया वर्द्धितः स चासौ स्पर्द्धावर्द्धितो विन्ध्यस्तद्वद्दुर्भरः स चासौ भरश्च स्पर्द्धावर्द्धितविन्ध्यदुर्भरभरस्तेन व्यस्तात् हस्तादुत्पतिता इदमुक्तं भवति, यथा भानोरभिभवेच्छया विन्ध्यो वर्द्धितः एवं कंसस्य स्पर्द्धया भट्टारिकायाः कोपस्तदा य(द्) दुर्भरभरेणेव हस्तो व्यस्त इति यां कात्यायनीं कंसो वध्योद्देशमनयत् नीतवान्, कामिव शूलीमिव कथंभूतां देवदारुघटितां देवदारौ घटिता देवदारुघटिता तां स्कन्धेन किमर्थं वध्यानामुद्देशमनयत् अशेषबान्धवकुलध्वंसाय अशेषाश्च बान्धवाश्च अशेषबान्धवाः तेषां कुलं तस्य ध्वंसो विनाशस्तदर्थः अत एव मोहान्धधीः कंस इत्युक्तं, मोहेनान्धा धीरस्येति विग्रहः ॥२५॥

तूर्णं तोषात्तुराषाट्प्रभृतिषु[1] शमिते शात्रवे स्तोत्रकृत्सु
क्लान्तेवोपेत्य पत्युस्ततभुजयुगलस्यालमालम्बनाय।
देहार्द्धे गेहबुद्धिं प्रतिविहितवती लज्जयालीय काली
कृच्छ्रं वोऽनिच्छयैवापतितघनतराश्लेषसौख्या विहन्तु ॥२६॥

कु० वृ०—स्तुतिरूपं किञ्चित् प्रदर्श्य पुनः प्रकृतमनुसन्दधाति; काली दुर्गा

---

१. रोषात्तुराषाट्प्रभृतिष्वित्यपि काव्यमालाप्रतौ पाठान्तरम्।

वो युष्माकं कृच्छ्रं विहन्तु कष्टं विनाशयतु । कथंभूता सती, तूर्णं उपेत्य पत्युर्देहार्द्धे शम्भोः शरीरार्द्धे गेहबुद्धिं गृहबुद्धिं प्रतिविहितवती अवेक्षन्ती साक्षात्कृतवती, प्रतिरत्र साक्षादर्थे निपातानां अनेकार्थत्वात्, गेहे बुद्धिः गेहबुद्धिः गृहविषये या बुद्धिः तां देहार्द्धे महेश्वरशरीरे साक्षात्कृतवती श्रमवशात् अभेदबुद्धिं तत्र परिकल्पितवती, इदमेव मे गृहं इति, अत्रैव विश्राम्यामि । किमुक्तं भवति, महिषवधार्थं महेशशरीरात् विनिर्गत्य तं हत्वा पुनः तत्रैव निवेष्टुकामा, किंभूता इव क्लान्ता इव, महिषं हत्वा श्रमार्ता इव, अन्योऽपि यः श्रमार्तो भवति स क्वचिद्विश्रान्तिं करोत्येव, किं कृत्वा, आलीय तिरोभूत्वा, कया लज्जया, एतदुक्तं भवति, जनसन्निधौ प्रत्युत्त(25b)राश्लेषाल्लज्जां प्राप्य शरीरार्द्धमिषेण तत्र लीना बभूवेत्यर्थः । किंभूतस्य पत्युः, ततभुजयुगलस्य प्रसारितभुजद्वयस्य, कथं अलं अतिशयेन किंविशिष्टा, अनिच्छयैव तदा वाञ्छां विना एव आपतितघनतराश्लेषसौख्या घनतरश्चासावाश्लेषश्च घनतराश्लेषः तस्मात्सौख्यं घनतराश्लेषसौख्यं आपतितं जातं घनतराश्लेषसौख्यं यस्याः सा तथा, अयमभिसन्धिः महिषवधक्लान्तिवशात् आश्रयं इच्छुराश्रयेच्छां विनापि क्षेमागमनप्रश्नव्याजेन परिरब्धुकामस्य पत्युः भुजयुगमध्यान्तर्वर्तितया सञ्जातदृढतराश्लेषसौख्येत्यर्थः; केषु सत्सु तुराषाट्प्रभृतिषु इन्द्रादिदेवेषु स्तोत्रकृत्सु स्तुतिं कुर्वत्सु सत्सु; तुरं वेगं सहते तुराषाट्, कथं तूर्णं वेगेन, कस्मात्तोषात् तुष्टेः, क्व सति शात्रवे शत्रौ महिषे शमिते व्यापादिते सति, शत्रुरेव शात्रवः, प्रज्ञादित्वादण् । अथ पत्युः सन्निधौ देवेषु स्तुवत्सु लज्जावशात् पत्युर्देहार्द्धे लीनेति योजनीयम् ॥२६॥

सं० व्या०—२६. तूर्णं तोषादिति ॥ काली भगवती कृच्छ्रं कष्टं वो युष्माकं विहन्तु ध्वंसयतु । आपतितघनतराश्लेषसौख्या घनतरश्चासावाश्लेषश्च घनतराश्लेषो गाढतरालिङ्गनं तस्माद्यत्सौख्यं घनतराश्लेषसौख्यं अनिच्छयैवाकामतयैव आपतितमागतं घनतराश्लेषसौख्यं यस्याः सा तथोक्ता आपतितघनतराश्लेषसौख्या, किं कृत्वा आलीय आलिङ्गनं कृत्वा, कया लज्जया, क्व देहार्द्धे शरीरार्द्धे, कस्य पत्युः शङ्करस्य, किंविशिष्टा देवी, गेहस्य बुद्धिः गेहबुद्धिः तां गेहबुद्धिं प्रतिविहितवती अयमर्थः । महिषव्यापादनाय पत्युः शरीरात् वियुज्य पुनरपि कृतकार्या स्वगेहबुद्धिं कृत्वा भर्तुः शरीरे लज्जयानिच्छयैवापतितघनतराश्लेषसौख्या कालीति, केन कारणेन लज्जते इत्याह, 'तूर्णं तोषात्तुराषाट्प्रभृतिषु शमिते शात्रवे स्तोत्रकृत्सु' इति शत्रुरेव शात्रवः, प्रज्ञादित्वादण्, तस्मिन् शात्रवे महिषाख्ये शमिते व्यापादिते सति यस्तोषस्तस्मात् तूर्णं क्षिप्रं तुराषाट्प्रभृतिषु शक्रादिषु स्तोत्रकृत्सु स्तुतिकारकेषु सत्सु, महान्तो हि प्रत्यक्षप्रशंसया सुतरां लज्जन्ते इति देहार्द्धेन सहैकतां

गता देवीति भावः, शमिते शात्रवे क्लान्तेव ग्लानिं (प्राप्तेव), किं कृत्वा लज्जयोपसृत्य पत्युर्देहार्द्धलीना, किंभूतस्य पत्युः ततभुजयुगलस्य ततं भुजयुगलमस्येति विग्रहः, किमर्थं प्रसारितभुजयुगलस्य अलमालम्बनार्थं ग्रहणाय ॥२६॥

आस्तां मुग्धेऽर्द्धचन्द्रः क्षिप सुरसरितं या सपत्नी भवत्याः
क्रीडा द्वाभ्यां विमुञ्चापरमलममुनैकेन मे पाशकेन ।
शूलं प्रागेव लग्नं शिरसि यदबला युध्यते[1]ऽव्याद्विदग्धं
सोत्प्रासालापपातैरिति दितिजमुमा[2] निर्दहन्ती दृशा वः ॥२७॥

कुं० वृ०—उमा पार्वती वो युष्मान् अव्यात् पातु, किं कुर्वती दृशा दृष्टया दितिजं महिषं निर्दहन्ती ज्वलयन्ती, किंविशिष्टं इति सोत्प्रासालापपातात् विदग्धं चतुरं धूर्त्तं, आलपनानि आलापास्तेषां पाताः पतनानि सह उत्प्रासेन उल्लण्ठनेन वर्तन्त इति सोत्प्रासाश्चते आलापपाताश्च सोत्प्रासालापपाताः तैः अतिचारसोत्साहवचनैः, इतीति किं, हे मुग्धे , अर्धचन्द्रं बाणविशेषं क्षिपन्तीं देवीं शब्दच्छलेनाह, हे मुग्धे ! अर्धचन्द्र आस्तां अर्धचन्द्राख्यो बाणस्तिष्ठतु मा क्षैप्सीः यतस्त्वद्भर्तुरलङ्कारस्तव भूषा(क)रोऽयं अर्द्धचन्द्रो हरशिरोभूषायामपि असमञ्जसमेतत् न क्षिप्यते, ननु तर्हि किं क्षिपामीति देव्युक्तौ महिष आह, सुरसरितं सुरनदीं त्वद्भर्तुः शिरसि वर्तमानां गङ्गां क्षिप, कथं या भवत्याः सपत्नी द्वेषिणी तां, 'कर्म्म तत्क्रियते यत् आत्मनः सुखाय भवति', किमुक्तं भवति, तवार्द्धचन्द्रेण मे रोमापि न छिद्यते किमर्थं प्रयस्यते इति व्यज्यते। अत्र च कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकविरहान्मुग्धे इत्युक्तं; एवं अर्धचन्द्रं निवार्य पाशं क्षिपन्तीं पुनराह, तत्र पाशशब्दं 'प्राणिबन्धनविशेषे क्रीडासाधने पाशके च' वर्तमानं दृष्ट्वा वलयति; हे मुग्धे ! पाशोऽप्यास्तां अमुना एकेन पाशकेन मे अलं मह्यं पूर्यतां, ह्रस्वः पाशः पाशकः, अपरं अपि द्वितीयं अपि पातः (पातय) क्षिप कथं यतः क्रीडा खलु द्वाभ्यां पाशाभ्यां भवति, एतदुक्तं भवति अकिञ्चित्करत्वात् मयि पाशः क्षिप्तः प्रत्युत क्रीडां एव द्योतयति न तु युद्धं, तर्हि(26a] शूलां(लं)क्षिपामि इति देव्युक्तौ महिषः पुनराह, हे मुग्धे ! शूलं मे शिरसि प्रागेव लग्नं यत् मया सकलसुरकुलखलीकारखर्जूलभुजयुगेन सह अबला स्त्री युध्यते, सूरस्य शिरसि अतःपरमपि किं शूलं किं दुःखम्, अत्र छलं, शूलं प्रहरणं तिष्ठतु, शूलं खड्गे प्रहरणे च उभयवृत्तित्वात् छलास्पदम् ॥२७॥

---

१. ज० युद्धयसे ।
२. ज० का० दनुजमुमा ।

सं० व्या०—२७. आस्तामिति ॥ उमा गौरी वो युष्मान् अव्यात् रक्षतु, किं कुर्वती विदग्धं दनुजं निर्दहन्ती रुषा दृष्ट्वा रौद्रदृष्टया महिषं सोत्प्रासं जल्पन्तं दलयन्तीत्यर्थः,आलापानां पाताः पतनानि आलापपाताःसहोत्प्रासेन उल्लण्ठनेन वर्तन्ते इति सोत्प्रासाश्च ते आलापाश्च तैरित्येवं सोत्प्रासालापपातैः, विदग्धं विचक्षणं दनुजं तदुच्यते 'आस्तां मुग्धेऽर्द्धचन्द्रः क्षिप सुरसरितं या सपत्नी भवत्या'दि, आस्तां तिष्ठतु मुग्धे ! अर्द्धचन्द्रः शरविशेषः, छलपक्षे तु अर्द्धचन्द्रः अर्द्धं नपुंसकमिति तत्पुरुषसमासः, क्षिप मुञ्च सुरसरितं गङ्गां या कीदृशी सपत्नी भवत्यास्तव इदमुक्तं भवति, अर्द्धचन्द्रस्तव भर्त्तुश्चूडामणिः, इयं तु भार्या अतः क्षेपणे योग्ये इति, पाशश्चायुधविशेषः 'ततोऽङ्कश्चादौ कत्' पाशकः, पाशको दुंदुभिरुच्यते ततः शब्दच्छलेनाह अमुनैकेन पाशकेन अलं पर्याप्तं अपरं द्वितीयं पाशकं मुञ्च द्वाभ्यां पाशकाभ्यां क्रीडेति, शूलमायुधं व्याधिश्च, तत्र छलेनाह शूलं प्रागेव पूर्वमेव मम शिरसि लग्नं, किमिदानीं शूलं क्षिपसि इति भावः, कथं शिरःशूलं यत् यस्मात् स्त्री युद्धचसे, किल पुरुषस्य युद्धेऽधिकारः ॥२७॥

वक्त्राणां विक्लवः किं वहसि बत रुचं स्कन्द षण्णां विषण्णा-
मन्याः षण्मातरस्ते भव भव सकलस्त्वं शरीरार्द्धलब्ध्या ।
जिह्मां हन्म्यद्य कालीमिति सममसुभिः कण्ठतो निःसृता[1] गी-
र्गीर्वाणारेर्ययेच्छामृदुपददलितस्याद्रिजा[2]साऽवताद्वः ॥२८॥

कुं० वृ०—सा अद्रिजा पार्व्वती वो युष्मान् अवतात्, सा का यया इच्छामृदुपददलितस्य मृदितस्य, गीर्वाणी येषां ते गीर्वाणाः तेषां अरिः तस्य गीर्वाणारेः कण्ठतः असुभिः समं प्राणैः सह इति गीर्निःसृता, इच्छया मृदु अकृताऽभिभारं यत्पदं तेन दलितः तस्य, इति किं, हे स्कन्द ! बत इति खेदे, षण्णां वक्त्राणां विषण्णां विच्छायं रुचं कान्तिं किं वहसि, मा वह, ते तव अन्याः अपराः कृत्तिकाः षण्मातरः सन्ति, तासु त्वं स्नेहं कुरु, कथम्भूतस्त्वं विक्लवो विह्वलः। हे हर ! अद्याहं कालीं हन्मि व्यापादयामि अतस्त्वं शरीरार्द्धलब्ध्या सकलः सम्पूर्णो भव, अस्यां शरीरार्द्धहारिण्यां हतायां तव शरीरार्द्धं त्वयि एव च समाविशतु। किंविशिष्टां कालीं जिह्मां वक्रां, उत्क्लेशोऽपि यस्य किल जिह्मा काली कान्तिर्हन्यते स सकलो

---

१. ज० का० निर्गता।

२. ज० का०-मृदितस्याद्रिजा; यदृच्छामृदुपदमृदितस्याद्रिजेति अन्यत् पाठान्तरं काव्यमालाप्रतौ सूचितम्।

स्वचरणगरिमग्रस्तगीर्वाणगर्वा स्व आत्मीयः चरणस्तस्य गरिमा गुरुत्वं तेन ग्रस्त आक्रान्तो गीर्वाणानां गर्वो यया सा तथोक्ता; इत्येवमात्तहासा गृहीतहासा गौरी कथमिति तदाह, गाहस्व व्योममार्गमित्यादि; हे भानो ! व्योममार्गं गाहस्व आकाशपथं विलोडय विश्रब्धं अश्वैर्वाजिभिः, कथंभूतैः गतमहिषभयैः महिषाद् गतं भयं येषां ते तथोक्ताः, हे विश्वकर्मन् ! हे देवशिल्पिन् ! शार्ङ्गिणो विष्णोः अन्यत् शार्ङ्गं धनुर्नवं प्रत्यग्रं शृङ्गाभ्यां न घटयसि न करोषि, किमनेन शार्ङ्गिणः पुरातनेनेति भावः; ईश्वर ! शम्भो ! इभस्य इयं ऐभी, 'तस्येदृक् इत्यण्' इयं त्वक् इभसम्बन्धिनी निष्ठुरा कठिना इमां मृदुलां माहिषीं बिभृहि धेहि, इति ॥२९॥

क्षिप्तो बाणः कृतस्ते त्रिकविनतिनतो[१] निर्वलिर्मध्यदेशः
प्रह्लादो नूपुरस्य क्षतरिपुशिरसः पादपातैर्दिशोऽगात् ।
सङ्ग्रामे सन्नताङ्गि[२] व्यथयसि महिषं नैकमन्यानपि त्वं
ये युध्यन्तेऽत्र[३] नैवेत्यवतु पतिपरीहासतुष्टा[४] शिवा वः[५] ॥३०॥

कुं० वृ०—भवानी वः अवतु, किंविशिष्टा इति पतिपरीहासतुष्टा, परि समन्तात् हसनेन केलिना तुष्टा, पत्युः परीहासः पतिपरीहासः तेन तुष्टा, इतीति किं, हे सन्नताङ्गि ! सन्नतं अङ्गं यस्याः सा सन्नताङ्गी तस्याः सम्बोधनं, सङ्ग्रामे युद्धकाले त्वया बाणः शरः क्षिप्तः; अनु च, मध्यदेशो निर्वलिः कृतः निर्गता वलयो यस्मात् स निर्वलिर्वलिरहित इत्यर्थः। स्त्रीणां निर्वलित्वं दूषणं भूषणहानिः, किंविशिष्टो मध्यदेशः, त्रिकविनतिनतः त्रिकस्य विनतिर्विनमनं तया नतः, किमुक्तं भवति, बाणस्य मोक्तुः संस्थानविशेषात् त्रिकस्य पृष्ठदेशस्य विनमनात् उदरं निर्वलीकं भवति इति स्वभावः तं सशब्दच्छलेन वदति, बाणशब्दः शरे दैत्ये च वर्त्तते, 'बलिर्वल्यां दानवे च', हे देवि ! त्वया बाणः क्षिप्तः, बाणोऽसुरः क्षिप्तः मध्यदेशात् बलिर्दैत्यो निर्वासितः, अन्यस्तु यं क्षिपति तं एव निर्वासयति [illegible]यो तु क्षिप्तो बाणो निर्वासितो बलिरिव तदाश्चर्यं; अन्यच्च, पादपातैः कृत्वा [illegible] प्रह्लादः शब्दो दिशोऽगात्; 'प्रह्लादो नूपुरस्य ध्वनौ दैत्ये च', कथंभूतस्य [illegible]शिरसः क्षतं रिपुशिरो येन स तथा तस्य, चित्रं अत्र पादपातो

[illegible]ततो।

भवति, कलाभिः सम्पूर्णो भवति, इति वदत एव गीः प्राणाश्च समा एव निःसृताः, यावदिति पूर्वोक्तं वदति तावदेव कण्ठश्छिन्न इत्यर्थः ॥२८॥

सं० व्या०—२८. वक्त्राणामिति ॥ सा अद्रिजा पार्वती वो युष्मान् अवतात् रक्षतु यया पार्वत्या इच्छया मृदुपदमृदितस्य मृदुपदेन मृदितस्य गीर्वाणारेर्गीर्वाणानां दानवानां (देवानां) अरिस्तस्यारेः शत्रोः महिषस्य कण्ठतः कण्ठात् इत्येवं गीर्वाक् निःसृता निर्गता सममसुभिः प्राणैः सह कथं गीर्निःसृतेत्याह, वक्त्राणां विक्लव इत्यादि, हे स्कन्द ! कार्तिकेय ! किं विक्लवो विधुरस्त्वं वक्त्राणां षण्णां मुखानां विषण्णां विद्राणां रुचं कान्ति बत वहसि, बत-शब्दः खेदे, अन्याश्चापराः षट् मातरः कृत्तिकाः जनन्यस्ते तव पार्वत्यन्ते तव मातरि हतायां इति भावः । भव ! शङ्कर ! त्वं सकलो भव समग्रो भव, केन कारणेन शरीरार्द्धलब्ध्या शरीरार्द्धस्य लब्धिर्लाभस्तया, हेतौ तृतीया । जिह्मां कुटिलां कालीं दयितां अद्य अहं हन्मि व्यापादयामि अयमर्थः; भव ! त्वयास्यै शरीरं (शरीरार्द्धं) दत्तं, त्वं भूयो मया व्यापादितायामस्यां (तत्) लब्ध्वा समग्रो भव ॥२८॥

गाहस्व व्योममार्गं गतमहिषभयैर्ब्रध्न विश्रब्धमश्वैः
शृङ्गाभ्यां विश्वकर्मन् घटयसि न नवं शार्ङ्गिणः शार्ङ्गमन्यत् ।
ऐभी त्वङ्निष्ठुरेयं बिभृहि मृदुमिमामीश्वरेत्यात्तहासा
गौरी वोऽव्यात् क्षतारिः स्वचरणगरिमग्रस्तगीर्वाणगर्वा ॥२९॥

कुं० वृ०—गौरी पार्वती वो युष्मान् अव्यात्, किंविशिष्टा गौरी, स्वचरण-गरिमग्रस्तगीर्वाणगर्वा स्वस्य चरणः स्वचरणः स्वचरणस्य गरिमा गौरवं तेन ग्रस्तः गीर्वाणानां देवानां गर्वो यया सा तथा, देवानां प्रत्यक्षं महिषासुरवधेन ग्रस्ताऽहङ्कारा, पुनः किंविशिष्टा क्षतारिर्हतारिः, किंविशिष्टा आत्तहासा, आत्तो हासो यया, इतीति किं, हे ब्रध्न ! ब्रध्नाति तेजसा दृष्टीरिति ब्रध्नः तत्सम्बोधनं हे ब्रध्न ! अश्वैः व्योममार्गं गाहस्व, कथं, स्वैरं विचर कथं यथा भवति विश्रब्धं यथा भवति तथा विश्वासधीरत्वं यथा भवति तथा, किंविशिष्टैरश्वैः गतमहिष-भयैः गतं महिषाद् भयं येषां ते गतमहिषभयाः तैः; अन्यच्च, हे विश्वकर्मन् ! विधातः ! शार्ङ्गिणो विष्णोर्नवं शार्ङ्गं धनुः महिषशृङ्गाभ्यां न घटयसि[26b] अपि तु घटयसि; अपि च, हे ईश्वर ! इमां महिषस्य कोमलां त्वचं बिभृहि इयं ऐभी इभस्य त्वक् निष्ठुरा तां त्यज ॥२९॥

सं० व्या०—२९. गाहस्वेति ॥ गौरी भवानी वो युष्मान् अव्यात् रक्षतु, किंविशिष्टा क्षतारिः क्षतो निहतो अरिर्महिषो ययेति विग्रहः, पुनरपि किंभूता

स्वचरणगरिमग्रस्तगीर्वाणगर्वा स्व आत्मीयः चरणस्तस्य गरिमा गुरुत्वं तेन ग्रस्त आक्रान्तो गीर्वाणानां गर्वो यया सा तथोक्ता; इत्येवमात्तहासा गृहीतहासा गौरी कथमिति तदाह, गाहस्व व्योममार्गमित्यादि; हे भानो ! व्योममार्गं गाहस्व आकाशपथं विलोडय विश्रब्धं अश्वैर्वाजिभिः, कथंभूतैः गतमहिषभयैः महिषाद् गतं भयं येषां ते तथोक्ताः, हे विश्वकर्मन् ! हे देवशिल्पिन् ! शार्ङ्गिणो विष्णोः अन्यत् शार्ङ्गं धनुर्नवं प्रत्यग्रं शृङ्गाभ्यां न घटयसि न करोषि, किमनेन शार्ङ्गिणः पुरातनेनेति भावः; ईश्वर ! शम्भो ! इभस्य इयं ऐभी, 'तस्येदृक् इत्यण्' इयं त्वक् इभसम्बन्धिनी निष्ठुरा कठिना इमां मृदुलां माहिषीं बिभृहि धेहि, इति ॥२९॥

क्षिप्तो बाणः कृतस्ते त्रिकविनतिनतो[1] निर्वलिर्मध्यदेशः
प्रह्लादो नूपुरस्य क्षतरिपुशिरसः पादपातैर्दिशोऽगात् ।
सङ्ग्रामे सन्नताङ्गि[2] व्यथयसि महिषं नैकमन्यानपि त्वं
ये युध्यन्तेऽत्र[3] नैवेत्यवतु पतिपरीहासतुष्टा[4] शिवा वः[5] ॥३०॥

कुं० वृ०—भवानी वः अवतु, किंविशिष्टा इति पतिपरीहासतुष्टा, परि समन्तात् हसनेन केलिना तुष्टा, पत्युः परीहासः पतिपरीहासः तेन तुष्टा, इतीति किं, हे सन्नताङ्गि ! सन्नतं अङ्गं यस्याः सा सन्नताङ्गी तस्याः सम्बोधनं, सङ्ग्रामे युद्धकाले त्वया बाणः शरः क्षिप्तः; अनु च, मध्यदेशो निर्वलिः कृतः निर्गता वलयो यस्मात् स निर्वलिर्वलिरहित इत्यर्थः। स्त्रीणां निर्वलित्वं दूषणं भूषणहानिः, किंविशिष्टो मध्यदेशः, त्रिकविनतिनतः त्रिकस्य विनतिर्विनमनं तया नतः, किमुक्तं भवति, बाणस्य मोक्तुः संस्थानविशेषात् त्रिकस्य पृष्ठदेशस्य विनमनात् उदरं निर्वलीकं भवति इति स्वभावः तं सशब्दच्छलेन वदति, बाणशब्दः शरे दैत्ये च वर्त्तते, 'बलिर्वल्यां दानवे च', हे देवि ! त्वया बाणः क्षिप्तः, बाणोऽसुरः क्षिप्तः मध्यदेशात् बलिर्दैत्यो निर्वासितः, अन्यस्तु यं क्षिपति तं एव निर्वासयति त्वया तु क्षिप्तो बाणो निर्वासितो बलिरिव तदाश्चर्यं; अन्यच्च, पादपातैः कृत्वा नूपुरस्य प्रह्लादः शब्दो दिशोऽगात्; 'प्रह्लादो नूपुरस्य ध्वनौ दैत्ये च', कथंभूतस्य नूपुरस्य क्षतरिपुशिरसः क्षतं रिपुशिरो येन स तथा तस्य, चित्रं अत्र पादपातो

१. ज० का० त्रिकविनतिततो।
२. ज० संतता वो।
३. ज० ये विद्यन्तेऽत्र।
४. का० हृष्टा।
५. ज० भवानी।

महिषशिरसि कृतः प्रह्लादो दैत्यो दिशोऽगात्; हासः स्त्रिया दूषणं, अतो हे सन्नताङ्गि! एकं महिषं न व्यथयसि अन्यान् अपि व्यथयसि, अन्यान् कान् येऽत्र युध्यन्त एव न आयुध्यमान-व्यथनात् दोष इति परिहासार्थः ॥३०॥

सं० व्या०—३०. क्षिप्तो बाण इति ॥ पत्युः शङ्करस्य परीहासः परिहासः 'प्रादीनां घञि बहुलमिति दीर्घः' पतिपरिहासेन तुष्टा भवानी भवपत्नी वो युष्मान् अवतु रक्षतु, कथं पतिपरीहास इत्यादि; क्षिप्तः प्रेरितो बाणः शरः, छलपक्षे तु बाणोऽसुरः, कृतस्तेन वलिर्मध्यदेशः मध्यप्रदेशो निर्वलिर्वलिरहितो विहितः, किंभूतो मध्यदेशः त्रिकविनतिततः त्रिकस्य विनत्या विनयेन तत आच्छादितः, एकत्र वलयो वल्यः अन्यत्र बलिरसुरः; क्षतरिपुशिरसः रिपोः शिरो रिपुशिरः महिषमूर्द्धेत्यर्थः क्षतं च तत् शिरश्च तत् ततः क्षतरिपुशिरसः, पादपातैश्चरणपातनैर्नूपुरप्रह्लादः शब्दोऽगात्, छलपक्षे प्रह्लादोऽसुरः, सङ्ग्रामे युद्धे संतता अविच्छिन्नत्वेन महिषं व्यथयसि अपि तु अन्यानपि, ये के पुनस्ते येऽत्र विद्यन्ते नैव बाणबलिप्रह्लादा इति ॥३०॥

मेरौ मे रौद्रशृङ्गक्षतवपुषि रुषो नैव नीता नदीनां
भर्त्तारो रिक्ततां यत्तदपि हितमभून्निःसपत्नोऽत्र कोऽपि ।
एतन्नो मृष्यते यन्महिषकलुषिता स्वर्धुनी मूर्ध्नि मान्या
शम्भोर्भिद्यात्[1] हसन्ती पतिमिति शमिताऽरातिरीतीरुमा वः ॥३१॥

कुं० वृ०— उमा पार्वती वो युष्माकं ईतीः उपद्रवान् भिद्यात् नाशयतु, किंभूता उमा शमिताऽरातिः हतशत्रुः, किं कुर्वती इति पतिं हसन्ती, इतीति किं हे शम्भो ! मेरौ पर्वते शृङ्गक्षतवपुषि सति मे मम रुषः कोपाः नैव न जाताः; रौद्रे च ते शृङ्गे च रौद्रशृङ्गे ताभ्यां क्षतं विदारितं वपुर्यस्य स तथा तस्मिन् अयमर्थः । महिषेण शृङ्गाभ्यां मेरुपर्वते विध्वस्ते मे रुषो न जाताः, मे अरौ शत्रौ पितुः स्पर्द्धित्वात् यत् नदीनां भर्त्तारः समुद्राः रिक्ततां नीताः शोषिताः, तदपि मम हितं अभूत् । अत्र समुद्ररिक्तीकरणे कोऽपि निःसपत्नो जातः, कोऽपीत्यनेन सर्वनाम्ना नामग्रहणायोगात् स्वकीयं भर्त्तारं परामृशति, अयं आशयः । शम्भुरपि नद्या गङ्गाया भर्त्ता समुद्रा अपि नदीनां (27a) भर्त्तारः अतस्तद्रिक्ती-करणे ईश्वरस्य सपत्नविध्वंसात् हितं एव अभूत् । एतच्च मया नो मृष्यते न सह्यते, किं तत्, यत् स्वर्धुनी गङ्गा महिषकलुषिता सती मूर्ध्नि मान्या महिषेण

१. ज० क० भिन्द्यात् ।

कलुषिता महिषकलुषिता भगवता शम्भुना मान्या सती मूर्ध्नि विधृता अनया रीत्या महतां खलु दोषो भवतीति उपहासार्थः ॥३१॥

सं०व्या०—३१. मेरौ मे इति ॥ उमा गौरी वो युष्माकं ईतीः उपद्रवान् भिन्द्यात् भिन्दतु, किंभूता शमितारातिः शमितो व्यापादितः अरातिः शत्रुर्यया सा तथोक्ता, किं कुर्वती हसन्ती पतिं भर्त्तारं इति; तदाह, मेरावित्यादि, महिषेति तृतीये पादे सम्बोधनपदं तदिहापि संबोध्यते, हे महिष ! मेरौ देवाद्रौ रौद्रश्रृङ्ग-क्षतवपुषि सति नैव मे रुषः कोपाः इतोऽप्यपरो महान् अपराध इति भावः, रौद्रं च तत् श्रृङ्गं च तेन क्षतं वपुः शरीरं यस्य मेरोः इति विग्रहः। नदीनां भर्त्तारः समुद्राः यत् रिक्ततां नीताः प्रापिताः तदपि हितमुपकारमभूत्, निःसपत्नो विगत-शत्रुः, अत्र कोऽपि कश्चित् यत्तदत्राभिप्रायः, अस्मदीयः पतिः सरितो भर्त्ता तस्य नदीनां भर्त्तारः सपत्ना भवन्त्यतः तद्रिक्तीकरणेनास्माकं त्वया प्रत्युपकृतं नाप-राद्धमिति, एतन्नो मृष्यते नो क्षम्यते यत्तु महिषकलुषिता कलुषीकृता स्वर्धुनी गङ्गा किंविशिष्टा मान्या पूज्या शम्भोरस्मत्प्रभोः क्व शिरसि मूर्ध्द्नि अत एव शम्भोर्मान्येति उक्तम् ॥३१॥

सद्यःसाधितसाध्यमुद्धृतवती शूलं शिवा पातु वः
पादप्रान्तविलग्न[1] एव महिषाकारे सुरद्वेषिणि।
दिष्ट्या देव वृषध्वजो यदि भवानेषाऽपि नः स्वामिनी
सञ्जाता महिषध्वजेति जयया केलौ कृतेऽर्द्धस्मिता ॥३२॥

कु० वृ०—शिवा शिवभार्या पार्वती वः पातु युष्मान् रक्षतु, किं कृतवती शूलं उद्धृतवती अर्थात् महिषस्कन्धात्, किंविशिष्टं शूलं सद्यःसाधितसाध्यं साधितं महिषवधलक्षणं साध्यं येन तत्तथा, क्व सति महिषाकारे सुरद्वेषिणि पादप्रान्तविलग्ने एव सति, पादस्य प्रान्तोऽग्रं तत्र विलग्नः पादप्रान्तविलग्नस्त-स्मिन् चरणप्रान्ते विलग्ने एवेति, किंविशिष्टा भवानी, जयया केलौ इति कृते क्रीडायां कृतायां अर्द्धस्मिता अर्द्धं स्मितं यस्याः सा तथोक्ता ईषद्हसना इत्यर्थः, इतीति किं, हे देव ! यदि भवान् वृषभध्वजः तर्हि दिष्ट्या दैवेन मङ्गलं एतत्, एषाऽपि नोऽस्माकं स्वामिनी महिषध्वजा सञ्जाता, हे ईश ! लोकैर्यदि वृषध्वजः कथ्यसे तदेतन्मा त्वं ज्ञासीर्यतो मां एव लोका वृषध्वजं कथयन्ति, न त्वां, इति कुतो यत एषाऽपि नोऽस्माकं स्वामिनी महिषध्वजा सञ्जातेति तैर्महिषध्वजा

१. ज० प्रोतप्रान्तविषक्त; का० पादप्रान्तविषक्त।

कथ्यते, अतस्ते किं आधिक्यम्, एतस्याः पुनराधिक्यं अस्ति वृषात् महिषस्य अधिकबलत्वात् ।।३२।।

सं० व्या०—३२. सद्य इति ।। शिवा गौरी वो युष्मान् पातु रक्षतु, किं कृतवती उद्धृतवती उत्क्षिप्तवती, किं शूलं आयुधविशेषं, किंविशिष्टं शूलं सद्यः-साधितसाध्यं सद्यस्तत्क्षणं साधितः साध्यो महिषो येन तत् तथोक्तं, क्व सति सुरद्वेषिणि प्रोतप्रान्तविषक्त एव संलग्न एव देवशत्रौ किंभूते महिषा-कारे महिष आकारो यस्येति विग्रहः, किंविशिष्टा शिवा अर्द्धस्मिता इत्येवं जयया प्रतीहार्या केलौ परिहासे कृते सति तमेव केलिदृष्ट्या देवेत्यादिना दर्शयति, हे देव ! भट्टारक ! यदि वृषध्वजो वृषभचिह्नो दिष्ट्या वर्द्धसे एषाऽपि नः स्वामिनी शिवा गौरी महिषध्वजा महिषकेतुः सञ्जाता, वृषभमहिषयोः पशुत्वात् सदृशचिह्ने युवयोर्द्वयोः सम्प्रति जाते, इति भावः ।।३२।।

विद्राणेन्द्राणि ! किं त्वं द्रविणददयिते ! पश्य संख्यं[1] स्वसख्याः

स्वाहे ! स्वस्था स्वभर्त्तर्यमृतभुवि[2] मुधा रोहिणी रोदितीव ।

लक्ष्मि ! श्रीवत्सलक्ष्मोरसि वससि पुरेत्यार्त्तमाश्वासयन्त्यां

स्वर्गस्त्रैणं जयायां जयति हतरिपोर्ह्रेपितं हैमवत्याः[3] ।।३३।।

कु० वृ०—हिमवतोऽपत्यं हैमवती तस्या ह्रेपितं लज्जितं जयति, भवति हि मव[ह]तां लज्जा प्रत्यत्सं[क्ष]प्रभाववर्णनतः, कस्मिन् समये तदित्याह, इति एवं प्रकारेण जयायां स्वर्गस्त्रैणं स्वर्गस्त्रीसमूहं आश्वासयन्त्यां सुखयन्तीं(न्त्यां), किं-भूतं स्त्रैणं, आर्त्तं भीमं[तं], केन प्रकारेण, हे इन्द्राणि ! इन्द्रभार्ये ! त्वं किं विद्रावणा(विद्राणा), संयोगादेरातोधातोर्यणवत इति जननिष्ठाकस्य अजाद्यतष्टाप्, गता पलाय्य गता, इदानीं धीरा भव मध्यदेशप्राकृतभाषानुसारेण संस्कृतं इव तत्र विद्राणेत्युच्यते; अन्यच्च, हे द्रविणददयिते! धनदभार्ये! त्वं अपि भयं मा कार्षीर्यतः स्वसख्याः स्ववयस्यायाः संख्यं सङ्ग्रामं पश्य वीक्षस्व, एतदुक्तं भवति यत्र इत्थं शक्ति-रूपा देवी स्वयं युध्यते तत्र किं अस्माकं भयं भवति सखीं त्वं सोत्तराशा ऐशान्याशानैक-

१. ज० सख्यं ।

२. ज० का० स्वभर्त्तर्यमृतभुजि । अमृतसूजीत्यपि अन्यत् पाठान्तरं काव्यमालाप्रतौ दर्शितम् ।

३. क० हैमवत्या ।

ट्यात्। अपि च, हे स्वाहे ! अग्निभार्ये ! स्वस्था आस्व त्वमपि मा भैषी:, अन्यच्च, हे देवस्त्रियः ! इयं रो(27b)हिणी मुधा रोदितीव, क्व स्वभर्त्तरि विषये, कथंभूते स्वभर्त्तरि अमृतभुवि, अमृतस्य भूः स्थानं अमृतभूः तस्मिन् अमृतभुवि, यस्तु अमृतभूः स किं म्रियते; अन्यच्च, हे लक्ष्मि ! श्रीवत्सलक्ष्मोरसि श्रीवत्सो लक्ष्म चिह्नं यस्य स श्रीवत्सलक्ष्मा तस्य उरस्तस्मिन् त्वं पुरा वससि वत्स्यसीत्यर्थः, यावत् पुरा निपातयोर्लट् परेति वा पाठः। लक्ष्मीः श्रीविष्णूरसि परा उत्कृष्टा वसतु, पूर्वं दैत्यभयात् मलिना आसीत्, साम्प्रतं निर्म्मला सती वसतु, क्व सति शत्रौ हते सति ॥३३॥

सं० व्या०—३३. विद्राणेन्द्राणीति ॥ हिमवतोऽपत्यं हैमवती गौरी तस्याः ह्रेपितं लज्जितं जयति ह्रेपितमिति ह्रेपः नपुंसके भावे क्त-प्रत्ययः, किंविशिष्टाया हैमवत्याः हतरिपोः हतो रिपुर्महिषो यया तस्याः हतरिपोः, क्व सत्यां ह्रेपितं जयायां प्रतीहार्यामित्येवमाश्वासयन्त्यां सम्बोधयन्त्यां, कं स्वर्गस्त्रैणं स्त्रीपुंसाभ्यां 'नञ्स्नञा-विति तद्धिते नञ्,' स्वर्गे स्वर्गस्य वा स्त्रैणमिति तत्पुरुषः, किंविशिष्टं स्वर्गस्त्रैणं आर्त्तं पीड़ितं, महिषासुरो यद्रवेणेति कथमाश्वासयन्त्यामित्याह, विद्राणेन्द्राणीति आदि, हे इन्द्राणि! इन्द्रपत्नि! त्वं किं विद्राणा विषण्णा न पश्यसि, अस्मत्स्वामिन्या महिषवधः कृत इति भावः, हे द्रविणददयिते ! धनदप्रिये ! पश्य अवलोकय सख्यं स्वसख्याः कर्म्म महिषवधाख्यं सख्यमिति सख्युर्य इति य-प्रत्ययः, कस्याः सख्यं स्वसख्याः गौर्याः इत्यर्थः; हे अग्निदयिते ! स्वाहे ! स्वस्था निराकुला तिष्ठ, भर्त्तरि अग्नौ अमृतभुजि सति 'अमृतं हि विधिना यदग्नौ हूयते', कोऽर्थः महिषवधे सति द्विजेष्टिर्भव्येन भविष्यति मुधा वृथा रोहिणी चन्द्रपत्नी रोदितीव; हे लक्ष्मि! कमले ! श्रीवत्सलक्ष्मोरसि श्रीकृष्णस्योरसि पुरावत् वत्स्यसि इति इदानीं पुनः सुखेन वससि, यावत् पुरानिपातनयोर्लडिति भविष्यति लट्-वर्तमानः ॥३३॥

निर्वाणः किं त्वमेको रणशिरसि शिखिन् शार्ङ्गधन्वाऽपि विध्यँ-
स्तत्ते धैर्यं क्व यातं जहिहि जलपते ! दीनतां त्वं न दीनः।
शक्ता ते शत्रुभग्ने[1] भयपिशुन सुनासीर नासीरधूलि-
र्धिग्यासि क्वेति जल्पन् रिपुरवधि यया सा वतात्पार्व्वती वः[2] ॥३४॥

कु० वृ०—सा पार्व्वती वो युष्मान् अवतात् रक्षतु, सा का यया शत्रुर्महिषो-

---

१. ज० का० शक्तो नो शत्रुभङ्गे।

२. ज० का० पार्वती पातु सा वः।

ऽवधि निपातितः, किं कुर्व्वन् इति जल्पन् इति कथयन्, इतीति किं, हे शिखिन् ! अग्ने ! मद्भयेन [त्वं एकः किं निर्व्वाणः प्रशान्तो विगततेजाः संपन्नः किन्तु शार्ङ्गधन्वाऽपि विष्णुरपि निर्वाणः बाणरहितः संपन्नः, किं कुर्वन् रणशिरसि मां विध्यन् ताडयन्, शार्ङ्गधन्वेत्यस्य कोऽभिप्रायः सुशिक्षितधनुर्विद्योऽपि सन्; अन्यच्च, हे जलपते ! समुद्र! तव तथाविधं धैर्यं क्व गतं क्व यातं इदानीं दीनतां जहिहि मुञ्च दैन्यं त्यज, यतस्त्वं न दीनः कदाचिदपि दीनो न भवसि, अत्र उक्तिलेशः, नदीनां इनः स्वामी नदीनः यस्तु चपलानां स्वामी भवति स धैर्यं त्यजत्येव; अपि च, हे सुनासीर ! इन्द्र ! हे भयपिशुन ! भयसूचक ! भयं पिशुनयति सूचयति इति भयपिशुनः, शोभनं नासीरं सेनामुखं यस्य स सुनासीरः, ते नासीरधूलिः सैन्यरेणुः शत्रुभङ्गे शक्ता इति श्रयते, अत्र अकारप्रश्लेषात् अभयपिशुन इति सुनासीरत्वात् तव भयपिशुनता अनुचितेति कृत्वा तदेवं गुणविशिष्टस्त्वं ममाग्रतः क्व यासि क्व पलायसे अधैर्यादेतत्ते न युक्तम् ।।३४।।

सं० व्या०—३४. निर्वाणः किमिति ।। सा पार्वती वो युष्मान् पातु रक्षतु यया पार्वत्या रिपुः शत्रुर्महिषोऽवधि हतः, किं कुर्वन् एवं जल्पन् इत्येवं, निर्वाणः किं त्वमेक इत्यादि, हे शिखिन् ! वैश्वानर ! किं त्वमेकः केवलो रणशिरसि सङ्ग्राममूर्द्धनि निर्वाणो निःस्नेहको जातः, किन्तु शार्ङ्गधन्वाऽपि विष्णुरपि निर्वाणः, किं कुर्वन् विध्यन् ताडयन् शरैर्मामित्यर्थान्नेयं शार्ङ्गं धनुरस्येति विग्रहः 'धनुषश्चा-तडित्यसमासान्तः कोऽर्थः शरं मुञ्चन् विष्णुरपि निर्वाणो बाणरहितः न च किमपि साधितं तत्ते धैर्यं क्व यातं, शिखिन् ! तव धैर्यं क्व जातं; जलपते ! वरुण ! जहिहि त्यज दीनतां दैन्यं, त्वं न दीनः, यः किल दीनो भवति स दीनत्वं जल्पति त्वं नदीनो नदीनामिनः [स्वामी] इति, हे सुनासीर! शक्र ! भयपिशुन! भयसूचक! आशीर्वज्रस्ते तव शत्रुभङ्गे शत्रूणां भङ्गे शक्तः समर्थः, न अधूलिः किन्तु धूलिः पातु माम् प्रातर्विष्णुत्वादिति भावः, आशृणोतीत्याशीः इति शृणातेराङ्पूर्वात् क्विप्, धिक् निन्दायां, क्व यासि शक्र ! क्व गच्छसि, मम वशीभूत इत्यर्थः ।।३४।।

नन्दिन्नानन्ददो मे तव मुरजमृदुः संप्रहारे प्रहारः
किं दन्ते रोम्णि रुग्णे व्रजसि गजमुख ! त्वं वशीभूत एव ।
निघ्नन्निघ्नन्निदानीं द्युजनमिह महाकाल एकोऽस्मि कोऽन्यः[1]
कन्याद्रे दैत्यमित्थं प्रमथपरिभवे[2] मृद्नती त्रायतां वः ।।३५।।

---

१. ज० का० नान्यः ।

२. ज० प्रथमपरिभवे ।

कुं० वृ०—अद्रेः कन्या पर्वतपुत्री वः [त्रायतां] पालयतु, किं कुर्वती मृद्नती चूर्णयन्ती, कं दैत्यं, किंभूतं इत्थं व्यावल्गन्तं, क्व प्रमथपरिभवे 'प्रमथाः स्युः पारिषदाः', प्रमथानां परिभवः प्रमथपरिभवः तस्मिन् प्रमथपरिभवे, कथं केन प्रकारेण, हे नन्दिन् ! हे महेश्वरगण ! सम्प्रहारे सङ्ग्रामे यस्त्वदीयः प्रहारः आघातः स मम आनन्ददः, आनन्दं ददातीति आनन्ददः, अथवा हे नन्दिन् ! ते प्रहारो मे आनन्ददो न अपि तु सम्यगानन्ददः, अथ आनन्दं द्यति खण्डयति आनन्ददः अत्र उपहासमात्रं द्योत्यते; किंभूतः प्रहारः मुरजमृदुः मुरजे वाद्यविशेषे य आ(28a)घातस्तद्वन्मृदुः यतस्त्वं मुरजवादनप्रवीणः तदीयो यः प्रहारः अमुरजाघातसदृश एव; अपि च, हे गजमुख ! त्वं किं व्रजसि किं यासि त्वं वशीभूतः एव मया गृहीत एव, क्व सति दन्ते विषाणे रोम्णि अर्थान्मामके परिणमनात् तिर्यक्दत्तप्रहारास्तु (त्तु) भग्ने सति तव एक एव दन्तोऽभूत्, तं अपि त्यक्त्वा व्रजन् न लज्जसे; अपि च, हे महाकाल ! हरगण ! त्वं एतन् मा ज्ञासीः यत् अहं एक एव महाकालो न द्वितीयः यावता इहास्मिन् युद्धे अहं एव महाकालो मृत्युरूपः कोऽन्यः, महाँश्चासौ कालश्च महाकालः अत एव ममाग्रतः क्व यास्यसि, किं कुर्वन् द्युजनं देवसमूहं निघ्नन् चूर्णयन् वीप्सालाघवार्थविशेषणद्वारेण हेतुः । अथ निघ्नन् परवशं निघ्नन् चूर्णयन् ॥३५॥

सं० व्या०—३५. नन्दिन्निति ॥ अद्रेः कन्या पर्वतदुहिता वो युष्मान् त्रायतां रक्षतु, किं कुर्वती मृद्नती निघ्नती कं दैत्यं दितिजं महिषमित्यर्थः, क्व सति प्रथमपरिभवे सति, कथमित्थमनेन प्रकारेण तदुच्यते, हे नन्दिन् ! नन्द्याख्य ! मे प्रहारो घातः संप्रहारे युद्धे आनन्ददः आनन्ददाता, किंभूतः प्रहारो मुरजमृदुः [मृदङ्ग] कोमलः एवं प्रहारोऽपि आनन्दद इति, अत्र छलपक्षे कालो यमः महांश्चासौ कालश्चेति विग्रहः, किं कुर्वन् निघ्नन् व्यापादयन् अधुना इदानीं किं द्युजनं स्वर्गजनं निघ्नन् इति वीप्सायां द्विवचनम्[१] ॥३५॥

वज्रं मज्ञो मरुत्वानरि हरिरुरसः शूलमीशः शिरस्तो
दण्डं तुण्डात् कृतान्तस्त्वरितगतिगदामस्थितोऽर्थाधिनाथः ।
प्रापन् यत्पादपिष्टे द्विषि महिषवपुष्यङ्गलग्नानि भूयो-
ऽप्यायूंषीवायुधानि द्युवसतय [इति] स्तादुमा सा श्रिये वः ॥३६॥

[१]श्लोकस्य द्वितीयपादस्य व्याख्या प्रतौ लिपिकर्तृप्रमादाद्विसृष्टा नाम, तदेवमनुपूर्यते--हे गजमुख ! रोम्णि रोमसदृशे दन्ते रदने रुग्णे भग्ने सति किं व्रजसि किं पलायसे यतस्त्वं पलायमानोऽपि वशीभूत एव गृहीत एव, लम्बोदरत्वात् क्षिप्रधावनं कर्तुं असमर्थोऽसि, इति भावः ॥

कु० वृ०—सा उमा पार्वती वो युष्माकं श्रिये स्तात् भवतु, सा का यत्पाद-पिष्टे यस्याः पादेन पिष्टे इति अत्राऽसमर्थः समासः, यत्पादपिष्टे चूर्णिते महिष-वपुषि द्विषि सति द्युवसतयो देवाः स्वानि स्वान्यायुधानि भूयोऽपि प्रापन् लेभिरे, कानीव आयूंषीव आयुधजीविनां किल आयुधान्यैवायूंषि, आयुधजीवित्वाच्छ्ः, किं प्रापत् इत्याह, वज्रं मज्ञो मरुत्वान्, देवेन्द्रः महिषस्य मज्जासंज्ञकधातुतो वज्रं प्रापत् लेभे, हरिर्नारायणो महिषस्योरसः अरि चक्रं प्रापत्, अरा विद्यन्ते यस्य आयुधानां विशेषं, अपि च, ईशो महादेवः शिरस्तः शिरःसकाशात् शूलं प्रापत्; अपि च, कृतान्तो यमः तुण्डात् मुखात् दण्डं प्रापत्; अन्यच्च, अर्थाधिनाथो धनदः अस्थितः अस्थ्नः सकाशात् गदां प्रापत्; किमुक्तं भवति, देवैः स्वानि स्वान्यायुधानि महिषं प्रति मुक्तानि तानि तेषु तेष्ववयवेषु लग्नानि न पुनस्तैर्मृतः परं देव्याः पादपातेन मृते महिषे सति तत्तत्प्रदेशेभ्यस्तान्येव देवा भूयोऽपि गृहीतवन्त इति वाक्यार्थः ॥३६॥

सं०व्या०—३६. वज्रमिति ॥ उमा गौरी वो युष्माकं श्रिये सम्पदे स्तात् भवतु, यत्पादपिष्टे यस्याः पादेन पिष्टे चूर्णिते द्विषि शत्रौ महिषवपुषि शरीरे अङ्गलग्नानि पूर्वं मुक्तानि आयुधानि प्रहरणानि भूयोऽपि पुनरपि आयूंषीव जीवितानीव द्युवसतयो देवाः प्रापन् प्राप्तवन्तः, द्युवसतयः आयुधानि पुनः प्रापन् इत्याह, वज्रं मज्ञो मरुत्वानित्यादि, मरुत्वानिन्द्रो वज्रं मज्ञः मज्जधातोः सकाशात् प्राप्तवान्, अराः अस्य सन्तीति अरि चक्रं हरिर्विष्णुरुरसो लब्धवान् प्राप्नोति स्म, शूलं प्रहरणविशेषं ईशो महादेवः शिरस्तो मूर्द्ध्नः आसादितवान्, दण्डाग्रायुधं तु मुखाग्रंतु(ग्रात्तु) कृतान्तो यमः प्राप्नोति स्म, गदं प्रहरणमस्थितोऽस्थ्नः अर्थाधिनाथो धनदः त्वरितगतिर्यस्मिन् प्रापणे तद्यथा भवत्येवं प्राप्तवानिति ॥३६॥

दृष्टावासक्तदृष्टिः प्रथममिव तथा[1] सम्मुखीनाभिमुख्ये[2]
स्मेरा हासप्रगल्भे प्रियवचसि कृतश्रोत्रपेयाधिकोक्तिः।
उद्युक्ता नर्म्मकर्म्मण्यवतु पशुपतेः[3] पूर्ववत् पार्व्वती वः
कुर्वाणा सर्वमीषद्विनिहितचरणाऽलक्तकेव क्षतारिः ॥३७॥

---

१. 'कृतमुखविकृतिः' इति काव्यमालाप्रतावतिरिक्त-पाठान्तरम्।
२. ज० सम्मुखीवाभिमुख्ये।
३. का० पशुपतौ।

कुं० वृ०— पार्वती गिरीन्द्रतनया वो युष्मान् अवतु, किंभूता पूर्ववत् पशुपतेर्महेशस्य(28b) यथा पशुपतेर्महिषस्य ईदृक् एवविधं कर्म्म ईषत् कुर्व्वाणा, ईषदिति तदाभासत्वेन सर्व्वं कुर्व्वाणा, किं तदाह, महिषे निरीक्ष्यमाणे तस्य दृष्टौ आसक्तदृष्टिः आरोपितदृष्टिः; अन्यच्च, कृतमुखविकृतिः तस्मिन् कोणेन भ्रूभङ्गमुखारक्तत्वाऽधरकम्परूपां मुखविकृतिं कुर्व्वती तथैव कृतमुखविकृतिः तस्य आभिमुख्ये सम्मुखत्वे सम्मुखीना सम्मुखीनेत्यत्र यथा मुखसम्मुखस्य दर्शनं सम्मुखीनः दृश्यतेऽस्मिन्निति दर्शनसम्मुखीना सम्मुखा; अन्यच्च, तस्मिन् हासप्रगल्भे उपहासचतुरे सति स्मेरा सहासा सा, तावत् किं ब्रूते, आह, मन्ये देवैर्महेश्वरप्रभृतिभिर्जितः पूर्वं, सम्प्रति इयं अपि मां जेतुं आगता अत एव एनां प्रति मम उपहासः प्रतिभासते; अपि च, तस्मिन् प्रियवचसि ललितवचने सति कृतश्रोत्रपेयाऽधिकोक्तिः कृता श्रोत्राभ्यां पेया श्रव्या अधिका उक्तिर्यस्याः सा तथा; इदानीं महिषः कथयति, हे चण्डि ! आगच्छ यत् त्वं युद्धविषये योग्या भवसि प्रवीणा श्रूयसे; देवी आह, हे महिषासुर ! त्वमपि सामान्यो न भवसि यतो निजभुजयुगबलविजितसकलसुरनिकरः; अन्यच्च, तस्मिन् महिषे नर्म्मकर्म्मणीति युद्धावसरत्वात् मारकर्म्मणीत्युपचर्यते तस्मिन् महिषे मारकर्म्मणि उद्युक्ते सति उद्यते सति साऽपि तथैवोद्युक्ता प्रगुणीभूता पशूनामुपकृतत्वेन महिषं व्यादिश्य पशुपतेर्महेश्वरस्य सादृश्यात्तथाऽभिधीयते, क्रीडासमये हरे आसक्तदृष्टौ आसक्तदृष्टिः; अन्यच्च, कामेच्छया तस्मिन् कटाक्षनिरीक्षणरूपां मुखविकृतिं कुर्व्वति सति साऽपि कृतमुखविकृतिः; अन्यच्च, तस्य आभिमुख्ये सति सम्मुखीभूता; अपि च, तस्मिन् हासप्रगल्भे सहासा; अन्यच्च, तस्मिन् प्रियवचसि कृतश्रोत्रपेयाऽधिकोक्तिः; अन्यच्च, तस्मिन् नर्म्मकर्म्मणि स्मरव्यापारविषये उद्युक्ते सति साऽपि तथैवोद्युक्ता, किंविशिष्टा सा, विनिहितचरणालक्तकेव आरोपितपादालक्तका इव, अलक्तकप्रतिरहितपादेवेत्यर्थः । पुनः किंविशिष्टा सा क्षतारिः क्षतशत्रुः ।।३७।।

सं० व्या०—३७. **दृष्टावासक्तदृष्टिरिति** ।। पार्वती पर्वतपुत्री वो युष्मान् अवतु रक्षतु, पशुपतेः शङ्करस्य सम्बन्धि सर्वं पूर्ववद्यथापूर्वमेव कुर्वाणा विदधाना, किंभूता उद्युक्ता उद्यता स्वनर्मकर्मणि परिहासक्रियायां, कथंभूता क्षतारिः क्षतो अरिर्यया सा तथोक्ता, ईषद्विनिहितचरणालक्तका ईषत् मनाक् विनिहितो न्यस्तः चरणालक्तको यया तथा, इत्युक्तं भवति व्यापादितमहिषरक्ताक्तचरणा विन्यस्तालक्तकेव लक्ष्यते नर्म्मकर्म्मोद्यता, किमवस्था या पार्वती दृष्टावासक्तदृष्टिः आसक्ता लग्ना दृष्टिर्यस्याः सा आसक्तदृष्टिः, प्रथममिव तथा तेनैव प्रकारेण सम्मुखी चाभिमुखी क्व आभिमुख्ये अभिमुखभावे पशुपतेरिति सम्बन्धः, हासेन प्रगल्भे हासप्रगल्भे प्रियं च तत् वचश्च प्रियवचस्तस्मिन् प्रियवचसि हासप्रगल्भे पशुपतौ

स्मेरा स्मयनशीला, कृता श्रोत्रपेयाधिकोक्तिः कृता श्रोत्रपेया श्रवणग्रहणयोग्या अधिका सातिशयोक्तिर्वचनं यया सा तथोक्ता अत एव सर्वं पशुपतेः कुर्वाणेत्युक्तम् ।।३७।।

दैत्यो दोर्दर्पशाली नहि महिषवपुः कल्पनीयाभ्युपायो
वायो वारीश विष्णो वृषगमन वृषन् कि[1]विषादो वृथैव ।
[ब]ध्नीत ब्रध्नमिश्राः कवचमचकितश्चित्रभानो दहारी-
नेवं देवान् जयोक्ते[2] जयति हतरिपोर्ह्रेपितं हैमवत्याः[3] ।।३८।।

कुं० वृ०—हैमवत्याः ह्रेपितं लज्जितं जयति, कथंभूतायाः हतरिपोः हतो व्यापादितो रिपुर्यया सा तथा तस्या देवान् प्रति इति जयोक्ते सति, जयया उक्तं जयोक्तं तस्मिन् जयोक्ते, कि तत् जयोक्तं तदाह, हे वायो ! हे वारीश ! वरुण! हे विष्णो ! हे वृषगमन ! महेश ! हे वृषन् ! इन्द्र ! भवतां सर्वेषां किमिति कस्मात् कारणात् वि(29a)षादः शोचनं कथं वृथा निःप्रयोजनं यतः कारणादयं दैत्यः कल्पनीयाभ्युपायः कल्पनीयश्चिन्त्योऽभ्युपायो यस्य स तथा, किमुक्तं भवति केनापि तावदुपायेनास्य वधः कर्त्तुं युज्यते इति, हि यस्मादयं महिषवपुर्महिषशरीरोऽतएव न दोर्दर्पशाली, दोष्णां दर्प्पो दोर्दर्पस्तेन शालते इत्येवंशीलः, अस्य बाहू न विद्येते इत्यर्थः । अथ महिषवपुष्ट्वात् मायाबलेन कृत्वा वर्तमानः कल्पनीयाऽभ्युपायेन आत्तो यत्नो विधेयः, तमेवाभ्युपायं आह, हे देवा ! यूयं कवचं बध्नीत, किंविशिष्टा यूयं ब्रध्नमिश्राः सूर्यसहिताः, पुनः किंविशिष्टा यूयं अचकिताः अत्रस्ताः सन्तः; अपि च, हे चित्रभानो ! चित्रा भानवो यस्य स चित्रभानुरग्निः, हे अग्ने ! त्वं किमिति भीतः भयं मा कार्षीः, किन्तर्हि, अरीन् दह भस्मीकुरु ।।३८।।

सं० व्या०—३८. **दैत्यो दोर्दर्पशालीति** ।। देवी भगवती जयति, ह्रेपितस्वर्णिकाया, स्वः स्वर्गो निकायो निवासो येषां ते स्वर्णिकायाः, ह्रेपिता लज्जिताः स्वर्णिकायाः यया सा तथोक्ता देवी, क्व सति एवमित्थं जयया प्रतीहार्या उक्तमभिहितं जयोक्तं तस्मिन् जयोक्ते सति, किंभूता देवी हतरिपुः हतो रिपुर्महिषाख्यो यया

---

१. ज० बृहत् कि ।

२. ज० देवी जयोक्ते ।

३. ज० हतरिपुर्ह्रेपितस्वर्णिकाया ।

सा हतरिपुः, कथं जयोक्तं तदुच्यते, दैत्यो दोर्दर्पशालीत्यादि, दोषो(ष्णो)र्दर्पस्तेन शाली शालि शीलं यस्य स (दो)र्दर्प्पशाली, कल्पनीयाभ्युपाय: कल्पनीयः अभ्युपायः सामादिको यत्र स कल्पनीयाभ्युपायः दैत्यो दितिजो दर्प्पशाली कल्पनीयाभ्युपायो न यस्मात् महिषवपुः महिषशरीरे तिर्यक्त्वेनाऽबाहुकोऽयमिति भावः। वायो पवन ! वारीश वरुण ! विष्णो हरे ! वृषगमन शम्भो ! बृहत् महान् किं विषादो विषण्णता वृथैवेत्यर्थः, बध्नीत कवचं सन्नाहं अचकिता अशङ्किताः किमेकाकिनो भवन्तो ब्रध्नमिश्राः, ब्रध्नेन भानुना मिश्राः युक्ताः, चित्रभानो व (वह्ने !) दह भस्मीकुरु अरीन् शत्रून् महिषपक्षानित्यर्थः ॥ ३८॥

आव्योमव्यापिसीम्नां[१] वनमतिगहनं गाहमानो भुजाना-
मर्च्चिर्मोक्षेण[२] मूर्च्छन् दवदहनरुचां लोचनानां त्रयस्य ।
यस्या निर्व्याजमज्जच्चरणभरनतो[३] गां विभज्य[४] प्रविष्टः
पातालं पङ्कपातोन्मुख इव[५] महिषः सा श्रिये स्तादुमा वः[६] ॥३९॥

कुं० वृ०—सा उमा पार्व्वती वो युष्माकं श्रिये स्तात् भवतु, कथंभूतेत्याह, यस्याः निर्व्याजमज्जच्चरणभरनतः सन् महिषः पातालं प्रविष्टः, निर्व्याजं अकौटिल्येन लीलया मज्जन् महिषस्कन्धे ब्रुडन् योऽसौ चरणस्तस्य भरो गुरुत्वं तेन नतः, किं कृत्वा गां पृथ्वीं विभज्य, किं कुर्वन् गाहमानो मर्दयन्, किं वनं समूहं, केषां भुजानां देवीसम्बन्धिनां बाहूनां, किंभूतानां आव्योमव्यापिसीम्नां व्योम्नः आ आव्योम आव्योमव्यापिनी सीमा मर्यादा येषां ते आव्योमव्यापिसीमानस्तेषां, किंभूतं वनं अतिगहनं, अत एव दैत्य उत्प्रेक्ष्यते पङ्कपातोन्मुख इव कर्दमाभिमुख इव महिषः किल अतिगहनं अपि कण्टकरूपं वनं अवगाह्य श्रान्तः सन् पङ्के प्रविशति; अन्यच्च, किं कुर्व्वन् अर्त्तिमोक्षेण मूर्च्छन् दीनमोचनेन (?) मूर्च्छां गच्छन् कस्य देवीसम्बन्धिनां लोचनानां त्रयस्य, किंभूतानां दवदहनरुचां दवाग्निदीप्तानां क्रोधवशाद् अतिप्रदीप्तानामित्यर्थः, देव्या नेत्रत्रयं विद्यते महेशशक्तित्वात् ॥ ३९॥

---

१. ज० अव्योमव्यापिसीम्नां ।

२. वृत्तावर्तिमोक्षेणेति पाठो व्याख्यातो विचारणीयः ।

३. ज० का० निर्मज्जमज्जच्चरणभरनतो ।

४. ज० का० विभिद्य ।

५. ज० पङ्कपातोन्मुखमिव ।

६. ज० सा शिवास्तु श्रिये वः; का० स्तादुमा सा श्रिये वः ।

सं० व्या०—३९. अव्योमेत्यादि ।। षष्ठधातोर्निर्गतोऽर्थात् सप्तमे धातौ मज्जँश्चासौ चरणश्च तस्य भरस्तेन महिषः पातालं प्रविष्टः रसातलं गतो गां पृथिवीं विभिद्य विदार्य पङ्कपातोन्मुखमिव पङ्के कर्दमे पतनं तस्मिन् मुखं अभिमुखं यथा भवति एवं प्रविष्टः, किं कुर्वन् पङ्कपातोन्मुखमिव महिषः पातालं प्रविष्टः गाहमानो यस्याः भुजानां गहनमतीववितत किंविशिष्टानां भुजानां अव्योमव्यापिसीम्नां अव्योमव्याप्तं शीलं यस्य स अव्योमव्यापिसीमा प्राप्तो येषां ते अव्योमव्यापिसीमानः पुनरपि किं कुर्व्वन् मूर्च्छां गच्छन् केन यस्य लोचनानां त्रयस्य अर्च्चिर्मोक्षेण अर्च्चिषां मुक्तां (क्त्या) किंभूतानां दवदहनरुचां दवदहनो दहनो दवाग्निस्तस्य रुक् रुचिर्येषामिति विग्रहः, इदमुक्तं भवति यथा दवाग्निदाहार्त्तः अन्यो महिषो वनघनमिच्छन् कर्दमपतनोन्मुखः प्रस्रवणगर्त्तं प्रविशति एवमसावपि देवीनेत्रत्रयविमुक्तार्च्चिपरीतः पातालं प्रविष्टः ।।३९।।

नीते निर्व्याजदीर्घामघवति[1] मघवद्वज्रलज्जानिदाने

निद्रां द्रागेव देवद्विषि मुषितभियः संस्मरन्त्याः[2] स्वभावम् ।

देव्या दृग्भ्यस्तिसृभ्यस्त्रय इव गलिता राशयः शोणितस्य

त्रायन्तां त्वां[3] त्रिशूलक्षतकुहरभुवो लोहिताम्भःसमुद्राः ।।४०।।

कु० वृ०—लोहिताम्भःसमुद्रास्त्वां त्रायन्तां रक्षन्तु, लोहितं रक्तमेव अम्भो जलं येषु ते तथा लोहिताम्भःसमुद्राः रक्षन्त्वित्याशीर्न सञ्जाघटीति यतस्तेषां बीभत्सतायामेव पर्यवसानात्, उच्यते, न तेषां अमङ्गलत्वं आशङ्कनीयं यतः सकलसुरकुलाह्लादो(29a)द्रिक्तमहिषवेषोच्छलच्छोणिताम्भःपूर्णा इति प्रत्युताऽभ्युदयायैव जगतां त्रिशूलेन यानि महिषस्य क्षतानि तान्येव कुहराणि तेभ्यो भवन्ति स्म ते त्रिशूलक्षतकुहरभुवः; अन्यच्च, किंभूतायाः देव्याः तिसृभ्यो दृग्भ्यो गलिताः; उत्प्रेक्ष्यते, शोणितस्य राशय इव अतीवक्रोधेन विलोकनेन महिषस्योपरि शोणितं वर्षन्त्य इव; किंभूतायाः देव्याः, स्वभावं संस्मरन्त्याः अर्थान्महिषस्य रौद्रचेष्टितरूपं, अथ च स्वभावं स्वां प्रकृतिं स्वस्थावस्थां स्मरन्त्याः अयं अभिसन्धिः; महिषवधात् स्वास्थ्यमिच्छोर्भगवत्याः नेत्रेभ्यः कोपारुणिमा पृथक्गत इव अत एव विशेषणद्वारेण हेतुं आह, किंविशिष्टया अत एव मुषितभिया मुषिता भीर्यया सा तथा, क्व सति, देवद्विषि देवशत्रौ द्राक् शीघ्रमेव निद्रां

१. का० निर्व्याजदीर्घां मघवति ।

२. ज० रक्ततायाः ।

३. ज० रक्षन्तु त्वां; का० त्रायन्तां वस्त्रिशूल० ।

नीते सति; किंभूतां निद्रां निर्व्याजदीर्घां मृत्युस्वरूपां इत्यर्थः, किंभूते तस्मिन् अघवति अघं पापं विद्यते यस्य सोऽघवान् तस्मिन् लोकोपद्रवकारिणीत्यर्थः, पुनः किंभूते मघवद्वज्त्रलज्जानिदाने मघवतः इन्द्रस्य वज्त्रं तस्य लज्जाया निदानं मघवद्वज्त्रलज्जानिदानं तस्मिन् पर्व्वतपक्षच्छेदेनापि वज्त्रस्य यमासाद्य कुण्ठत्वाल्लज्जा जातेत्यर्थः ।।४०।।

सं० व्या०—४०. नीते निर्व्याजेति ।। लोहितं रक्तं रुधिरमिति यावत् तदेवाम्भो जलं तस्य समुद्राः लोहिताम्भःसमुद्राः त्वां भवन्तं रक्षन्तु पान्तु किंविशिष्टाः लोहिताम्भःसमुद्राः त्रिशूलक्षतकुहरभुवः त्रीणि शूलानि अस्येति त्रिशूलमायुधं तस्य क्षतानि तेषां कुहराणि स्वभ्राणि त्रिशूलक्षतकुहराणि तेभ्यो भवन्तीति त्रिशूलक्षतकुहरभुवः, इदानीं त एवोत्प्रेक्ष्यन्ते, रक्ततायाः लोहितस्य राशयः पुञ्जास्त एव गलिता विशीर्णाः कुतो दृग्भ्यो दृष्टिभ्यस्तिसृभ्यः त्रिसंख्याभ्यः कस्या दृग्भ्यः देव्याः किं कुर्वन्त्याः देव्याः, संस्मरन्त्याः कं स्वभावं स्वां प्रकृतिं लोचनानि हि स्वत्रिभागरिक्तानि किंभूतायाः देव्याः मुषितभियः मुषितं दूरीकृतं भयं यया तस्याः, क्व सति मुषितभियः स्वभावं संस्मरन्त्याः देवद्विषि महिषाख्ये द्रागेव शीघ्रमेव निर्व्याजमेव दीर्घां निद्रां नीते सति, व्याजस्याभावो निर्व्याजमित्यव्ययीभावः तेन दीर्घा निर्व्याजदीर्घा किंविशिष्टे देवद्विषि अघवति मघवद्वज्त्रलज्जानिदाने अघः विद्यते अस्येति अघवत् तस्मिन् आगस्विनि मघवानिन्द्रस्तस्य वज्त्रमायुधं तस्य लज्जाया निदानं कारणं मघवद्वज्त्रलज्जानिदानं तस्मिन्, वज्त्रस्य महिषे अप्रभुत्वात् लज्जाभावः ।।४०।।

काली कल्पान्तकालाकुलमिव सकलं लोकमालोक्य पूर्वं
पश्चात् श्लिष्टे विषाणे विदितदितिसुता लोहिनी[1] मत्सरेण।
पादोत्पिष्टे परासौ निपतति महिषे प्राक्स्वभावेन गौरी
गौरी वः पातु पत्युः प्रतिनयनमिवाविष्कृतान्योन्यरूपा[2] ।।४१।।

कु० वृ०—गौरी पार्वती वो युष्मान् पातु रक्षतु, किंभूता गौरी, आविःकृतान्योन्यरूपा आविःकृतं प्रकटीकृतं अन्यस्यान्यस्य यद्रूपं आत्मनि न्यस्तं आत्मसम्बन्धि यद्रूपं तत्पश्चात् महेश्वरनेत्रेषु संक्रमितं तत्तद्भावां देवीं दृष्ट्वा तथाविधानि नेत्राणि जातानीत्यर्थः; उत्प्रेक्ष्यते, पत्युः प्रतिनयनमिव, नयनं नयनं प्रति प्रतिनयनं, कृष्णं रक्तं शुक्लं च; किंविशिष्टा सती एवंलक्षणा जाता इत्याह,

१. ज० का० लोहिता।
२. काव्यमालाप्रतौ 'प्रतिनयन इवाविष्कृतान्योन्यभावा' इति पाठान्तरमपि प्रदर्शितम्।

काली कृष्णवर्णा सती, किं कृत्वा पूर्वमादौ सकलं समस्तं लोकं आलोक्य दृष्ट्वा किंभूतं कल्पान्तकालाकुलमिव, कल्पे क्षयकाले आकुलमात्रमिव, किमुक्तं भवति, एवंविधं जगदालोक्य तृतीयस्याग्न्यात्मकस्य हरनयनस्य रूपं गृहीतवती, अति-बलधूमसंयोगाग्नेर्भवत्येव कृष्णत्वं; अन्यच्च किंभूता पश्चादनन्तरं मत्सरेण कोपेन लोहिनी अरुणवर्णा, हरस्य हि सूर्यात्मकं नेत्रं रक्तं भवति; कथंभूता विदित-दितिसुता विदितो ज्ञातो दितेः सुतो यया सा तथा, अथवा विदितः खंडितो दिति-सुतो यया सा तथा, क्व सति शृङ्गे महिषविषाणे श्लिष्टे पादलग्ने सति; अन्यच्च, किंविशिष्टा गौरी गौरवर्णा केन प्राक्स्वभावेन, हरस्य हि तृतीयं इन्दु-संज्ञकं नेत्रं गौरं भवति अत एव पत्युः प्रतिनयनमिवाविःकृताऽन्योन्यरूपेत्युक्तं; क्व सति, महिषे निपतिते सति, किंभूते महिषे परासौ गतजीवे; अन्यच्च, किं-विशिष्टे पादोत्पिष्टे, चरणेन चूर्णिते, विशेषणद्वा(30a) रेण हेतुः एतेन चन्द्रात्मकं नेत्रं रूपधारित्वमुक्तं, देव्याः स्वरूपावस्थायां तद्वर्णत्वात् ॥४१॥

सं० व्या०—४१. कालीति ॥ गौरी भवानी वो युष्मान् पातु रक्षतु, किमिव प्रतिनयनमिव अपरं लोचनं यथा, कस्य पत्युः शङ्करस्य, किंभूता गौरी आविष्कृतान्योन्यरूपा आविःकृतं प्रकटीकृतं अन्योन्यं स्वस्य लोचनस्य स्वरूपं यया सा तथोक्ता, एतदुक्तं भवति स्वस्य रूपं भर्तृलोचनस्य प्रकटीकृतं लोचनस्य रूपमात्मन इति, किं पुनर्लोचनरूपं यदात्मनस्तया प्रकटीकृतं लोहितं, गौरं तदुच्यते कल्पस्यान्तः स चासौ कालश्च तस्मिन्नाकुलं कल्पान्तकालाकुलं कल्पान्तकाला-कुलमिव महिषोपप्लवेन सकललोकमालोक्य पूर्वं काली कृष्णा पश्चादनन्तरं विदितदितिसुता ज्ञातदैत्या लोहिता रक्ता मत्सरेणाद्यमर्षेण क्व सति विदितदिति-सुताश्लिष्टे लग्ने सति विषाणे शृंगे पादाच्चरणात् सकाशात् पिष्टे चूर्णिते परासौ मृते महिषे पतिते सति, प्राक्स्वभावेन प्रकृत्या गौरी अवदाता उज्ज्वला; पर-आसवोऽऽस्यते परासुरिति बहुव्रीहिः ॥४१॥

गम्यं नाग्नेर्न चेन्दोः[1] सपदि दिनकृतां द्वादशानामशक्यं[2]
　　शक्रस्याक्ष्णां सहस्रं सह सुरसदसा[3] सादयन्तं प्रसह्य ।
उत्पातोग्रान्धकारागममिव महिषं निघ्नती शर्म्म दिश्याद्
　　देवी वो वामपादाम्बुरुहनखमयैः पञ्चभिश्चन्द्रमोभिः ॥४२॥

१. ज० नाग्नेर्जितेन्दुं ।

२. ज० का० द्वादशानामसह्यं ।

३. ज० सुरमहसा ।

कु॰ वृ॰—देवी वो युष्मभ्यं शर्म्म दिश्यात्, किं कुर्व्वती महिषं निघ्नती विदलयन्ती, कैः पञ्चभिश्चन्द्रमोभिः चन्द्रैः, किंविशिष्टैः वामपादाम्बुरुहनखमयैः वामपादाम्बुरुहमिव वामपादाम्बुरुहं तस्य नखास्तन्मयैः, कमिव उत्पातोग्रान्धकारागममिव, उग्रश्चासावन्धकारागमश्च उग्रान्धकारागमः उत्पाते अन्धकारागमस्तं; अग्नेर्न गम्यं न अभिभवनीयः यतः किंविशिष्टं इन्दोश्चन्द्रस्य न गम्यं; अन्यच्च, द्वादशानामपि दिनकृतां सूर्याणां अपि सपदि न शक्यं नाभिभवनीयम्; किं कुर्वन्तं शक्रस्य अक्ष्णां सहस्रं सुरसदसा सह सादयन्तं पराभवन्तं, कथं प्रसह्य बलात्, कथंभूतं उत्पातोग्रान्धकारागमं अग्नेर्न गम्यं तथा इन्दोरपि न गम्यं, पुनः किंभूतं द्वादशानां आदित्यानां अशक्यं; अत्र बहुभिरशक्यस्य कार्यस्य अल्पैः कृतत्वात् देव्या माहात्म्यातिशयः ।।४२।।

सं॰ व्या॰—४२. गम्यमिति ।। देवी भगवती वो युष्मभ्यं शर्म सुखं दिश्यात् ददातु, किं कुर्वती महिषं दैत्यं निघ्नती घातयन्ती पातयन्ती, किंभूतं महिषं उत्पातोग्रान्धकारागममिव प्रकृतेरन्यथा चोत्पातः उत्पातश्चासौ उग्रान्धकारश्च तस्यागमं उत्पातोग्रान्धकारागमं तदिव कृष्णत्वादग्न्यादितेजस्विनां असाधुत्वाच्च उत्पातोऽस्ति तिमिरकल्पो महिष इत्यर्थः, कैर्निघ्नती पञ्चभिश्चन्द्रमोभिः चन्द्रैः वामपादाम्बुरुहनखमयैः पाद एवाम्बुरुहं पादाम्बुरुहं वामञ्च तत्पादाम्बुरुहं तस्य नखाः वामपादाम्बुरुहनखाः इति प्रस्तुतास्तैः, किंभूतं महिषं गम्यं नाग्नेर्दहनस्य न गम्यं न यातव्यं जित इन्दुश्चन्द्रो येन तं जितेन्दुं, कथं सपदि तत्क्षणं, दिनकृतां आदित्यानां द्वादशानामशक्यं न शकनीयं, किं कुर्वन्तं सादयन्तं म्लानय[न्तं], शक्रस्य अक्ष्णां सहस्रं सहस्रमिन्द्रस्य दशशतीं, सह सुरसदसा सुराणां सभया सह, प्रसह्य हठात्, एतदुक्तं भवति, इन्द्रादीनां तेजस्विनामपि अनिमिषानि लोचनानि निरीक्षितुमशक्यत्वात् ग्लानिं गतानि एतदेवोत्पातोग्रान्धकारेण महिषस्यायमुक्तेति ।।४२।।

दत्त्वा स्थूलान्त्रनालावलिविघसहसद्घस्मरप्रेतकान्तं[1]
कात्यायन्यात्मनैव त्रिदशरिपुमहादैत्यदेहोपहारम् ।
विश्रान्त्यै पातु युष्मान् क्षणमुपरि धृतं[2] केसरिस्कन्धभित्ते-
र्बिभ्रत्तत्केसरालीं मणिमधुपरणन्नूपुरं[3] पादपद्मम् ।।४३।।

---

१. ज॰ का॰ स्थूलान्त्रमालावलि॰

२. ज॰ कृतं ।

३. ज॰ केसरालीमतिमुखररणन्नूपुरं । का॰ केसरालीमलिमुखररणन्नूपुरं ।

कु. वृ.—पादपद्मं युष्मान् पातु अर्थाद् देव्याः किंविशिष्टं केसरिस्कन्धभित्तेरुपरि क्षणं धृतं, किमर्थं विश्रान्त्यै, केसरिणः सिंहस्य स्कन्धः स एव भित्तिः तस्याः, किं कुर्वन् तत्केसरालीं बिभ्रत्, तस्यां केसरिस्कन्धभित्तौ केसराली केसरपङ्क्तिः तत्केसराली तां, पद्मस्य हि गर्भे केसराणि भवन्ति, किं कृत्वा दत्त्वा, कं त्रिदशरिपुमहादैत्य-देहोपहारं त्रिदशानां देवानां रिपुस्त्रिदशरिपुः, महांश्चासौ दैत्यश्च महादैत्यः त्रिदशरिपुश्चासौ महादैत्यश्च त्रिदशरिपुमहादैत्यः तस्य देहः स एव उपहारो बलिः तं त्रिदशरिपुमहादैत्यदेहोपहारमित्यतः पौनरुक्तस्य स्पष्टत्वात्; अपपाठोयमिति निश्चीयते पर्यायाणां अविकर्त्तनस्तमसामितिवत् अवयवार्थविशेषादर्शनात्, अतोऽत्र 'महाभागदेह' इति पाठेन भाव्यं; किंभूतमुपहारं, स्थूलान्त्रनालावलिविघसहसद्-घस्मरप्रेतकान्तं अन्त्राण्येव नालानि अन्त्रनालानि, स्थूलानि यानि स्थूलान्त्रनालानि तेषां आवलिः सा एव विघसो भुक्तशेषः ग्रासः तेन हसन् घस्मरोऽदनशीलः प्रेतानां कान्तो यस्मिन् स तं, कया दत्वा कात्यायन्या, केन आत्मनैव अयमाशयः, अयं महान् महिषरूप उपहारः देवीपादभुक्तशेषेणैव मे तृप्तिर्भविष्यतीति यमस्य हासे करणं, किल देव्या महोत्सवे सर्वैरुपहारो दीयते; यत्र महिषवधमहोत्सवे देव्या आत्मनैव चर(30b)णयोरुपहारो दत्त इत्यर्थः, कथभूतं पादपद्मं मणिमधु-परणन्नूपुरं मणय एव मधुपाः तै रणन् नूपुरो यत्र तत्तथा ॥४३॥

सं० व्या०—४३. दत्त्वेति ॥ पाद एव पद्मं चरणपङ्कजं युष्मान् भवतः पातु रक्षतु, किंविशिष्टं उपरिकृतं कात्यायन्या देव्या क्षणं स्तोककालं कस्या उपरिकृतं, केसरिस्कन्धभित्तिः तस्या उपरिकृतं, किमर्थं विश्रान्त्यै विश्रमणाय, पद्मस्य हि नालकेसरभ्रमणयोगो भवति स तु यथाऽवसरं दर्शयति, किं कुर्वत् पाद-पद्मं बिभ्रत् धारयत् तत्केसराली तस्याः स्कन्धभित्तेः केसराली तां, किंविशिष्टं पादपद्मं अलिमुखररणन्नूपुरं अलिवन्मुखर एव वाचालो रणन्नूपुरो यत्र तत् तथोक्तं, किं कृत्वा स्कन्धोपरिकृतं दत्त्वा त्रिदशरिपुमहादैत्यदेहोपहारं त्रिदशा देवास्तेषां रिपुः स चासौ महादैत्यश्च तस्य देहस्त्रिदशरिपुमहादैत्यदेहः स चासावुपहारश्च त्रिदशरिपुमहादैत्यदेहोपहारस्तं दत्वा, उपहारो बलिः, भगवती[त्यै] हि परेणोपहारो दीयते, कात्यायन्या आत्मनैव स्वयमेव महिषदेहोपहारं [कृ]तमिति किंविशिष्टमुपहारं स्थूलान्त्रमालावलिविघसहसद्घस्मरप्रेतकान्तं स्थूलानि च तान्यन्त्राणि तेषां मालाः स्रजस्तासामावलिः श्रेणिः पंक्तिस्तस्या विघसो भुक्त-शेषं तेन हसन्तो घस्मरा भक्षका ये प्रेताः परेतास्तेषां कान्तो वल्लभस्तं स्थूलान्त्र-मालावलिविघसहसद्घस्मरप्रेतकान्तम् ॥४३॥

कोपेनैवारुणत्वं दधदधिकतरा[1]ऽऽलक्ष्यलाक्षारसश्रीः
शिलष्यत्तुङ्गाग्रकोण[2]क्वणितमणितुलाकोटिहुङ्कारगर्भः ।
प्रत्यासन्नात्ममृत्युः प्रतिभयमसुरैरीक्षितो[3] हन्त्वरीन्वः
पादो देव्याः कृतान्तोऽपर इव महिषस्योपरिष्टान्निविष्टः ॥४४॥

कुं० वृ०—देव्याः पादो वो युष्माकं अरीन् हन्तु व्यापादयतु; कथंभूतः पादः महिषस्य उपरिष्टान्निविष्टः महिषमारूढः; पुनः कथंभूतः पादः, प्रत्यासन्नात्ममृत्युः प्रत्यासन्नोऽसुराणां आत्मनो मृत्युर्यस्मात् स तथा, यमपक्षे प्रत्यासन्न आत्मनः स्वस्य मृत्युर्मृत्युनामा यमस्य अधिकृतः पुरुषः सोऽपि महिषारूढो भवति, क इव अपरकृतान्त इव द्वितीयो यम इव; किंविशिष्टः असुरैर्दानवैरीक्षितः, कथं यथा भवति प्रतिभयं यथा भवति तथा; अन्यच्च, किंविशिष्टः पादः, श्लिष्यत्तुङ्गाग्रकोणक्वणितमणितुलाकोटिरेव हुङ्कारो गर्भे मध्यवर्त्ती यस्य स तथा; यमोऽपि प्रत्यासन्नात्ममृत्युः प्रतिभयं यथा भवति तथा मर्त्ये दृश्यते, अत एव यमसाम्यं पादस्योच्यते, यमोऽपि महिषारूढो भवति, हुङ्कारेण प्राणिनो भीषयति; किंविशिष्टः अधिकतरं आलक्ष्या दृश्या लाक्षारसस्य यावकस्य शोभाः श्रियो यस्मिन् स तथा; उत्प्रेक्ष्यते, कोपेन अरुणत्वं दधदिव ॥४४॥

सं० व्या०—४४. कोपेनैवारुणत्वमिति ॥ देव्याः भगवत्याः पादोऽङ्घ्रिः वो युष्माकमरीन् शत्रून् हन्तु व्यापादयतु, किंविशिष्टो निविष्टः स्थितः, क्व उपरिष्टात् उपरि, कस्य महिषस्य, अपर इव द्वितीय इव कृतान्तो यमः; यमोऽपि महिषोपरि वसतीत्यभिप्रायः। किंभूतः पादः, असुरैः महिषपक्षैरीक्षितोऽवलोकितः कथं प्रत्यासन्नात्ममृत्युप्रतिभयं मृत्योर्मरणात् प्रतिभयं मृत्युप्रतिभयं आत्मनो मृत्युप्रतिभयं प्रत्यासन्नं सन्निहितात्ममृत्युप्रतिभयं यस्मिन्नीक्षणे तद्यथा भवत्येवं; किं कुर्वन् पादः कोपेनैवारुणत्वं रक्तत्वं दधत् धारयन्, वस्त्वर्थस्तु स्वभावरक्तोक्तिः, अत एवाधिकतरालक्ष्यलाक्षारसश्रीरित्युक्तः, अधिकतरा अभ्यधिका लक्ष्या आलोकनीया लाक्षारसस्य यावकस्य श्रीः शोभा यस्य सः तथोक्तः; पुनरपि किंविशिष्टः पादः श्लिष्यच्छृङ्गाग्रकोणक्वणितमणितुलाकोटिहुङ्कारगर्भः तुलाकोटिर्नूपुरो मणीनां तुलाकोटिमणिः, कोणो वादकः, शृङ्गस्याग्रं शृङ्गाग्रं तदेव कोणः श्लिष्यंश्चासौ शृङ्गस्याग्रकोणश्च तेन क्वणितः शब्दितश्चासौ मणितुलाकोटिश्च श्लिष्य-

---

१. दधदधिकमलमित्यपि पाठान्तरं काव्यामालाप्रतौ पादटिप्पण्यामङ्कितम् ।

२. ज० का०—श्लिष्यच्छृङ्गाग्रकोण० ।

३. ज० का०—प्रत्यासन्नात्ममृत्युप्रतिभयमसुरैरीक्षितो ।

च्छृङ्गाग्रकोणक्वणितमणितुलाकोटिः स एव हुङ्कारो गर्भो मध्यवर्ती यस्य स तथोक्तः; यमोऽपि प्रत्यासन्नात्ममृत्युप्रतिभयहुङ्कारगर्भः कोपेनारुणत्वं दधदसुरैर्मृ तैर्दृश्यते अत एव यमसाम्ये पादस्योक्तिरिति ।।४४।।

आहन्तुं[1] नीयमाना भरविधुरभुजस्रंसमानोभयांसं
कंसेनैनांसि सा वो हरतु हरियशोरक्षणाय क्षमापि ।
प्राक्प्राणानस्य नास्यद् गगनमुदपतद्गोचरं या शिलायाः
सम्प्राप्यागामिविन्ध्याचलशिखरशिखावासयोग्योद्यतायाः[2] ।।४५।।

कुं० वृ०—सा देवी वो युष्माकं एनांसि पापानि अपहरतु नाशयतु, या किंविशिष्टा इत्याह, या गगनमाकाशं उदपतत् उत्पतिता, कथं क्षणेन मुहूर्तमात्रेणैव, किं कृत्वा शिलाया गोचरं निकटप्रदेशं संप्राप्य, किंभूतायाः शिलायाः आगामिविन्ध्याचलशिखरशिखावासयोग्योद्यतायाः विन्ध्याचलस्य शिखरं शृङ्गं तस्य शिखा अग्रभागः तत्र वासः आगामी योऽसौ विन्ध्याचलशिखरशिखावासः तस्य योग्या विस्तीर्णत्वेन रम्यतया च उत्कृष्टा सा चासौ उद्यता उच्छ्रिता च तस्याः, अयमभिप्रायः, भाविनं विन्ध्यगिरिशिखरशिखावासं विचिन्त्य सम्प्रत्येव तं कर्तुमागतेयं; श्रूयते च एवं, तदनन्तरं कतिचिद्दिनेषु गतेषु तस्यां शिलायां देवी कृतवसतिः सती विन्ध्यवासिनीति प्रसिद्धा; अथवा पाठान्तरेणास्यैव व्याख्या, आगामिविन्ध्याचलशिखरशिलावासयोगोद्यतेव, कथंभूता सा देवी विन्ध्यश्चासावचलश्च तस्य शिखरं तस्मिन् शिला तस्यां आवासो वसनं तस्य योगः सम्बन्धः यस्तत्र उद्युक्ता इव, अनेन एतदुक्तं भवति अग्रे मया विन्ध्यशिखरशिलायां वस्तव्यं तदिहैव निषीदामीत्यभिप्रायेणैव गगनमु(31a)त्पतिता इव; किंभूता सती सा उत्पतिता, कंसेन आहन्तुं व्यापादयितुं नीयमाना आहन्तुमिति शिलायां आस्फालयितुं कथं यथा भवति, भरविधुरभुजस्रंसमानोभयांसं यथा भवति; यद्यप्यत्रोभयशब्दः श्रूयते तथाप्यत्रोभयशब्देनैव विग्रहः क्रियते अविरविकन्यायेन यतो द्विवचनान्तस्योभयशब्दस्य प्रयोगाभावात्, देव्या भारेण विधुरौ कम्पमानौ भुजौ बाहू स्रंसमानौ अधोगच्छन्तौ उभौ अंसौ च स्कन्धौ यत्र तथा कृत्वा स्रंसमानौ उभौ अंसौ यस्य इति वाक्ये उभशब्दादुभयशब्दः केन सूत्रेण क्रियते, न तावदुभावुदात्त इति प्रत्ययोत्पत्तिः, उभशब्दस्योपसर्ज्जनीभूतस्य सापेक्षत्वा-

---

१. ज०-आघातं ।

२. ज० का०-सम्प्राप्यागामिविन्ध्याचलशिखरशिलावासयोगोद्यतेव ।

सापेक्षमसमर्थस्यात इति समर्थादेव प्रत्ययोत्पत्तिः तस्मात् स्रंसमानौ उभयं अंसौ यस्येति बहुव्रीहेराश्रयणात्साधुः, ननु एवंविधा या परमेश्वरी साऽस्य कंसस्य प्राक् आदौ एवं प्राणान् कस्मात् नास्यत् नाहरत् इत्याह, हरियशोरक्षणाय हरेर्विष्णोर्यशः कीर्तिर्यथा स्यात्, कुत एतन्निश्चीयते, विजिताऽखिलदेववृन्दस्य महिषासुरस्य वधादेव ।।४५।।

सं० व्या०—४५. आघातमिति ।। सा शिवा वो युष्माकं एनांसि पापानि हरतु अपनयतु, कंसेन कंसासुरेण आघातं आहतिं नीयमाना प्राप्यमाना, कथं भरविधुरभुजस्रंसमानोभयांसं भयेन विधुरौ सकष्टौ तौ च भुजौ भयविधुरभुजौ ताभ्यां हेतुभूताभ्यां स्रंसमानं स्वस्थानादधःपतत् उभयांसं अंसद्वयं यस्मिन् आघाते नयने तद्यथा भवत्येवमाघातं नीयमानाऽगमत् उदपतत् आकाशं उत्पतिता, किं कृत्वा प्राप्य लब्ध्वा, शिलायाः गोचरं विषयं विन्ध्यशिलागोचरं प्राप्य कथंभूतेव गगनमुत्पतिता आगामिविन्ध्याचलशिखरशिलावासयोगोद्यतेव विन्ध्यश्चासावचलश्च विन्ध्याचलस्तस्य शिखरं शृङ्गं तस्मिन् या शिला दृषद् तस्यावासो वसनं तस्य योगः सम्बन्धः विन्ध्याचलशिखरशिलावासयोगः तत्रोद्यतेव उत्केव, अनेनैतदुक्तं भवति, आगामि यत् विन्ध्यपर्वतशिलायां वास्तव्यं तदिहैव निषीदामीत्यभिप्रायेण गगनमुत्पतिता, यद्येवमेवं विदग्धदार्या सा किमिति शिलागोचरगमनात्पूर्वमेव कंसस्य प्राणान्न हृतवती तदुच्यते, क्षमापि समर्थापि अस्य कंसस्य प्राणान् नास्यत् असून् न क्षिप्तवती किमर्थं, हरियशोरक्षणाय हरिणा व्यापादितः कंस इति लोके हरेर्यशः लोकस्य रक्षणाय रक्षार्थमन्यथा देव्याः यशः स्यात् न तु हरेः सा एवंविधा भगवती वो युष्माकं एनांसि पापानि हरत्वपनयत्विति ।।४५।।

साम्ना नाम्नाययोनेर्धृतिमकृत हरेर्नापि चक्रेण भेदात्
सेन्द्रस्यैरावणस्याप्युपरि कलुषितः केवलं दानवृष्ट्या ।
दान्तो दण्डेन मृत्योर्न च विफलयथोक्ताभ्युपायो हतारि[१]-
र्येनोपायः स पादो नुदतु भवदघं[२] पञ्चमश्चण्डिकायाः ।।४६।।

कुं० वृ०—चण्डिकायाः स पादो भवदघं भवतां अघं पापं नुदतु नाशयतु, किंभूतः पादः चतुर्णां सामाद्युपायानां अपेक्षया पञ्चमः, पञ्चानां पूरणः पंचमः; स कः येन पादेन अरिः शत्रुर्हतः, ऋणोति हन्तीति अरिः स्वपक्षहन्तेति; किंभूतो-

१. ज० का०— हतोऽरिः ।
२. ज० का०— स पादः सुखयतु भवतः पञ्चमश्चण्डिकायाः ।

ऽरिः विफलयथोक्ताऽभ्युपायः विफला यथोक्ता अभ्युपायाः एतद्वाक्योक्ता यस्मिन् स तथा, पूर्वं सामवेदादेः शान्त्युपायस्य वैफल्यमाह, आम्नाययोनेर्ब्रह्मणः साम्ना रथन्तरादिना आशिषा धृतिं न अकृत तुष्टिं न लेभे, अत्र आम्नाययोनेरित्यस्य यद्यप्याम्नाययोनिर्गमको यस्येति वर्णकान्तरेण व्याख्यानं तथापि आम्नायस्य योनिः कारणमिति यतो ब्रह्मणः सर्व्वपितृत्वे सामवाक्यैरनुनये आभिमुख्यकरणेऽधिकारः; अथ वेदादिकर्तृत्वात् रथन्तरादिना स एव श्रोतुं जानातीति आम्नाययोनेरित्युक्तं; अन्यच्च, हरेर्मधुसूदनस्य चक्रेण भेदात् धृतिं न अकृत धैर्यं न अहन् न तत्याज, धैर्यविघातं न कृतवान् इत्यर्थः; कृ-नञ् हिंसायां इत्यस्य प्रयोगः, व्रतहरेश्चक्रेणेति प्रकृष्ट उपायः हरेरेव योद्धृमुख्यत्वात्, चक्रस्यैव प्रहरणमुख्यत्वाच्च एतदुक्तं भवति; ब्रह्मणस्तोषवाक्यैर्न तुतोष, अनु च, हरेश्चक्रादिबिभीषया न बिभाय; अन्यच्च, ऐरावणस्योपरि केवलं कलुषितः केव(31b)लं मालिन्यमेव बभार, किंभूतस्यैरावणस्य, सेन्द्रस्य इन्द्रसहितस्य, कया दानवृष्टया दानवारिक्षरणेन, किमुक्तं भवति, ऐरावणेनापि इन्द्रेण कदाचित् युद्धाभिनिवेशश्रान्तः सन् दानोदकपरिषेकादिनोपचरितस्तथापि न तुतोष प्रत्युत सकोप एव सम्पन्नः, अथ सेन्द्रस्याग्रे ऐरावणस्येत्यत्र न केवलं ऐरावणेनैव दानप्रयोगोऽकारि यावता इन्द्रेणापि स्वशक्त्या दानप्रयोगः कृतः, अथवा चात्र मुख्यस्येन्द्रस्योपसर्ज्जनत्वमयमिति वर्णकान्तरं; सा इति लक्ष्मीनामसु पठितः, सया स्वाराज्यलक्ष्म्या उपलक्षितः सेन्द्रः, तस्याप्युपरि दानवृष्टया कलुषितः, किंभूतस्य सेन्द्रस्य ऐरावणस्य, ऐरावणो विद्यतेऽस्येति मत्वर्थीयोऽकारः, एवं व्याख्याने इन्द्रस्य प्राधान्यं स्यात्, अन्यच्च, च पुनः मृत्योर्यमस्य दण्डेन प्रहरणविशेषेण न दान्तः सर्वलोकक्षयकृत् यमोऽपि जित इत्यर्थः; अथवा पक्षान्तरं, किंभूतोऽरिः विफलयथोक्ताभ्युपायः विफला यथोक्ता नीतिशास्त्रोक्ता उपायाः सामभेददानदण्डाख्या यत्र स विफलयथोक्ताभ्युपायः, कथं तदित्याह, आम्नाययोनेः साम्ना सामाख्येन उपायेन धृतिं न चकार, ब्रह्मा सर्वस्य पितेति तच्छिक्षयापि न शान्तिं जगाम; अनु च, हरेश्चक्रेण सैन्येन, सैन्यं प्रहरणं स्वर्णं चेत्याद्यनेकार्थे भेदात् भेदाख्यात् उपायात् न स्थितेश्चचाल, हरिसैन्यमध्यवर्तिभिः पुंभिर्भेदेऽप्युपन्यस्ते न भिन्नः न दैत्येभ्यः पृथग्भूतः; अन्यच्च, राज्यलक्ष्मीसहितस्य ऐरावणवतोऽपि इन्द्रस्य; इदि परमैश्वर्ये इन्दतीति कृत्वा दानेन समर्थस्यापि दानवृष्टया केवलं कलुषित एव, अतीवदानं वृष्टिशब्देनोच्यते, एतदुक्तं भवति अतीवार्थोपचितः सन् इन्द्रस्यापि दानेन न तुतोष; तर्हि चतुर्थोपायसाध्यो भविष्यतीत्याशङ्क्याह, मृत्योर्दण्डेन मृत्युमृत्युत्वान्न दान्तः मृत्युनाऽपि दण्डयितुं न शक्यः प्रत्युत मृत्योर्दण्डने सामर्थ्यात्तस्य एवं सति यः परमेश्वर्याः पञ्चमोपायरूपः पादः स भवदघं नुदतु। अत्र केचन देव्याः

पञ्चमः पादो भवदघं नुदत्विति ब्रह्मविष्णुमहेन्द्रयमरूपाश्चत्वारः पादा इति न च विफलयथोक्ताभ्युपायाः इति च नञ् महिषविशेषणत्वेन वर्णयन्ति, तदेतदसमञ्जसमिव प्रतिभाति, यतः पादाः शरीरावयवाः एषु च महिषतः पलाय(य्य) दिक्षु गतेषु देव्याः शरीरं आपाद्यन्त; अन्यच्च, पादश्चतुर्थे भागे इति पादलक्षणं विनश्यति, द्विपदीति सार्वजनीना प्रतीतिर्व्याहन्यते, तस्मात्पञ्चमः पादः कश्चन कल्पनीयः स तावत् दृश्योऽदृश्यो दृश्यादृश्यो वा न तावत् दृश्यः स्वरूपानुपलब्धेः नाप्यदृश्यः तस्य निःप्रमाणकत्वेन कल्पनायोगात् तदुक्तं प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि बालाग्रशतलेशोऽपि न कल्प्यो निःप्रमाणक इति, अत(32a) एव न दृश्यादृश्यः रूपः यस्मिन् अंशे दृश्यः स प्रतीतिबाधितो नोत्थातुं प्रभवति, अदृश्यांशस्तु निरस्तत्वात् न प्रमाणकोटिमाटीकते, चतुर्थप्रकारो नास्त्येव तस्माद् गरीयसी तत्रभवतां काचन कल्पना यथा परमेश्वरी जगदुत्कृष्टस्वरूपा अपि विरूपयति, न च महिषविशेषणत्वेन सम्बद्धे मृत्योर्दण्डेन दान्तत्वापत्तेः, इतः परं तु पाठान्तरकल्पनमपि व्यर्थमापद्येत ॥४६॥

सं० व्या०–४६. साम्नेति ॥ चण्डिकायाः पादः पञ्चम उपायो भवतो युष्मान् सुखयतु सुखिनः करोतु, येन पादेन अरिर्महिषो हतो व्यापादितः, कीदृशः विफलयथोक्ताभ्युपायः विफला निष्फला यथोक्ता यथानिर्दिष्टा अभ्युपायाः सामादयो यत्र स तथोक्तः, इदानीं तदेव विफलोपायत्वं शब्दच्छलेन दर्शयन्निदमाह, साम्ना नाम्नाययोनेरित्यादि, आम्नाययोनेर्वेदसूब्रह्मणः सामार्थतरादिनाष्टभिः(?) परितोषं न कृतवानरिः, नापि हरेर्विष्णोश्चक्रेण सुदर्शनेन भेदात् धृतिं विहितवान्, सह इन्द्रेण वर्तते इति सहेन्द्रः तस्यैरावणस्यापि हस्तिराजस्य दानवृष्टचा मदवर्षेण केवलं परमुपरि कलुषितो मलिनत्वं गतो महिषो न चान्यत्र, किमपि अनेनापि कर्तुं शक्तमिति कान् कर्षस्तु(?) तदस्यैरावणस्योपरि केवलं कलुषितो दानवृष्टचा न तु प्रसादाभिमुखो जातः, न च दान्तो दमितो यमस्य मृत्योर्दण्डेन, एवं चत्वारोऽप्युपायाः छलितप्रयोगेण यथाक्रमं विफला विख्याताः ॥४६॥

भर्त्ता कर्त्ता त्रिलोक्यास्त्रिपुरवधकृती पश्यति त्र्यक्ष एष
क्व स्त्री क्वायोधनेच्छा न तु सदृशमिदं प्रस्तुतं किं मयेति ।
मत्वा सव्याजसव्येतरचरणचलाङ्गुष्ठकोणेन पिष्ट्वा[1]
सद्यो या लज्जितेवासुरपतिमवधीत्पार्वती पातु सा वः ॥४७॥

---

१. ज०—नखाङ्गुष्ठकोणाभिमृष्टं । का०—चलाङ्गुष्ठकोणाभिमृष्टं ।

कुं०वृ०—सा शैलजा गिरिराजपुत्री वो युष्मान् पातु रक्षतु, या किंविशिष्टा, या असुरपतिं दैत्येन्द्रं अवधीत् जघान, किं कृत्वा पिष्ट्वा सञ्चूर्ण्य, केन सव्याजसव्येतरचरणचलाङ्गुष्ठकोणेन सव्याद्दक्षिणपादादितरोऽन्यो यश्चरणो वामपादस्तस्य चलो योऽङ्गुष्ठः स सव्येतरचरणचलाङ्गुष्ठः, सव्याजः सक्रीडः स चासौ सव्येतरचरणचलाङ्गुष्ठश्च सव्याजसव्येतरचरणचलाङ्गुष्ठः तस्य कोणेन एकदेशेन 'पुंसोऽङ्गं सव्यं वामं स्त्रियादेर्दक्षिणं स्मृतं,' अत्र केचन सव्यमिव वाममङ्गं वदन्ति तद्भ्रान्तिनिरासाय विग्रहान्तरेण योजना, चरणस्य चलो योऽङ्गुष्ठः तस्य कोणः चरणचलाङ्गुष्ठकोणः सव्येतरश्चासौ चरणचलाङ्गुष्ठकोणश्च सव्येतरचरणचलाङ्गुष्ठकोणः, सव्याजं सलीलं यत् सव्येतरो यश्चरणचलाङ्गुष्ठकोणश्च तेन वामपादाङ्गुष्ठदक्षिणभागेनेत्यर्थः; सा किंभूता सती तं अवधीत्, सद्यस्तत्क्षणं लज्जिता इव, किं कृत्वा इति मत्वा ज्ञात्वा, किं तदाह, इदं मया किं प्रस्तुतं किमारब्धं, किं तत् यन्न सदृशं न संगतं महिषहननं नाम, कुतः यतः क्व स्त्री भर्तृसन्निधौ लीलायोग्येत्यर्थः, दुर्दान्तयोधसाध्या आयोधनेच्छा सङ्ग्रामवाञ्छा क्व, भर्त्ता यदा पार्श्वे न भवति तदापि स्त्रियाः परपुरुषदर्शनमपि निबद्धं, अत्र पुनरेष साक्षात् मम भर्त्ता त्र्यक्षो महेश्वरस्त्रिभिर्लोचनैः पश्यति; अन्यच्च, स किं सामान्यो न किं तर्हि त्रिलोक्याः कर्त्ता, पुनः किंविशिष्टः, त्रिपुरवधकृती त्रिपुरवधे दक्षः, त्रीणि पुराणि यस्य स त्रिपुरः; एवंविधस्य पत्युः सन्निधौ असदृशं मया कृतमिति मत्वा उत्प्रेक्ष्यते लज्जितेव ॥४७॥

सं० व्या०–४७. भर्त्तेति ॥ सा पार्वती पर्वतपुत्री वो युष्मान् पातु रक्षतु, या लज्जितेव ह्रीतेव असुरपतिं महिषं सद्यस्तत्क्षणमेवावधीत् हतवती, किंविशिष्टं असुरपतिं सव्याजसव्येतरचरणनखाङ्गुष्ठकोणाभिमृष्टं सव्यादितरः सव्येतरः सव्येतरो वाम इत्यर्थः सव्येतरश्चासौ चरणश्च सव्येतरचरणः तस्य नखाङ्गुष्ठौ तयोः कोणेन अभिमृष्टोऽभ्यधिकस्पृष्टः सव्येतरचरणनखाङ्गुष्ठकोणाभिमृष्टः तं सव्याजसव्येतरचरणनखाङ्गुष्ठकोणाभिमृष्टं, किं कृत्वा लज्जितेव इति मत्वा एतत् ज्ञात्वा स्रष्टा त्रिपुरस्य विधाता त्र्यक्षः त्रिनेत्रः एष पतिर्भर्त्ता पश्यति, क्व स्त्री योषित् क्वायोधनेच्छा क्व संख्याभिलाषः इदमेतत् न तु सदृशं सुष्ठु योग्यं किं मया प्रस्तुतं प्रक्रान्तं इति मत्वा ह्रीतेवेति पुरस्तादुक्तः सम्बन्धः ॥४७॥

वृद्धोक्षो न क्षमस्ते भव भवतु[1] भवद्वाह एषोऽधुनेति
क्षिप्तः पादेन देवं प्रति झटिति यया केलिकान्तं विहस्य ।
दन्तज्योत्स्नावितानैरतनुतमतनुर्न्यक्कृतार्थेन्दुभाभि[2]-
र्गौरो गौरेव जातः क्षणमिव महिषः साऽवतादम्बिका वः ॥४८॥

कुं० वृ०—सा अम्बिका त्रिभुवनजननी वोऽवतात् रक्षतु, सा किं(32b)भूता यया देवं महेश्वरं प्रति महिषः झटिति शीघ्रं पादेन इति क्षिप्तः, एतेन देवीचरणस्य महत्त्वं ख्याप्यते, महिषस्यैव लघुत्त्वं; किं कृत्वा, विहस्य ईषत् स्मितं कृत्वा, कथंभूतं देवं केलिकान्तं क्रीडायां कमनीयं, इतीति किं, हे भव शम्भो ! अधुनेदानीं एष महिषः भवद्वाहोऽस्तु भवतो वाहनं भवतु यतोऽयं वृद्धोक्षो न क्षमो न तव वाहनयोग्यः वृद्धत्वात्, 'अचतुरेति' क्वचिन्निपातनात् वृद्धोक्ष इति, किं विशिष्टो महिषः अतनुतमतनुः अत्यन्तं अतनुः, महती अतनुतमा तनुर्यस्य सा तथा, बलीवर्द्दात् महिषो बलवान् क्षणं गौरेव जातः, बलीवर्द्द एवाभूत् शुक्लत्वात्; किंविशिष्टः दन्तज्योत्स्नावितानैर्गौरः दन्तानां ज्योत्स्ना उद्योतः तस्या वितानानि विस्ताराः तैः किंविशिष्टैः न्यक्कृतार्धेन्दुभाभिः न्यक्कृताः नीचैः कृताः अर्धेन्दोर्भाः प्रभाः कान्तयो यैस्तानि तैः ॥४८॥

सं० व्या० ४८. वृद्धोक्षो नेति ॥ सा अम्बिका गौरी वो युष्मान् अवतात् रक्षतु, वृद्धश्चासावुक्षा च वृद्धोक्षः वृद्धो वृषो न क्षमस्ते न शक्तो भवतः, भव ! शङ्कर ! युष्मद्वाहो भवतो वाहनं एषोऽधुना भवतु, इत्येवं केलिकान्तं परिहासमन्योन्यं विहस्य विशेषेण हसित्वा, देवं प्रति शङ्करं अभि झटिति द्राक् पादेन अद्रिणो महिषः क्षिप्तः अस्तः; महिषोऽप्यसौ न्यक्कृता निरस्ता अर्धेन्दोरर्धचन्द्रस्य भासो यैस्तथाविधैर्दन्तज्योत्स्नावितानैर्दशनविभासमूहैरतनुभिरकृत गौरः शुक्लोऽतनुः स्थूलो गौरेव वृष एव क्षणमिव तत्क्षणं जातो भूतो भवति ॥४८॥

प्राक् कामं दहता कृतः परिभवो येन त्रिसन्ध्यानतेः[3]
सेर्ष्या वोऽवतु चण्डिका चरणयोस्तं[4] पातयन्ती पतिम् ।
कुर्व्वत्याऽभ्यधिकं कृते प्रतिकृतं[5] मुक्तेन मौलौ मुहु-
र्बाष्पेणाहितकज्जलेन लिखितं स्वं नाम[6] चन्द्रे यया ॥४९॥

---

१. ज० का०—भवतु भव ।
२. ज० का०—०रतनुभिरतनुर्न्यक्कृतार्द्धेन्दुभाभिः । 'अलभत तनुभि'रित्यपि पाठः का०-प्रतिटिप्पणे ।
३. ज० का०—त्रिसन्ध्यानतैः ।
४. ज० का०—स्वं ।
५. ज०—कृतप्रतिकृतं । ६. ज०—नामेव ।

कुं० वृ०—चण्डिका वो युष्मान् पातु, किं कुर्व्वती, तं तथाविधं पतिं चरणयोः पातयन्ती; कुतः त्रिसन्ध्यानतेः तिस्रश्च ताः सन्ध्याश्च त्रिसन्ध्याः तासु नतिः तस्या नतेः, त्रिसन्ध्यानतिव्याजेनेत्यर्थः; एतदुक्तं भवति, परमेश्वरः त्रिसन्ध्यं सन्ध्यास्थापनं करोति तत्कविरुत्प्रेक्ष्याह, सन्ध्यारूपा भगवती तं पतिं आत्मनः पादयोः पातयन्तीव; तं कं येन पत्या कामं (द)हता भवान्याः प्राक् परिभवः कृतः अपराधः कृतः । अतः सेर्ष्या इव सह ईर्ष्यया वर्त्तत इति सेर्ष्या, इति इवार्थो दृश्यते; अन्यच्च, यया स्वं आत्मीयं नाम चन्द्रे भवशिरसि वर्त्तमाने चन्द्रशकले लिखितं, केन मुहुर्वारंवारं गलितेन बाष्पेण, क्व मौलौ, किंलक्षणेन बाष्पेण, आहित-कज्जलेन आरोपितकज्जलेन; किं कुर्व्वत्या, कृते प्रतिकृतं अभ्यधिकं कुर्व्वन्त्या, कृतं अनुक्रियते यत् तत् प्रतिकृतं; अयमभिसन्धिः, कामदहनलक्षणैकापराधः पतिः कृतादप्यधिकं कुर्व्वन्त्या न केवलं पादयोः पातितः किन्तु अद्यप्रभृति तव दासोऽस्मीति स्वं नाम शिरसा धारितः (म्)॥४९॥

सं० व्या० ४९. प्राक्कामिति ।। सह ईर्ष्यया वर्तत इति सेर्ष्या चण्डिका वो युष्मान् अवतु रक्षतु, कैः सेर्ष्या त्रिसन्ध्यानतैः तिस्रश्च ताः सन्ध्याश्च त्रिसन्ध्याः तासां नतानि नमितानि त्रिसन्ध्यानतानि तैः, किं कुर्वती, चरणयोः पातयन्ती, कं पतिं भर्तारं, येन पत्या प्राक् पूर्वं परिभवोऽभिभवः कृतः, किं कुर्वता कामं दहता भस्मसात् कुर्वता, यया चण्डिकया नामेव, कमिव लिखितं चन्द्रे चन्द्रमसि किं विदधत्या कृतमभ्यधिकमिति रक्तं कुर्वन्त्या, एतदुक्तं भवति हरेण गौरी-प्रत्यक्षं कामगात्रं (दग्धं) तया कामं जनयन्त्या सेर्ष्यया सः पादयोः पातित इति कृतस्याभ्यधिकं प्रतिकृतमिति, केन लिखितं बाष्पेणाश्रुजलेन मौलौ पादपतितस्य पत्युश्चूडायां मुहुः पुनःपुनर्मुक्तेन अत एव चन्द्रो नामेव लिखितं इत्युक्तं, वस्तुत्वाच्चन्द्रस्येति, किंभूतेन बाष्पेण आहितकज्जलेन आहितं न्यस्तं (कज्जलं) यत्र तेन तथोक्तेनेति ॥४९॥

तुङ्गां शृङ्गाग्रभूमिं[1] श्रितवति मरुतां प्रेतकाये[2] निकाये
　　कुञ्जौत्सुक्याद्विशत्सु श्रुतिकुहरपुटं द्राक्ककुप्कुञ्जरेषु ।
स्मित्वा वः संहतासोर्दशनरुचिकृताऽकाण्डकैलासभासः
　　पायात् पृष्ठाधिरूढे स्मरमुषि महिषस्योच्चहासेव देवी ॥५०॥

---

१. ज०-तुङ्गाः शृङ्गाग्रभूमीः ।
२. 'प्रीतकाये' इत्यपि पाठः काव्यमालाप्रतेष्टिपण्यां प्रदर्शितः ।

कुं० वृ०—देवी वः पायात्, किं कृत्वा स्मित्वा, कथंभूता उच्चहासा इव, क्व सति मरुतां देवानां निकायो यस्य स तस्मिन्; केषु सत्सु ककुप्कुञ्जरेषु महिषस्य श्रुतिकुहरपुटं विशत्सु सत्सु, ककुप्सु कुञ्जराः तेषां श्रुतिकुहरं विवरं तस्य पुटं; कस्माद्विशत्सु कुञ्जौत्सुक्यात् कुञ्जोत्कण्ठया; अन्यच्च, स्मरमुषि स्मरहरे द्राक् शी(33a)घ्रं पृष्ठाधिरूढे सति, पृष्ठं आरूढः पृष्ठाधिरूढः, किंविशिष्टस्य महिषस्य संहृतासोः, संहृता असवो यस्य स तस्य, किंभूतस्य दशनरुचिकृताकाण्ड-कैलासभासः, दशनानां दन्तानां रुचिः कान्तिः तया कृता [अकाण्डे] अप्रस्तावे अनवसरं कैलासस्य भास इव भासो यस्य स तथा तस्य ॥५०॥

सं० व्या० ५०. तुङ्गा इति ॥ देवी भगवती [वो युष्मान्] पायात् रक्षतु, किंभूता उच्चहासेव, उच्चो हासो यस्याः सा उच्चहासा, क्व सति स्मरमुषि शङ्करे पृष्ठाधिरूढे सति, कस्य महिषस्य, किंविशिष्ट[स्य] संहृतासोः [संहृता] असवः प्राणाः यस्य सः संहृतासुः तस्य, पुनरपि किंविशिष्टस्य दशनरुचिकृताकाण्ड-कैलासभासः, अकाण्डे अप्रस्तावे कैलासः तस्य भाः शोभाः अकाण्डकैलासभाः, दशनरुचिभिः कृता अकाण्डकैलासभाः यस्य दशनरुचिकृताकाण्डकैलासभास्तस्य दशनरुचिकृताकाण्डकैलासभासः, अत एव स्मरमुषि पृष्ठाधिरूढे इत्युक्तं, किं कृत्वा, दशनरुचिभिः कृताऽकाण्ड(कैलास)शोभा महिषस्येति, स्मित्वा ईषद्धसित्वा, क्व सति स्मित्वा मरुतां देवानां निकाये सङ्घे प्रेतकाये परे(त)-शरीरे शृङ्गयोरग्र-भूमीः तुङ्गा उच्चाः सृतवन्ति, कुञ्जौत्सुक्यं कुञ्जौत्सुक्यः, श्रुतिः कर्णः तस्य कुहरं श्रुतिकुहरं तदेव पुटः पुटकः श्रुतिकुहरपुटः, क्व ककुप्सु कुञ्जराः ककुप्कुञ्जराः दिग्गजा इत्यर्थः, कुञ्जौत्सुक्यात् गह्वरौत्सुक्यात् उत्सुकतया श्रुतिकुहरपुटं द्राक् क्षिप्रं ककुप्कुञ्जरेषु विशत्सु सत्सु, स्मित्वैव [इति] सम्बन्धः, पर्वतस्य शृङ्गोऽग्र-मिति तेनाभिप्रायेण महिषस्य तुङ्गाः शृङ्गा यत्र भूमी इत्याद्यभिहितमिति ॥५०॥

पीवा पातालपङ्कैः[1] क्षयरयमिलितैकार्णवेच्छाऽवगाहो[2]
दाहान्नेत्रत्रयाग्नेर्विलयनविगलच्छृङ्गशून्योत्तमाङ्गः।
क्रीडाक्रोडाभिशङ्कां विदधदपिहितव्योमसीमा महिम्ना
वीक्ष्य क्षुण्णो ययारिस्तृणमिव महिषः सावतादम्बिका[3] वः ॥५१॥

---

१. ज० का० कृत्वा पातालपङ्के ।

२. ज० का० क्षयरयमिलितैकार्णवेच्छावगाहं । 'क्षयरयमिलितैरर्णवेच्छे'ति पाठोऽपि काव्यमालाप्रतौ पादटिप्पण्यां प्रदर्शितः ।

३. का० कालिकेत्यप्यतिरिक्तः पाठः ।

कु० वृ०—सा अम्बिका वोऽवतात्, या कीदृशी, आह, यया अरिः शत्रुः क्षुण्णः विचूर्णितः, किमभिधानः महिषः, किमिव तृणमिव, केन क्षुण्णः महिम्ना आत्मीयप्रभावेन, किं कृत्वा वोक्ष्य दृष्ट्वा, एतदुक्तं भवति देव्याः सकोपदृष्टयावलोकनेनैव जित्वा चूर्णीकृतः; किंभूतः, अपिहितव्योमसीमा, अपिहितः आकाशपर्यन्तो येन, पृच्छादिना व्योममार्गः इत्यर्थः, केन महिम्ना महत्वेन, किं कुर्व्वन् क्रीडाक्रोडाभिशङ्कां विदधत्, क्रीडार्थं क्रोडः क्रीडाक्रोडः तस्य सम्भावना शूकरोऽयमिति तां विदधत्; अन्यच्च, किंभूतः पीवा स्थूलतरः अतिशयार्थोऽत्र दृश्यते, कैः पातालपङ्कैः पातालकर्दमैः; किंभूतः सन् क्षयरयमिलितैकार्णवेच्छावगाहः, क्षये प्रलयसमये यो रयो वेगः तेन मिलितः सञ्जातो यः एकार्णवः एकः समुद्रः तस्मिन्नेवेच्छया विस्तीर्णत्वात् स्वेच्छयाऽवगाहो विलोडनं यस्य स तथाविध एतदुक्तं भवति; चत्वारोऽपि समुद्रा लीलामात्रेणावगाह्य पङ्कीकृताः, पङ्कानां तु बहुत्वं समुद्रबहुत्वात्; अन्यच्च, किंभूतः विलयनविगलच्छृङ्गशून्योत्तमाङ्गः, विगलन्ती (?) च ते शृङ्गे च विगलच्छृङ्गे विलयनेन विलीनतया ये विगलच्छृङ्गे ताभ्यां रहितं शून्यं उत्तमाङ्गं यस्य स तथाविधः, कुतस्तयोर्विलयनं दाहात्, कस्य नेत्रत्रयाग्ने अर्थाद्देवीसम्बन्धिनः अयमभिप्रायः, यत एव क्रोडाभिशङ्कां जनयति, अत एव देव्या यत्नेन वीक्ष्य क्षुण्णो महिषो दुरात्मेति ॥५१॥

सं० व्या०–५१. कृत्वेति ॥ सा अम्बिका गौरी वो युष्मान् अवतात् रक्षतु, यया अरिर्महिषः तृणमिव तृणवत् क्षुण्णः संपिष्टः, किं कृत्वा वीक्ष्यावलोक्य, किं कुर्वन् महिषः क्षुण्णः विदधत् क्रीडाक्रोडाभिशङ्कां कां, क्रीडयः क्रोडः शूकररूपो हरिस्तस्याभिशङ्कां भ्रान्ति कुर्वन्, किंभूतः पिहितव्योमसीमा व्योम आकाशं तस्य सीमा अवधिर्व्योमसीमा स तथोक्तः, केन पिहितव्योमसीमा महिम्ना महत्वेन, किं कृत्वा क्रीडाक्रोडाभिशङ्कां विदधत् तदुच्यते, कृत्वा पातालेत्यादि, क्षये रयः प्रलयवेगस्तेन मिलितः स चासौ एकार्णवश्च क्षयरयमिलितैकार्णवः सर्वैरेव समुद्रैरेकसमुद्रो जात इत्यर्थः, इच्छयाऽवगाहः क्षयरयमिलितैकार्णवेच्छावगाहः तं पातालपङ्के रसातलकर्द्दमे कृत्वा विधाय एतदुक्तं भवति, आदिवराहः प्रलयमिलितैकार्णवे इच्छावगाहं कृतवान् अयं तु पातालपङ्के तथा कृतवान् इति, कथंभूतः क्रीडाक्रोडाभिशङ्कां विदधत्, विलयत् विगलच्छृङ्गशून्योत्तमाङ्गः विलयनं विहृतिविलयने विगलने विनष्यतीत्येवं शृङ्गे व विलयनविगलच्छृङ्गे ताभ्यां रहितमुत्तमाङ्गं मूर्द्धा यस्य स तथोक्तः, कुतो विलयनं दाहात् तापात्, कस्य नेत्रत्रयाग्नेः देव्या यन्नेत्रत्रयं तदेवाग्निः, क्रोधावलोकनात् तस्य दाहादिति ॥५१॥

शूले शैलाविकम्पं[1] न निमिषितमिषौ पट्टिशे साट्टहासं
प्रासे सोत्प्रासमव्याकुलमिव[2] कुलिशे जातशङ्कं न शङ्कौ ।
चक्रेऽचक्रं[3] कृपाणे न कृपणमसुरारातिभिः पात्यमाने
दैत्यं पादेन देवी महिषितवपुषं पिंषती वः पुनातु ॥५२॥

कुं॰ वृ॰—देवी वः पुनातु पवित्रीकरोतु, किं कुर्व्वती दैत्यं पिंषती, केन पादेन. किंविशिष्टं दैत्यं, महिषितवपुषं, आयुधानि त्यक्त्वा किमिति पादेन पिपेष इत्याह विशेषणद्वारेण, किंविशिष्टं, शूले शैलाविकम्पं शैल इव अविकम्पः शैलाविकम्पः तं पर्व्वतवत् अविचलं; असुरारातिभिर्देवैः शूले पात्यमाने सति अयं सर्व्वत्र सम्बध्यते; अन्यच्च, इषौ बाणे न निमिषितं न सुचालितनेत्रं अकृत-नेत्रस्पन्दनमित्यर्थः; अपि च, पट्टिशे आयुधविशेषे साट्टहासं, प्रासे कुन्ते सो(33b)-त्प्रासं मनाक् स्मितं, सोत्साहमिव, कुलिशे वज्रेऽपि अव्याकुलं अत्रस्तं; अन्यच्च, शङ्कौ प्रहरणविशेषे न जातशङ्कं न उत्पन्नभयं; अन्यच्च, चक्रे अचक्रं यथा-स्थितमेव अविकृततनुं; अपि च, कृपाणे खड्गे प्रक्षिप्यमाणे न कृपणं न दीनं, अपि तु सहर्षम् ।।५२।।

सं० व्या०–५२. शूले शैलाधिकम्पमिति ।। देवी भगवती वो युष्मान् पुनातु पवित्रीकरोतु, किं कुर्वती पिंषती चूर्णयन्ती पादेन चरणेन दैत्यं दितिजं, किंविधं महिषितं वपुर्येन तं तथोक्तं, असुराणामरातयोऽसुरारातयो देवास्तैः यथा-यथं पात्यमाने सति शूलादौ आयुधे ईदृग्विधं दैत्यं पिंषती, शूले शैलाधिकम्पं हरेण शूले पात्यमाने शैलस्येवाधिकं यो यस्य तं तथोक्तं, इषौ शरे न निमिषितं लोचनं, पट्टिशे प्रहरणे साट्टहासं, सह अट्टहासेन वर्तत इति साट्टहासं, प्रासे सोत्प्रासं सोपहासं, कुलिशे वज्रे अव्याकुलमिव निराकुलं यथा, शङ्कौ प्रहरणे पात्यमाने न जातशङ्कं न जातत्रासं, जाता शङ्कास्येति विग्रहः, कृपाणे खड्गे पात्यमाने वक्त्रं मुखं कृपणं दीनं न चक्रे न कृतवान्, दैत्येन्द्रस्येति प्रथम-सम्बन्धः ।।५२।।

---

१. ज० शैलाधिकम्पं ।

२, ज० का० सोत्प्रासमव्याकुलमपि ।

३. ज० वक्त्रं चक्रे । का० चक्रेऽवक्रं; वक्त्रं कृपाणमित्यपि पाठः काव्यमालापुस्तके संसूचितः ।

चक्रे चक्रस्य नास्त्र्या न च खलु परशोर्न क्षुरप्रस्य नासे-
र्यद्वक्त्रं कैतवाविष्कृतमहिषतनौ विद्विषत्याजिभाजि ।
प्रोतात्प्रासेन मूर्ध्नः सघृणमभिमुखायातया कालरात्र्याः[1]
कल्याणान्याननाब्जं सृजतु तदसृजो धारया वक्रितं वः ॥५३॥

कुं० वृ०—कालरात्र्याः आननाब्जं वो युष्मभ्यं कल्याणानि सृजतु ददातु, जगत्संहारकारिणी यत्र प्रलीयते जगत् कालरात्रिः कालभगिनी जगत्प्राणाधिदेवतेति पुराणात्, किंविशिष्टं तत् यत् तदसृजो धारया वक्रितं वक्रीकृतं तस्य असृक् तदसृक् तस्य तदसृजः, अयमाशयो रुधिरस्य मुखप्रवेशाऽशङ्कया सघृणमिव मत्वा वक्रीकृतमित्यर्थः, किंविशिष्टया धारया अभिमुखमायातया सम्मुखमागतया, कस्मात् मूर्द्धनः शिरसः, किंभूतात् प्रासेन कुन्तेन प्रोतात् विद्धात्, कस्य सम्बन्धिनो महिषस्य, तदिति किं यत् चक्रस्य अस्त्र्या धारया वक्रं न चक्रे, च पुनः परशोः कुठारस्य अस्त्र्या नावक्रतं चक्रे; अपि च, क्षुरप्रस्य बाणविशेषस्यापि अस्त्र्या इति सर्वत्र सम्बन्धः; अन्यच्च, असेः खड्गस्य धारया विद्विषति शत्रौ आजिभाजि सति संग्रामसेविनि सति, किंभूते तस्मिन् कैतवाविष्कृतमहिषतनौ कैतवेन धूर्ततया आविष्कृता महिषस्य तनुः शरीरं येन स तथा तस्मिन् ॥५३॥

सं० व्या०-५३.—चक्रे चक्रस्येति ॥ आननमेवाब्जं आननाब्जं वदनपद्म तत् कालरात्र्याः भगवत्याः सम्बन्धि, वो युष्माकं कल्याणानि श्रेयांसि सृजतु विदधातु, किंविशिष्टं वक्रितं वक्रं कृतं धारया असृजो रुधिरस्य, किंभूतया तया अभिमुखया सम्मुखागतया कस्मान्मूर्द्धनः शिरसः किमवस्थात् प्रोतात् प्रासेनायुधविशेषेण प्रास्य इति प्रासः प्रपूर्वादस्यतेः कर्म्मणि घ[य]त्र, कथं वक्रितं सघृणं यथा भवत्येव, यदा आननाब्जं वक्रं न चक्रे न कृतं चक्रस्यास्त्र्या धारया न च खलु स्फुटं परशोः कुठारस्य न क्षुरप्रस्यायुधविशेषस्य नासेः खड्गस्यास्त्र्याननाब्जं वक्रं न चक्रे, महिषस्य तनुः महिषतनुः कैतवेन व्याजेनाविष्कृता प्रकटीकृता महिषतनुर्येन सः कैतवाविष्कृतमहिषतनुः तस्मिन् विद्विषति शत्रौ आजिभाजि युद्धजुषि सति युध्यमानेन महिषेण तत्पक्षैर्वासुरैश्चक्रादिधारया देवीमुखं न वक्रमित्यर्थः ॥५३॥

---

१. का०. कालरात्र्या ।

हस्तादुत्पत्य यान्त्या गगनमगणिताऽवार्यवीर्यावलेपं[1]
वैलक्ष्येणेव पाण्डुद्युतिमदितिसुताराति मापादयन्त्याः।
दर्प्पानल्पाट्टहासाद् द्विगुणितरसिताः[2] सप्तलोकीजनन्या-
स्तर्ज्जन्या जन्यदूत्यो[3] नखरुचिररुचस्तर्ज्जयन्त्या[4] जयन्ति॥५४॥

कुं० वृ०—सप्तलोकीजनन्याः नखरुचिररुचो जयन्ति भुवनानि विबध्नीयात्त्रीणि सप्त चतुर्द्दशेति कविसमयात्, रुचिराश्चता रुचश्च रुचिररुचः, नखानां रुचिररुचः नखरुचिररुचः, किंभूता जन्य-दूत्यः जन्यः संग्रामः तत्र दूत्य इव दूत्यः, एतदुक्तं भवति, ताः नखरुचिररुचो देव्याः माहात्म्यं अतिशयेन दीप्तिस्वरूपेण शत्रुं प्रति प्रकटयन्ति, किं कुर्व्वन्त्या देव्या अदितिसुताराति देवशत्रुं तर्ज्जयन्त्याः; कया तर्ज्जन्या अङ्गुष्ठाद् द्वितीययाऽङ्गुल्या; अन्यच्च, तमेव पाण्डुरद्युतिं आपादयन्त्याः, पाण्डुश्चासौ द्युतिश्च पाण्डुद्युतिः तां पाण्डुद्युतिं, किं विशिष्टं दैत्यं वैलक्ष्येणेव पाण्डुद्युतिं पाण्डुर्द्युतिर्यस्येति बहुव्रीहिः, लज्जयेव, किं कुर्वत्या स्तस्याः कंसहस्तादुत्पत्य गगनं यान्त्याः, कथं यथा भवति तथा, अगणितः अविज्ञातः अवार्यवीर्यस्य अवलेपो यत्र तत् यथा भवति तथा, अवज्ञां कंसस्य कृत्वेत्यर्थः, किंविशिष्टं दैत्यं, अगणितं अपरिच्छिन्नं अवार्यं यद् वीर्यं तेनावलेपो यस्य तं तथाविधं, पुनः किंविशिष्टं दर्प्पानल्पाट्टहासद्विगुणतरसितं दर्प्पेण बलेन अनल्पः प्रभूतोऽट्टहासः उच्चैर्हसनं तेन(34a) द्विगुणितं द्विगुणीकृतं रसितं यस्य स तथा तं, किंविशिष्टायाः देव्याः तर्ज्जन्या तर्ज्जयन्त्याः अर्थाद्दैत्यान्, किंविशिष्टा रुचः दर्प्पेण अनल्पो योऽट्टहासस्तेन द्विगुणतरसिता अतिशयेनोज्ज्वलाः ॥५४॥

सं० व्या०-५४.—हस्तादिति ॥ नखानां रुचयो नखरुचयस्तासां ततयो नखरुचिततयः करजकान्तिश्रेणयो जयन्ति, कस्याः सप्तलोकीजनन्याः सप्तानां लोकानां समाहारः सप्तलोकी द्विगुरयं समासः, सप्तलोक्याः जननी सप्तलोकीजननी तस्यास्तथाविधायाः अम्बाया इत्यर्थः, किं कुर्व्वत्याः [तर्जयन्त्याः] निर्भर्त्सयन्त्याः कया तर्जन्या किं(कं) तर्जयन्त्याः अदितिसुताराति कंसासुरं

---

१. ज०—धैर्यवीर्यावलेपं।

२. का० दर्पानल्पाट्टहासद्विगुणतरसिताः।

३. का० जन्यदूतो।

४. ज० का० नखरुचिततयस्तर्ज्जयन्त्याः।

किंभूता नखतितरुचयः जन्यदूत्यः जन्यं संग्रामस्तस्मै दूत्यो जन्यदूत्यः, पुनरपि किंभूताः द्विगुणितरसिताः अतिशयरसिता इत्यर्थः, कस्मात् द्विगुणितरसिताः दर्प्पानल्पाट्टहासात् अट्टो हासो अट्टहासः अनल्पश्चासावट्टहासश्च अनल्पाट्टहासः, दर्प्पेणानल्पाट्टहासः दर्प्पानल्पाट्टहासः तस्मात् अत एव तर्ज्जन्या नखप्रभाततयो महाट्टहासेनाधिकधवला देव्यास्तर्जयन्त्या अत एव पाण्डुरद्युतिं अदितेः सुताराऽतिमापादयन्त्या इत्युक्तं, अत्र पक्षे पाण्डुरश्चासौ द्युतिश्च पाण्डुद्युतिः कर्मधारयः तं पाण्डद्युतिं कं कंसमापादयन्त्याः किं कुर्वत्यास्तर्जयन्त्याः गगनमाकाशं गच्छन्त्या किं कृत्वा गगनं यान्त्या हस्तादुत्पतन्त्या कंसकरादुत्पत्य, किंविशिष्टं अदितिसुताराति वैलक्षण्येन पाण्डुद्युतिं विलक्ष्यभावे पाण्डुद्युतिं कान्ति, पाण्डुद्युतिरिति बहुव्रीहिः, काकाक्षिडोलकन्यायेनात्र पाण्डुद्युतिशब्दो द्रष्टव्यः, पुनरपि किंभूतं कंसं अगणितधैर्यवीर्यावलेपं अगणितो धैर्येणाकातरत्वेन वीर्यावलेपो बलदर्पो येन स तथोक्तस्तं अत एव वैलक्ष्येणेव पाण्डुद्युतिं अदितिसुताराातिमित्युक्तम् ॥५४॥

प्रालेयाचलपल्वलैकबिसिनी साऽऽर्याऽस्तु वः श्रेयसे
यस्याः पादसरोजसीम्नि महिषक्षोभात् क्षणं विद्रुताः।
निष्पिष्टे पतितास्त्रिविष्टपरिपौ गीत्युत्सवोल्लासिनो
लोकाः सप्त सपक्षपातमरुतो भान्ति स्म भृङ्गा इव ॥५५॥

कु० वृ०—सा आर्या वः श्रेयसे अस्तु, सा का प्रालेयाचलपल्वलैकबिसिनी, प्रालेयाऽचलो हिमवान् स एव पल्वलं तत्र बिसिनी, पुनः सा का यस्याः पादसरोजसीम्नि चरणकमलनिकटे सप्तलोका आपतिताः सन्तो भृङ्गा भ्रमरा इव भान्ति स्म भातवन्त इत्यत्र अकारार्थो द्रष्टव्यः; क्व सति त्रिविष्टपरिपौ स्वर्गवैरिणि निष्पिष्टे विचूर्णिते, किंविशिष्टा लोकाः गीत्युत्सवोल्लासिनः गीत्या गीतेन महिषवधाख्य उत्सवस्तेन उल्लसन्ति स्म; अपि च, सपक्षपातमरुतः सपक्षपातोऽनुकूलो मरुद्येषां ते तथा, अथवा सह पक्षपातेन स्वकीयभावेन वर्तन्ते मरुतो देवा येषां ते, किंभूता लोकाः, महिषभयात् क्षणं विद्रुताः पलाय्य गताः, के इव भृङ्गा इव, भृङ्गा अपि बिसिनीकृतवसतयो भवन्ति, महिषे पल्वलावगाहार्थमागच्छति तत् क्षोभाद्वा पलाय्य विद्रवन्ति, गते तस्मिन् महिषे पुनरागच्छन्ति; अनु च, गीत्युत्सवोल्लासिनो भवन्ति, गाने य उत्सवः गीत्युत्सवः तेन उल्लसन्तीति; अन्यच्च, सपक्षपातमरुतः पक्षाणां पातः पक्षपातः तेन यो मरुत् वायुः स पक्षपातमरुत् तेन वर्तन्ते तथा ॥५५॥

सं० व्या०–५५.—प्रालेयेति ॥ सा आर्या देवी वो युष्माकं श्रेयसे

(मङ्गलाय) अस्तु भवतु, किंभूता प्रालेयाचलपल्ववैकबिसिनी प्रालेयस्याचलः प्रालेयाचलो हिमाचलः सदेव (स एव) पल्वलं सरः प्रालेयाचलपल्वलं तत्रैक-बिसिनी पद्मिनी प्रालेयाचलपल्वलैकबिसिनी पद्मिन्या हि पद्मसन्निधौ भ्रमरा इव भवन्ति इत्यभिप्रायेणाह, यस्याः पादसरोजसीम्नि पाद एव सरोजं चरणपङ्कजं तस्य सीम्नि पर्यन्ते पादसरोजसीम्नि, यस्याः देव्याः सप्तलोका भृङ्गा इव भ्रमरा इव भान्ति स्म शुशुभिरे, किंविशिष्टाः सप्तलोकभ्रमराश्च सपक्षपाताः एकत्र पक्ष-पाताः पक्षपातिनो मरुतो देवास्तेषां लोकानां ते तथोक्ताः भृङ्गा ये लोका भ्रमराश्च, पूर्वं कीदृशाः महिषस्य क्षोभो महिषक्षोभः तस्मात् महिषक्षोभात् क्षणं क्षणमात्रं स्तोककालं विद्रुताः विगताः पादसरोजसीम्नीति प्रकृतेन सम्बन्धः, किंविशिष्टाः पादसरोजसीम्निपतिताः गीत्युत्सवोल्लासिनः उत्सवेन उल्लसितुं शीलं येषां ते उत्सवोल्लासिनः, गीत्या गानेनोल्लासिनो गीत्युत्सवोल्लासिन इति ॥५५॥

अप्राप्येषुरुदासितासिरशनेराराात्कुतः[1] शङ्कुत-
श्चक्रव्युत्क्रमकृत्परोढपरशुः शूलेन शून्यो यया ।
मृत्युर्दैत्यपतेः कृतः सुसदृशः पादाऽङ्गुलीपर्वणा[2]
पार्व्वत्या प्रतिपाल्यतां त्रिभुवनं निःशल्यकल्यं तया[3] ॥५६॥

कुं० वृ०—तया पार्व्वत्या त्रिभुवनं(प्रति-) पाल्यतां, पर्वाणि सन्धयो विद्यन्ते-ऽस्येति पर्व्वतः, पर्व्वमरुद्भ्यां तन्निति तः पर्व्वतः, तस्यापत्यं पार्व्वती, किंभूतं निःशल्यकल्यं निर्गतं च तच्छल्यं च तेन कल्यं, निर्गतेन महिषलक्षणेन शल्येन निरातुरमित्यर्थः, तथा, कया यया पार्व्वत्या दैत्यपतेर्महिषस्य मृत्युः सुदृशः कृतः, पादाङ्गुलीपर्व्वणा पादस्याङ्गुली तस्याः पर्व्व तेन पर्व्वणा पर्वतपुत्र्या हि पर्वणाऽपरस्य मृत्युर्युज्यत इति, अत एव इषुप्रभृतीन्यायुधानि निरस्तानीत्यर्थः; किंभूतो मृत्युः, अप्राप्येषुः प्राप्तुं योग्यः प्राप्यः, न प्राप्यः इषुर्येन स अप्राप्येषुः, अन्यच्च, उदासितासिः, उदासीकृतः असिर्यस्मात्स उदासितासिः; अन्यच्च, अशनिः आरात् दूरे अतो हेतोः शङ्कुतः, आरात्समीपे दूरसमीपयोः, कुतः किं-विशिष्टः चक्रव्युत्क्रमकृत् व्युत्क्रमः अतिक्रमः तं करोतीति कृत्, चक्रातीत

१. का० आप्राप्येषु०; अप्राप्तेषुरित्यपि टिप्पण्यां टङ्कितम् ।

२. का०—०पर्वतः ।

३. ज० यया ।

इत्यर्थः, किंविशिष्टः, परोक्षपरशुः परोक्षे परशुः (34b) यस्य स तथा; अन्यच्च, शूलेन शून्यः शूलेन रहितः इत्यर्थः, अतः सर्वास्त्रपरिहाणेन पादाङ्गुलीपर्व्वतयुक्तः अत्र महिषस्य दुष्टत्वात् रोषाविष्टया शस्त्राभिहतः स्वर्गं यास्यतीति तान्यपहाय पादेन मृत्युयुक्तो व्यधायीति व्याकरणं, संग्राममृत्युमधिगम्य दिवं प्रयान्त्विति वाक्येन विरुध्यते इति कृत्वा परिहृत्येति कृतम् ॥५६॥

सं० व्या०—५६.—अप्राप्येष्विति ।। पर्वाणि संधयस्तानि विद्यन्तेऽस्येति पर्वतः, पर्वमरुद्भ्यां तन् इति तः पर्व्वतः, पर्वतस्यापत्यं पार्वती पर्वतपुत्री गौरी इत्यर्थः तया पार्वत्या प्रतिपाल्यतां प्रतिरक्ष्यतां त्रिभुवनं त्रैलोक्यं, किंविशिष्टं निःशल्यकल्यं निर्गतं च तत् शल्यं च निःशल्यं निःशल्येन कल्यं (निरामयं, निरातुरं) निःशल्यकल्यं निर्गतमहिषलक्षणेन शल्येन निरातुरमित्यर्थः, यया पार्वत्या दैत्यपतेर्महिषस्य मृत्युकरणं युज्यत इति भावः, अत एव इषुप्रभृतीन्यायुधानि निरस्येदमाह अप्राप्येषुः इत्यादि, अप्राप्योऽलभ्य इषुर्यत्र स अप्राप्येषुः विना प्राणैः प्राप्यासि उदासितः औदासीन्यं गतो निर्व्यापारो असिः खड्गो यत्र स उदासितासिः, अशनेर्वज्रात् दूरात् दूरतः कुतः कस्मात् कारणात् शङ्कुतःशङ्क्वारात् निकटे अपि कुतश्चेति इदमुक्तं भवति अशनेरपि यो दूरभूतः स कथं शङ्कोर्निकटो भवति, चक्रस्य व्युत्क्रमोऽतिक्रमस्तं कृतवान् चक्रव्युत्क्रमकृत् अतिक्रान्तचक्र इत्यर्थः परोक्षोऽसमक्षः परशुः कुठारो यत्र स परोक्षपरशुः, शूलेन शून्यो रहितो मृत्युरिति सर्वत्र योज्यः ॥५६॥

नष्टानष्टौ द्विपेन्द्रानवत[1] न वसवः किं दिशो द्राग् गृहीताः
शार्ङ्गिन्! सङ्ग्राममुक्त्या[2] लघुरसि गमितः साधु तार्क्ष्येण तैक्ष्ण्यम्।
उत्खाता नेत्रपङ्क्तिर्न तव समरतः[3] पश्य नश्यद्बलं स्वं
स्वर्नाथेत्यात्तदर्प्पं व्यसुमसुरमुमा कुर्व्वती त्रायतां वः ॥५७॥

कु० वृ०—उमा वस्त्रायताम्, किंविशिष्टा, असुरं व्यसुं कुर्व्वती विगता असवः प्राणा अस्य व्यसुस्तं, किंविशिष्टमसुरं इति आत्तदर्प्पं गृहीतदर्प्पं इति वक्ष्यमाणसावलेपव(च)नैः दर्प्पोऽनुमीयते; इतीति किम्- हे वसवः, नष्टान् अष्टौ द्विपेन्द्रान् न अवत रक्षत, द्राक् शीघ्रं पलाय्य किंदिशो गृहीताः अथ गजेन्द्रा-

---

१. ज० का० गजेन्द्रानवत ।
२. ज० का० सङ्ग्रामयुक्त्या ।
३. का० टिप्पणी 'सुरपते' इत्यपि पाठः ।

रक्षणे इत्यनुमोयते भवद्भिः किंदिशो गृहीताः कुत्सितो मार्ग आदृतः, हे शार्ङ्गिन् ! सङ्ग्राममुक्त्या सङ्गरत्यागेन लघुरसि गुरुत्वं गतं तर्हि साधु युक्तम्, एतत् तार्क्ष्येण गरुडेन त्वं तैक्ष्ण्यं शीघ्रतां गमितः, वेगवत्साहचर्य्यात् वेगवत्ता युक्ता एव; अन्यच्च, हे स्वर्नाथ इन्द्र ! समरतः सङ्ग्रामात् स्वं आत्मीयं बलं नश्यत् पलायमानं पश्य, तव नेत्रपङ्क्तिर्न उत्खाता, नेत्रपङ्क्तिश्चेद्भवति नश्यद्बलं किं न पश्यसि ? ॥५७॥

सं० व्या०–५७. नष्टानष्टाविति ॥ उमा गौरी वो युष्मान् त्रायतां रक्षतु, किं कुर्वती असुरं महिषासुरं व्यसुं गतप्राणं विदधती, किंभूतं इत्येवात्तदर्पं गृहीतगर्वमदं, विगता असवो यस्य, आत्तो दर्प्पो येनेति विग्रहः, कथमात्तदर्प्प-मित्याह नष्टानष्टौ गजेन्द्रानित्यादि, हे वसवः यूयं अष्टौ गजेन्द्रान् न अवत न रक्षत किं दिशो द्राक् क्षिप्रं गृहीताः, एतदुक्तं भवति रक्षितदिग्गजानां युष्माकं दिशो भवन्ति न तु पलायमानानामित्यादि, हे शार्ङ्गिन् ! विष्णो ! सङ्ग्रामयुक्त्या लघुरसि सङ्ग्रामयोगे लघुरसि भवसि [इति] साधु युक्तं, तार्क्ष्येण गरुडेन तैक्ष्ण्यं तीक्ष्णतां शीघ्रतां गमितो नीतः, हे स्वर्नाथ स्वर्गपते ! समरतः नश्यत् पलायमानं बलं सैन्यं स्वमात्मीयं पश्य अवलोकय नेत्रपङ्क्तिर्नयनावलिर्न तवोत्खातोत्पाटितेति ॥५७॥

श्रुत्वा शत्रुं दुहित्रा निहतमतिजडोऽप्यागतोऽह्नाय हर्षा-
दाश्लिष्यच्छैलकल्पं महिषमवनिभृद्बान्धवो विन्ध्यबुद्ध्या ।
अस्याः श्वेतीकृतेऽस्मिन् स्मितदशनरुचा तुल्यरूपो हिमाद्रि-
र्द्राग् द्राघीयानिवासीदवतमसनिरासाय[1] सा स्तादुमा वः ॥५८॥

कुं० वृ०—सा उमा पार्व्वती वो युष्माकं अवतमसनिरासाय अज्ञाननाशाय स्तात् भवतात्, अवतमसं अन्धकारमिति अवसमन्धेभ्यस्तमस इति अव-प्रत्ययान्तं, यस्याः स्मितेन विशिष्टा दशनाः, स्मितदशनाः स्मितवशात् ईषद्विलोकनीयतां गतास्तेषां रुक्कान्तिस्तया अस्मिन् महिषे श्वेतीकृते हिमाद्रिर्द्राक् शीघ्रं द्राघीया-निवासीत् दीर्घतर इवासीत्, कथम्भूतो हिमाद्रिः, तुल्यरूपः समानकान्तिः, किं कुर्व्वन् विन्ध्यबुद्ध्याऽचलधिया शैलकल्पं महिषं आश्लिष्यन्, कथं अह्नाय झटिति अत एव अतिजड एव, यतो महिषविन्ध्ययोर्विवेकं न अबुद्ध; किंविशिष्टो हिमाद्रिः अवनिभृद्बान्धवः अवनिभृतां पर्व्वतानां बान्धवः, अत एव आलिलिङ्ग, किंविशिष्टो हिमाद्रिः दुहित्रा शत्रुं निहतं श्रुत्वा आगतः, कुतः हर्षात् ॥५८॥

---

१. का० अतनुजनुनिरासाय इति टिप्पणे ।

सं० व्या०–५८. श्रुत्वेति ॥ अवतं च तत् (त)मश्च अवतमसं तस्य निरासो अवतमसनिरासस्तस्मै अवतमसनिरासाय सन्ततमोव्युदासार्थं उमा गौरी वो युष्माकं स्तात् भवतु, दशनानां रुक् दशनरुक् स्मिते कृते या दशनरुक् स्मित-दशनरुक् तया स्मितदशनरुचा, यस्यां हसन्त्यां अस्मिन् महिषे श्वेतीकृते सति तुल्य एव एकरूपो हिमाद्रिः द्राक् क्षिप्रं द्राघीयानिव दीर्घं(तर) इव आसीत् अभूत्, दोषं महिषासुरेण सह हिमाद्रेः सम्बन्धस्तदाह, श्रुत्वा शत्रुं दुहित्रेत्यादि, अतिजडोऽपि हिमाद्रिरह्नाय क्षिप्रमागतो हर्षात् प्रमोदात् किं कृत्वा आकर्ण्य महिषं शत्रुं निहतं व्यापादितं दुहित्रा सुतया, किं कुर्वन् यस्याः स्मितेन दशन-प्रभया धवलीकृते सति महिषे हिमाद्रिरतिशयेन दीर्घं इवासीत् हर्षादाश्लिष्यन् परिष्वजमानो महिषं शैलकल्पं पर्वतदेश्यं, कयाऽऽश्लिष्यन् विन्ध्यबुद्धया विन्ध्योऽयं पर्वत इति धिया, किंविशिष्टो हिमवान् अवनिभृद्बान्धवः अवनिभृतः बान्धवाः यस्य स तथोक्तः अत एव विन्ध्यबुद्धया महिषमाश्लिष्यन्नित्युक्तम् ॥५८॥

क्षिप्तोऽयं मन्दराद्रिः पुनरपि भवता वेष्ट्यतां वासुकेऽब्धौ
　प्रीयस्वानेन[1] किं ते बिसतनुतनुभिर्भक्षितैस्तार्क्ष्य नागैः ।
अष्टाभिर्दिग्द्विपेन्द्रैः[2] सह न हरिकरी कर्षतीमं हते वो
　ह्रीमत्या[3] हैमवत्यास्त्रिदशरिपुपतौ[4] पान्त्विति व्याहृतानि ॥५६॥

कु० वृ०—हैमवत्याः इति व्याहृतानि भाषितानि वः पान्तु, किंविशिष्टायाः ह्रीमत्याः लज्जावत्याः, क्व सति त्रिदशरिपुपतौ हते सति, इतीति किं अयं इति महिषं व्यादिश्य वदति, हे वासुके ! अयं मन्दराद्रिः क्षिप्तः, मन्दराद्रिरेव मन्दराद्रिः, लुप्तोपमा [35a], असौ त्वया पुनरपि प्रागेव वेष्टयतां वेष्टनं क्रियतां; अन्यच्च, हे तार्क्ष्य ! अनेन महिषेण प्रीयस्व तृप्तिमाप्नुहि, तेन च नागैर्भक्षितैः, किंविशिष्टैर्नागैः, बिसतनुतनुभिः बिसवत्तन्वी तनुः शरीरं येषां ते तथा तैः कृशै-रिति यावत्; हरिकरी इन्द्रगजः इमं महिषं न कर्षति, कैः सह अष्टभिर्दिग्गजेन्द्रैः सह; अत्र हरिकरी आत्मना सह अष्टाभिर्दिग्गजेन्द्रैः इति योजनीयम् ॥५६॥

सं० व्या०–५६. क्षिप्तोऽयमिति ॥ हैमवत्याः हिमवत्सुतायाः इत्येवं व्या-हृतानि जल्पितानि वो युष्माकं पान्तु रक्षन्तु, किंविशिष्टायाः हैमवत्याः अह्री-

१. का० प्रीतोऽने नैवेति टिप्पण्याम् ।
२. ज० का०—गजेन्द्रैः ।
३. ज०—प्रतौ 'अह्रीमत्या' इति पाठो व्याख्यातः ।
४. का०—टिप्पणे 'त्रिदिवरिपुहतौ' ।

मत्याः अलज्जितायाः, क्व सति त्रिदशरिपुपतौ असुरस्वामिनि महिषे निहते सति, कृतकार्यो हि भटः प्रयुक्तानन्यभटान् उपहसन्नपि लज्जते, इदानीं व्याहृतानि प्रतिपादयन्निदमाह क्षिप्तोऽयं मन्दराद्रिरित्यादि, मन्दरश्चासावद्रिश्च मन्दराद्रिः मन्दराद्रिरिव अयं महिषः, अत्र विनापि यदिवशब्दैरुपमा गम्यते यथाग्निर्माणवक इत्यादि, अयं मन्दराद्रिर्महिष अब्धौ समुद्रे क्षिप्तो वासुके अहिपते ! भवता त्वया पुनरपि वेष्टयतां परिवार्यतां पूर्ववदिति भावः अत एवोक्तं प्रीयस्वानेनेति अनेनैतेन महिषेन तार्क्ष्य गरुत्मन् ! प्रीयस्व तृप्तो भव, किं ते तव भक्षितैर्नागैः सर्पैः बिसतनुतनुभिः बिसवत्तन्वी तनुर्येषां इति विग्रहः, इमं महिषं हरिकरी ऐरावतोऽष्टाभिर्दिग्द्विपेन्द्रैराशाराजगजैः सह न कर्षतीमं महाभारत्वाद्वरिष्ठत्वादिति भावः ।।५९।।

एष प्लोष्टा पुराणां त्रयमसुहृदुरःपाटनोऽयं नृसिंहो
हन्ता त्वाष्ट्रं द्युराष्ट्राधिप इति विविधान्युत्सवेच्छाहृतानाम् ।
विद्राणानां विमर्दे दितितनय[मये] नाकलोकेश्वराणा-
मश्रद्धेयानि कर्म्माण्यवतु विदधती पार्वती वो हतारिः ।।६०।।

कुं० वृ०—पार्व्वती वोऽवतु, किंविशिष्टा हतारिः, किंकुर्व्वती नाकलोकेश्वराणां नानाविधानि कर्म्माणि इति अश्रद्धेयानि विदधती, श्रद्धाऽर्हाणि श्रद्धेयानि; किंविशिष्टानां पूर्व्वं उत्सवेच्छाहृतानां, उत्सवस्य इच्छा उत्सवेच्छा तया आहृतानां पश्चाद् दितितनयमये विमर्दे विद्राणानां पलायितानां, दितितनयाः प्रधानानि अस्मिन् कानि तानि कर्म्माणीत्याह, एष पुराणां त्रयं प्लोष्टा, अयं असुहृदुरःपाटनो नृसिंहः; अन्यच्च, एष त्वाष्ट्रं वृत्रं हन्ता, त्वष्टुरपत्यं त्वाष्ट्रः, द्युराष्ट्राधिप इन्द्रः, एतदुक्तं भवति हरनृसिंहेन्द्रैः पुरदाहहिरण्यकशिपोरःपाटनवृत्रहननलक्षणानि कर्म्माणि कृतानि इति यद्वदन्ति तदसम्भाव्यं चेत् एभिस्तानि कृतानि भवन्ति, तर्हि महिषसंग्रामे कथं पलायिताः; अथ च, किं कुर्व्वती इति कर्म्माणि विदधती, किंलक्षणानि नाकलोकेश्वराणां अश्रद्धेयानि नाकलोकेश्वरा यानि कर्म्माणि दृष्ट्वा न स्त्रीकर्म्मत्वेन सम्भावयन्ति, इतीति किं एष ईदृक्कर्म्मणः कर्त्ता पुरभिद्वा नृसिंहो वा वृत्रहा वा नान्येनेदृक्कर्म्म कर्त्तुं पार्यत इति ।।६०।।

सं० व्या०—६०. एष प्लोष्टेति ।। हतो अरिर्महिषो यया सा हतारिः, पार्वती पर्वतपुत्री वो युष्मान् अवतु रक्षतु, नाकलोका देवास्तेषामीश्वराः प्रभवो हरादयस्तेषामित्येवं कर्म्माणि विविधानि नानाप्रकाराणि अश्रद्धेयानि असम्भावनीयानि विदधती कुर्वती, किंभूतानां नाकलोकेश्वराणां विद्राणानां म्लेच्छानां क्व

विमर्दे युद्धे दितितनयमये दितेस्तनयो महिषस्तत आगतो दितितनयमय इति, नृहेतुभ्यो रूप्यत इति प्रस्तुतवृत्तेर्मयट् इति मयट्-प्रत्ययः, तस्मिन् दितितनयमये विमर्दे विद्राणानामिति सम्बन्धः, पुनरपि किंविशिष्टानां उत्सवेच्छाहूतानां महिषहतावुत्सवं कर्म इति या उत्सवेच्छा तयाऽहूतानां एतदुक्तं, पूर्वं महिषादागते विमर्दे युद्धे शङ्करादयो विद्राणाः, पश्चाद्देव्या महिषवधे कृते सति कुतश्चिन्मिलिता अत एवामीषां हरिहरेन्द्राणां इति विविधानि कर्माणि असम्भावनीयानि निर्दिशन्ती देव्याह एष प्लोष्टेत्यादि, पुराणां त्रयं त्रिपुरं एष प्लोष्टा अयं दग्धा असुहृदुरसः पाटनोऽयं असुहृदो हिरण्यकशिपोर्वक्षोभेत्ता अयं नृसिंहो नरसिंहः त्वाष्ट्रं वृत्रं हन्ता हननसाधुकारी द्युराष्ट्राधिपः स्वर्गमण्डलपतिः ॥६०॥

शत्रौ शातत्रिशूलक्षतवपुषि रुषा प्रोषिते[1] प्रेतकाष्ठां
काली कीलालकुल्यात्रयमधिकरयं[2] वीक्ष्य विश्वासितद्यौः ।
त्रिस्रोतास्त्र्यम्बकेयं वहति तव भृशं पश्य रक्ता विशेषा-
न्नो मूर्ध्ना धार्यते किं हसितपतिरिति प्रीतये कल्पतां वः ॥६१॥

कु० वृ०—काली दैत्यविनाशार्थमुत्पन्ना देवी वः प्रीतये कल्पतां, किंविशिष्टा इति हसितपतिः हसितः पतिर्यया सा तथा, किं कृत्वा कीलाल-कुल्यात्रयं वीक्ष्य, कीलालस्य रुधिरस्य कुल्या कीलालकुल्या तस्याः त्रयं, 'कुल्याऽल्पा कृत्रिमा सरित्', क्व सति शत्रौ प्रेतकाष्ठां प्रोषिते सति, कथंभूते शातत्रिशूलक्षतवपुषि निशितत्रिशूलक्षुण्णवपुषि, निशितः कया रुषा रोषेण, कथं हसितपतिरित्याह, हे त्र्यम्बक ! इयं तव त्रिस्स्रोता गङ्गा वहति, किंविशिष्टा भृशं रक्ता तर्हि विशेषात् तस्याऽपि सविशेषं मूर्ध्ना किं नो धार्यते, या यं अनुरक्ता भवति स तां दधात्येव, किंविशिष्टं कुल्यात्रयं अधिकरयं अधिकाऽधिकतरो रयो यस्मिन् तत्, किंविशिष्टा काली विश्वासितद्यौः महिषहननात् दिवो विश्वासो जातः, किंविशिष्टा त्रिस्रोताः विश्वासितद्यौः (35b) ऊर्द्ध्वधाराव्याजेन दिवो विश्वसनार्थमिव (स्व)पतिरिति इयं रक्ता सतो वहतीत्ययुक्तं, रक्ता भवति सा भार्या भवतीत्युपहासार्थः ॥६१॥

सं० व्या०—६१ शत्राविति ॥ काली कृष्णा भगवती वो युष्माकं प्रीतये प्रीत्यर्थं कल्पतां जायतां, किंभूता काली हसितपतिः हसितः पतिर्यया सा हसितपतिः

---

१. ज० का०—प्रेषिते ।
२. का०—त्रयमधिकतरमिति पाठः पादटिप्पणे ।

किं कृत्वा वीक्ष्यावलोक्य कीलालकुल्यात्रयं कीलालं रुधिरं तस्य कुल्यात्रयं किंविशिष्टं अधिकरयं अधिको रयो वेगो यस्य तत् तथोक्तं, क्व रक्तकुल्यात्रयं शत्रौ महिषे कीदृशे शातत्रिशूलक्षतवपुषि, शातं निशातं तच्च त्रिशूलं च तेन क्षतं वपुः शरीरं यस्य स शातत्रिशूलक्षतवपुः तस्मिन् तथोक्ते रुषा कोपेन, पुनरपि किंविशिष्टे शत्रौ प्रेषिते त्रीणि स्रोतांसि यस्याः सा त्रिस्रोता गङ्गा विश्वासिता द्यौर्यया परिचितद्यौरित्यर्थः, हे त्र्यम्बक ! त्रिनेत्र ! विश्वासितद्यौरियं त्रिस्रोतास्तव हसति, किंभूता भृशमत्यर्थं रक्ता विशेषाद्विशेषेण वस्त्वर्थस्तु रक्ता लोहिता पश्यावलोकय नो मूर्ध्ना धार्यते किं शिरसा न धार्यते इति ॥६१॥

शृङ्गे पश्योर्ध्वदृष्ट्याऽधिकतरमतनुः[1] सन्नपुष्पायुधोऽस्मि
व्यालासङ्गेऽपि नित्यं न भवति भवतो भीर्नयज्ञोऽस्मि येन ।
मुञ्चोच्चैस्त्वं पिनाकिन् ! पुनरपि च वधे दानवानां पुरोऽहं
पायात्सोत्प्रासमेवं हसितहरमुमा मृद्नती दानवं वः ॥६२॥

कुं० वृ०—उमा वः पायात्, किं कुर्वती दानवं मृद्नती, किंविशिष्टं दानवं, एवं हसितहरं हसितो हरो येन स तथोक्तं, कथं यथा भवति, सोत्प्रासं सोल्लुण्ठं यथा भवति तथा, एवमिति किं, हे हर ! अस्मीत्यहं पुष्पायुधो न, किंविशिष्टः अधिकतरं अतनुः सन् अपुष्पायुधः, न विद्यते तनुर्यस्य स अतनुः, न तनुरतनुः अकृशः, पुष्पं आयुधं यस्य स पुष्पायुधः न पुष्पायुधः (अपुष्पायुधः), ऊर्ध्वोद्यद्दृष्टी प्रसार्य शृङ्गं पश्य अहं पुष्पायुधो न किन्तु शृङ्गायुधः, तव उर्द्ध्वदृष्टया सन्नपुष्पायुधः छन्नं पुष्पायुधं यस्य स तथा विशीर्णपुष्पायुधः, तद्भ्रान्त्या मां मा योधीः; अनु च, हे हर ! तव व्यालासङ्गेऽपि मम भीर्न भवति, यतोऽहं नयज्ञः नयं जाङ्गुलिकानां जानामीति नयज्ञः; अथ च, तव व्यालासङ्गेऽपि बाणसङ्गेऽपि भवतः सकाशात् मम भीर्न भवति, 'व्यालः स्यात्सर्पबाणयोः', यतोऽहं न यज्ञः, यज्ञः त्वया हतः, सोऽहं न भवामि, हे पिनाकिन् ! त्वं दानवानां पुरः प्रति पुनरपि विशिखं मुञ्च; अथ च, हे पिनाकिन् ! त्वं मां प्रति पुनरपि विशिखं मुञ्च, एकेन मे किञ्चिन्न जातं, अथ च, हे पिनाकिन् ! त्वं विशिखं मुञ्च त्यज, यतो दानवानां मध्ये पुरोऽग्रतः अहं वर्ते नान्ये यान् त्वं योधयसे ॥६२।

सं० व्या०—६२. शृङ्गे इति ॥ उमा गौरी वो युष्मान् पायात् रक्षतु, किं कुर्वती दानवं महिषं मृद्नती निघ्नती, किं विशिष्टं हसितहरं हसितो हरो येन

---

१. का०—यस्योर्ध्वदृष्ट्येति पाठोऽपि पादटिप्पण्यां प्रदर्शितः ।

इति विग्रहः, पुनरपि किंविशिष्टं सोत्प्रासं सह उत्प्रासेन उल्लण्ठनेन वर्तते इति सोत्प्रासं, कथं हसितहरं एवमित्थं तदुच्यते, हे पिनाकिन् ! मम शृङ्गे विषाणे द्वे, ऊर्ध्वं दृष्टिः ऊर्ध्वदृष्टिस्तया ऊर्ध्वदृष्ट्या पश्यावलोकय अधिकतरं सातिशयं अतनुः सन् न हतः पुष्पायुधः कामोऽस्मि, न तनुः अतनुः अकृश इत्यर्थः, कृत् पक्षे तु न विद्यते तनुः शरीरं यस्यासौ अतनुः कामः एतदुक्तं भवति, कामः स त्वया ऊर्ध्वदृष्ट्या विलोक्य दग्धः, अहं तु महिषः, त्वया दग्धुं न शक्य इत्यर्थः, यथेच्छं मम शृङ्गे पश्येति भावः, पुनर्हे पिनाकिन् ! भवतो भीर्न भवति व्यालासङ्गेऽपि न तव व्यालासङ्गेनापि, ममापि भवतो भीर्न भवति, व्याला उदरास्तेषां सङ्गेऽपि, न यज्ञोऽस्मि, त्वया ध्वंसितो यज्ञः न सोऽस्मि येन व्यालः सर्पः तस्यासङ्गो व्यालासङ्गस्तस्मिन्नपि सति नित्यं भवतः त्वत्तः भीर्भयं भवति, नयज्ञोऽस्मि येन कारणेन नयमहं जानामीति; पिनाकं धनुस्तद्विद्यते यस्येति पिनाकी तस्याऽमन्त्रणं, हे पिनाकिन् ! त्वं विशेषं तु चक्षुः क्षिप त्वमुच्चैरित्यर्थं ··· ··· पुनरपि वधे वधनिमित्तं दानवानां पुरोऽहं एकत्र दानवानां दनुसुतानां पुरोऽग्रतः अहं अस्म्यत्र तु दानवानां पुरस्तिष्ठ इति ।। ६२ ।।

नान्दीशोत्सार्यमाणापसृतिसमनमन्नाकिलोकं[1] नुवत्या

नप्तुर्हस्तेन हस्तं तदनुगतगतेः षण्मुखस्यावलम्ब्य ।

जामातुर्मातृमध्योपगमपरिहृते दर्शने शर्म्म दिश्या-

न्नेदीयश्च्युम्ब्यमाना[2] महिषवधमहे मेनया मूर्ध्न्युमा वः ।।६३।।

कुं० वृ०—उमा देवी वो युष्मभ्यं शर्म्मं दिश्यात्, महिषवधमहे महिषवध-महोत्सवे मेनया देवीमात्रा मूर्ध्नि चुम्ब्यमाना, कथं यथा भवति नेदीयः निकटतरं यथा भवति, क्व सति, जामातुर्दर्शने मातृमध्योपगमपरिहृते, मातॄणां मध्यं तत्र उपगमः आगमनं तेन परिहृतं तस्मिन् परिहृते मातृवृन्दमध्योपसरणेन जामाता तां न दृष्टवान्; किं कृत्वा, नप्तुर्दुहितृपुत्रस्य तदनुगतगतेः, किंभूतया नान्दी-शोत्सार्यमाणापसृतिसमनमन्नाकिलोकं, नुवत्या नान्द्या वाद्यस्य ईशः नान्दीशः तेन उत्सार्यमाणा या अपसृतिः अपसरणं तया समं समकालं नमन् नतिं कुर्व्वन् योऽसौ नाकिलोकः तं नाकिलोकम् ।।६३।।

---

१. ज० नाकिनृत्यं ।

२. 'देवी संतुष्यमाणा' इत्यपि पाठः काव्यमालाप्रतौ पादटिप्पणे सूचितः ।

सं० व्या०—६३. नान्दीशोत्सार्येति ।। उमा गौरी वो युष्मभ्यं शर्म सुखं दिश्यात् ददातु, किं कुर्वाणा चुम्ब्यमाना, नेदीयो यो निकटतरं जामातुरिति प्रकृतेन सम्बन्धः न तु शङ्करं प्रधानमदृष्ट्वैव किमिति पूर्वमेतावन् मेनया गौरी सम्भावितेति तदुच्यते मातृमध्यापगमपरिहृतदर्शने इति, मातृणां ब्रह्माणीप्रभृतीनां मध्ये तस्योपगमनं तस्मात् परिहृते त्यक्ते सति दर्शने जामातुः शङ्करस्य नेदीयो, गौरी चुम्ब्यमानेति एतेन नीतिप्रतिपादिते सति, किं कुर्वत्या मेनया चुम्ब्यमाना नुवत्या स्तुवत्या, किं नान्दीशोत्सार्यमाणा अपसृतिसमनमन्नाकिनृत्यं नुवत्या, नान्द्या वाद्यविशेषस्य ईशः प्रभुः नान्दी शोभनन्दी तेन उत्सार्यमाणा, अपसृतिनमन् अपसरणेन सह नमन्तो ये नाकिनो देवास्तेषां नृत्यं नर्तनं नुवत्या स्तुवत्या, किं कृत्वा चुम्ब्यमाना अवलम्ब्य आदाय हस्तं हस्तेन पाणिना नप्तुर्नप्तृकस्य षण्मुखस्य किंभूतस्य तदनुगतगतेः तस्या मेनाया अनुगता गतिर्यस्येति विग्रहः ।।६३।।

भक्त्या भृग्वत्रिमुख्यैर्मुनिभिरभिनुता बिभ्रती नैव गर्व्वं
शर्व्वाणी शर्म्मणे वः प्रशमितभुवनोपप्लवा[1] सा सदाऽस्तु ।
या पार्ष्णिक्षुण्णशत्रुर्गलितकुलिशप्रासपाशत्रिशूलं[2]
नाकौकोलोकमेकं[3] स्वमपि भुजवनं संयुगेऽवस्त्वमंस्त ।।६४।।

कुं० वृ०—सा शर्व्वाणी शर्व्वस्य भार्या शर्व्वाणी वः शर्म्मणे सदाऽस्तु, किंविशिष्टा प्रशमितभुवनोपप्लवा प्रशमितो भुवनस्य उपप्लवः उपद्रवो यया (36a) सा महिषवधेनेत्यर्थः, किंकुर्व्वती भृग्वत्रिमुख्यैर्मुनिभिर्भक्त्याऽभिष्टुता सती गर्व्वं नैव बिभ्रती, भृगुश्च अत्रिश्च भृग्वत्री तौ मुख्यौ येषां ते भृग्वत्रिमुख्याः तैः; सा का पार्ष्णिक्षुण्णशत्रुः सती संयुगे सङ्ग्रामे नाकौकोलोकं अवस्तु अमंस्त, या पार्ष्ण्या क्षुण्णः शत्रुर्यया सा तथाविधा न केवलं एकं नाकौकोलोकं अवस्तु अमंस्त किन्तु स्वं भुजवनमपि अवस्तु अमंस्त; किंविशिष्टं लोकं गलितकुलिश-

---

१. ज० का०—प्रशमितसकलोपप्लवा ।

२. ज०—पार्ष्णिक्षुण्णशत्रुर्विगलितकुलिशापास्तशस्त्रीपिनाकं;
का० पार्ष्णिक्षुण्णशत्रुर्विगलितकुलिशप्रासपाशत्रिशूलं; 'नगणितकुलिशप्रासशस्त्रीपिनाक'मिति विशेषः पाठः पादे प्रदर्शितः ।

३. ज० का०—नाकौकोलोकमेव । 'आर्तंद्रुतमिति रभसा संयुगे' एषः पाठोऽपि काव्यमालाप्रतौ पादटिप्पणे मुद्रितः ।

प्रासपाशत्रिशूलं प्रासश्च पाशश्च त्रिशूलं च प्रासपाशत्रिशूलानि गलितानि प्रासपाश-त्रिशूलानि यस्य स तम् ॥६४॥

सं० व्या०–६४. भक्त्येति ॥ सा शर्वाणी गौरी वो युष्माकं शर्मणे सुखाय सदा नित्यं अस्तु भवतु, किंविशिष्टा शर्वाणी प्रशमितः सकलोपप्लवो यया सा तथोक्ता, महिषवधेनोपशमितः समस्तोपप्लव इत्यर्थः, किं कुर्वती बिभ्रती धारयन्ती नैव न खल्वभिमानं, किंविशिष्टा मुनिभिरभिनुता अभिष्टुता भक्त्या आदरेण किंभूतैः मुनिभिः भृग्वत्रिमुख्यैः भृगुश्चासावत्रिश्च भृग्वत्री तौ मुख्यौ अग्रगण्यौ येषां तैः भृग्वत्रिमुख्यैः, अनेनैतदुक्तं भवति महानुभावाः स्वस्य प्रशंसया गर्वं नोद्वहन्ति इति भावः, पार्ष्ण्या क्षुण्णः शत्रुर्यया सा पार्ष्णिक्षुण्णशत्रुः अवस्तु अमंस्त मन्यते स्म, अस्माकं नाकौकोलोकं देवजनं स्वमपि भुजवनं बाहुविपिनं अवस्तु एव अमंस्त इति पार्ष्ण्योपसाधितकार्यत्वादिति भावः, किंविशिष्टं नाकौ-कोलोकं, गलितः कुलिशो यस्य स गलितकुलिशः, शस्त्री च पिनाकश्च शस्त्री-पिनाकौ येनासौ अपास्तशस्त्रीपिनाकः यत एव साध्वसनविगलितकुलिशापास्त-शस्त्रीपिनाको देवलोकः, अत एव संयुगे तं अवस्तु एवामंस्तेति ॥६४॥

चक्रं शौरेः प्रतीपं प्रतिहतमगमत्[1] प्राग्द्युधाम्नां तु पश्चा-
दापच्चापं बलारेर्न परमगुणतां पूस्त्रयद्वेषिणोऽपि[2] ।
शक्त्याऽलं मां विजेतुं न जगदपि शिशौ षण्मुखे का कथेति
न्यक्कुर्वन् नाकिलोकं[3] रिपुरवधि यया साऽवतात्पार्वती वः ॥६५॥

कुं० वृ०—सा पार्वती वो युष्मान् अवतात्, सा का यया रिपुर्महिषोऽवधि-हतः, किं कुर्व्वन् नाकिलोकं देवलोकं स्वर्गं इति न्यक्कुर्वन् तिरस्कुर्व्वन्, इतीति किं, शौरेर्विष्णोश्चक्रं सुदर्शनाख्यं प्राक् पूर्व्वं प्रतीपं अगमत् विपरीतं गतं, किंविशिष्टं प्रतिहतमहिषशरीरसंगात् प्राप्तप्रतिघातं पश्चाद् द्युधाम्नां देवानां तु चक्रं सैन्यं प्रतीपमगमत् विपरीतं गतं पलायितं; किंभूतं सैन्यं प्रतिहतं उत्पन्न-प्रतिघातं; अन्यच्च, बलारेर्बलरिपोः सम्बन्धि चापं धनुः केवलं अगुणतां नाऽपत् किन्तु पूस्त्रयद्वेषिणोऽपि त्रिपुरदहनस्यापि कार्मुकं निर्गुणतां गुणरहिततां प्रापत् अतो हेतोर्जगदपि शक्त्या सामर्थ्येन मां विजेतुं न अलं न समर्थः, शिशौ बालके षण्मुखे का कथा, शक्त्या आयुधरूपया ॥६५॥

---

१. का०—प्रतिहतमपतत् इति पादटिप्पण्याम् ।

२ः ज० का०—पूस्त्रयप्लोषिणोऽपि ।

३. ज०—नाकलोकं ।

सं.व्या.-६५. चक्रमिति ।। सा पार्वती वो युष्मान् अवतात् रक्षतु यया रिपुर्महिषलक्षणो अवधि हतः, किं कुर्वन् न्यक्कुर्वन् नाकलोकं स्वर्गजनं, कथमित्येवं तदुच्यते चक्रं शौरेरित्यादि, शौरेर्विष्णोश्चक्रं रथाङ्गं प्रतिहतं प्राक् पूर्वं प्रतीपमगमत् विपरीतं गतं, द्युधाम्नां दिवौकसां पुनश्चक्रं बलं प्रतिहतं पश्चात् प्रतीपं गतं, बलारेर्बलशत्रोः सम्बन्धि चापं धनुर्न परं केवलं अगुणतां निर्गुणत्वमाप पूस्त्रयप्लोषिणोऽपि त्रिपुरदहनस्य अपि कार्मुकमविद्यमानगुणत्वं प्राप्तं, जगदपि मां शक्त्या सामर्थ्येन विजेतुं नालं न समर्थं, षण्मुखे कार्तिकेये शिशौ बाले विजये का कथा, अपि तु न कदाचिदपि ।। ६५ ।।

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताऽऽशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे ।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी ।।६६।।[1]

कुं.वृ.–भवानी पार्वती वो दुरितं शमयतु, किंविशिष्टा भूरिभावा भूरयो भावाः सात्विकाद्या यस्याः सा भूरिभावा, कथंभूता भवानी महिषं निघ्नती, कथं निघ्नती निर्विघ्नं विघ्नरहितं यथा भवति तथा, अनेनैतदुक्तं भवति, अतिकोपवता महिषेण निघ्नत्या देव्या न कश्चिदपि विघ्नः कर्त्तुं अशकत इति तत्र रुद्रादिदेवेषु योद्धृमुख्येषु सत्सु स्त्रीत्वात् भवान्या महिषव्यापादने कोऽधिकार इति, चेत् तदाह, रुद्राणां वृन्दं रुद्रवृन्दं तस्मिन् विद्राणे सति पलायिते सति, कथं सखेदं, सवितरि सूर्ये तरले सति आकुले सति, वज्रिणि इन्द्रे ध्वस्तवज्रे सति ध्वस्तं वज्रं यस्मात् येन वा स तस्मिन्, शशाङ्के चन्द्रे जाताऽऽशङ्के जाता आशङ्का यस्य स जाताशङ्कः तस्मिन्, मरुति वायौ सङ्ग्रामाच्च विरमति अदर्शनं गच्छति सति, कुबेरे धनदे त्यक्तवैरे, त्यक्तं वैरं येन स त्यक्तवैरस्तस्मिन्, वैकुण्ठे हरौ कुण्ठितास्त्रे भग्नधारास्त्रे, किंभूतं महिषं अतिरुषं अधिककोपं, पौरुषोपघ्ननिघ्नं पौरुषस्य उपघ्नः आश्रयः तेन [36b] निघ्नः परवशः पौरुषोपघ्ननिघ्नस्तं पौरुषोपघ्ननिघ्नम् ।।६६।।

सं.व्या.-६६. विद्राण इति ।। भवानी भवपत्नी वो युष्माकं [दुरितं] अनिशं शमयतु नाशयतु, किंविशिष्टा भूरिभावा, भूरिशः प्रचुराः भावाः यस्याः सा तथोक्ता, यथा भारते मुनीनां [भरतमुनिना] रसप्रवर्त्तिनो भावा रसा अष्टौ प्रकीर्तिताः भावाश्चैकोनपञ्चाशत्स्थायिसञ्चारिसात्विका इति, किं कुर्वती भवानी महिषं

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरणे शार्ङ्गधरपद्धतावपि च पद्यमिदमुपलभ्यते ।

महिषरूपिणं दानवं निघ्नती निपातयन्ती, किमिव अतिरुषं, अतिशया रुट् यस्य सः तथोक्तं, कथं निघ्नती निर्विघ्नं विघ्नरहितं, अनेनैतदुक्तं भवति अतिशयकोपेनापि महिषेणापि निघ्नन्त्या देव्या न कोऽपि विघ्नं कर्तुं शक्त इति, न तु रुद्रादिषु देवेषु योद्धृमुख्येषु सत्सु स्त्रीत्वाच्च भवान्या महिषव्यापादने कोऽधिकार इति चेत् तत्राह, विद्राणे रुद्रवृन्दे इत्यादि, रुद्राणां वृन्दं रुद्रवृन्दं तस्मिन् विद्राणे ग्लाने, सवितरि सूर्ये तेजस्विनामग्रगण्यामपि [गण्येऽपि तरले सति, वज्रमस्यास्तीति वज्री तस्मिन् वज्रिणि देवराजे ध्वस्तवज्रे सति, ध्वस्तं वज्रं यस्येति विग्रहः, शशाङ्के चन्द्रे अमृतवृष्टया जडीकरणसमर्थेऽपि जाताशङ्केऽपि जातत्रासेऽपि सति, बलवतां धुर्येऽपि मरुति विरमति योद्धुं विरामं कुर्वति सति, त्यक्तं वैरं येन सः त्यक्तवैरः तस्मिन् त्यक्तवैरे सति कुबेरे धनदे, असुरनिधनकारिण्यपि वैकुण्ठेऽपि विष्णौ कुण्ठितास्त्रे सति, कुण्ठितं अस्त्रमस्येति विग्रहः, सर्वत्रात्र स यस्य स भावेन भावलक्षणमिति सप्तमी, एवंविधेषु तेषु सत्सु किंविधा भवानी, पौरुषोपघ्ननिघ्ना पौरुषस्योपघ्नस्तेन निघ्ना पौरुषोपघ्ननिघ्ना पौरुषाकारं यस्याश्रयेण साध्वसं महिषं निघ्नतीति सम्बन्धः ॥ ६६ ॥

भूषां भूयस्तवाद्य द्विगुणतरमहं दातुमेवैष लग्नो
भग्ने दैत्येन दर्पान्महिषितवपुषा किं विषाणे विषण्णः ।
इत्युक्त्वा पातु मातुर्महिषवधमहे कुञ्जरेन्द्राननस्य
न्यस्यन्नास्ये गुहो वः स्मितसितरुचिनी द्वेषिणो द्वे विषाणे ॥६७॥

कुं.वृ.–गुहः कुमारो वः पातु, किं कुर्वन् गजेन्द्राननस्य (कुञ्जरेन्द्राननस्य) गजेन्द्रस्य आननमिव आननं यस्य स गजेन्द्राननः, तस्य आस्ये मुखे द्वेषिणो महिषस्य द्वे विषाणे द्वे शृङ्गे न्यस्यन् आरोपयन्, किंविशिष्टे विषाणे मातुः स्मितसित-रुचिनी, स्मितेन सिता रुचिर्ययोस्ते स्मितसितरुचिनी, क्व महिषवधमहे महिष-वधमहोत्सवे, किं कृत्वा इति वक्ष्यमाणं उक्त्वा, इतीति किं, हे गजानन ! त्वं किं विषण्णः किं खेदं प्राप्तः, क्व सति, विषाणे दन्ते दैत्येन महिषेण दर्पात् रोषात् भग्ने सति, किंविशिष्टेन दैत्येन, महिषितवपुषा, एकोऽहं अद्यैव द्विगुणतरं भूषां दातुं लग्नः प्रवृत्तः ॥६७॥

सं.व्या.-६७. भूषामिति ॥ गुहः कार्तिकेयो वो युष्मान् पातु रक्षतु, किं कुर्वन् न्यस्यन् निक्षिपन्, आस्ये मुखे द्वे विषाणे उभे शृङ्गे द्वेषिणः शत्रोः संबंधिनी, किंभूते स्मित-(सित)-रुचिनी स्मितेन सिता शुक्ला रुचिर्ययोस्ते तथोक्ते, कस्यास्ये कुञ्जरेन्द्राननस्य, कुञ्जरेन्द्रस्येव आननं यस्येति विग्रहः, किं कृत्वा विषाणे न्यस्यन्

इत्युक्त्वा एवमभिधाय, क्व मातुर्महिषवधमहे जनन्या महिषवधमहोत्सवे, कथमभिधाय तदुच्यते, भूषां भूयस्तवेत्यादि, कुञ्जरानन ! तवैको (तवैकस्मिन्) विषाणः (विषाणे) तत्र दैत्येन महिषितवपुषा महिषाकृतिशरीरेण दर्पात् भग्ने सति किं विषण्णो विद्राणः, भूयः पुनस्तवाद्य अधुना शोभां भूषां द्विगुणतरं तथा भवत्येवमेषोऽहं दातुमेव लग्न इति ।। ६७ ।।

विश्राम्यन्ति श्रमार्ता इव तपनभृतः सप्तयः सप्त यस्मिन्
सुप्ताः सप्ताऽपि लोकाः स्थितिमुषि महिषे यामिनीधाम्नि यत्र ।
धाराणां रौधिरीणामरुणिमरभसा[1] सान्द्रसन्ध्यां दधान-
स्तस्य ध्वंसात्सुताद्रेरपरदिनपतिः पातु वः पादपातैः ।।६८।।

कुं.वृ.–अद्रेः सुता वः पातु, किंविशिष्टा अपरदिनपतिः, दिनपतिरेव दिनपतिः अपरश्चासौ दिनपतिश्च अपरदिनपतिः, किंविशिष्टा पादपातैश्चरणप्रहारैस्तस्य महिषस्य ध्वंसात् सान्द्रसन्ध्यां दधाना, सन्धौ भवा सन्ध्या सान्द्रा चासौ सन्ध्या च सान्द्रसन्ध्या तां, महिषप्रादुर्भावरात्रिस्तद्विनाशं प्राप्य प्रकाशदिनलक्षणां, केन रौधिरीणां धाराणां अरुणिमरभसा रुधिरस्य इमा रौधिर्यः तासां, अरुणस्य भावः अरुणिमा तस्य रभसा यस्मिन् महिषे सप्त सप्तयः सप्त सूर्याश्वाः विश्राम्यन्ति रविमार्गविरोधात् चलितुं न शक्नुवन्ति, किंभूताः तपनं सूर्यं बिभ्रतीति तपनभृतस्तस्य, उत्प्रेक्ष्यन्ते,श्रमार्ता इव खेदं प्राप्ता इव; अन्यच्च,यत्र सप्ताऽपि लोकाः सुप्ता इव तद्व्यापारहरणात्, किंविशिष्टे महिषे स्थितिं मुष्णातीति स्थितिमुट् तस्मिन् स्थितिमुषि, सूर्यादीनां स्वस्वाधिकारस्थितिः, पुनः किंभूते यामिन्या धामेव धाम यस्य स यामिनीधामा तस्मिन् यामिनीधाम्नि, दिनपतिरपि पादपातैः किरणप्रसारैः यामिनीं विध्वस्य अरुणां सान्द्रसन्ध्यां विदधाति, यत्र यामिन्यां सूर्य्यवाहा विश्राम्यन्ति यामिन्यपि स्थितिमुट् इति लोकव्यापारहारिणी भवति ।

सं.व्या.-६८. विश्राम्यन्तीति ।। अपरश्चासौ दिनपतिश्च अपरोऽर्कः, अद्रेः सुता पर्वतपुत्री वो युष्मान् पातु रक्षतु, किं कुर्वन् अपरदिनपतिः दधानो धारयन् नभः-सान्द्रसंध्यां सान्द्रा घना चासौ संध्या च सान्द्रसन्ध्या नभसि सान्द्रा संध्या सान्द्रसंध्यानभः सान्द्रसन्ध्यानां क्व सति, रौधिरीणां धाराणां अरुणिमनि अरुणे सति, कुतो रौधिरीणां धाराणां इति तस्य यामिनीधाम्नो महिषस्य ध्वंसात्, कैः पादपातैः चरणपातैः अन्यत्र किरणपातैः, रात्रिविध्वंसात्, यामिनी रात्रिस्तस्या इव

१. ज. का. रौधिरीणामरुणिमनि नभः ।

धाम तेजो यस्य स यामिनीधामा कृष्णप्रभ इत्यर्थः, यस्मिन् यमिनीधाम्नि महिषे प्रांशुत्वात् सप्तयोऽश्वाः सप्त तपनभृतः आदित्यस्य श्रमार्त्ता इव विश्राम्यन्ति खेदं मुञ्चन्ति, रात्रौ किन्न भानोरश्वाः विश्राम्यन्तीति भावः, यत्र महिषे रजनीतेजसि स्थितिमुषि अवस्थितिहानौ सप्तापि लोकाः सुप्ताः शयिताः निर्व्यापारीभूता इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

देवारेर्दानवारे[1] द्रुतमिह महिषच्छद्मनः पद्मसद्मा
विद्रातीत्यत्र चित्रं तव किमिति भवन्नाभिजातो यतः सः ।
नाभीतो[2]ऽभूत्स्वयम्भूरपि[3] समरभुवि त्वं तु यद्विस्मिताऽस्मी[4]-
त्युक्त्वा[5] तद्विस्मितं वः स्मररिपुमहिषीविक्रमेऽव्याज्जयायाः[6] ॥६९

कु.वृ.–जयायाः विस्मितं विस्मयोऽव्यात्, क्व स्मररिपुमहिषीविक्रमे स्मररिपोर्महेश्वरस्य महिषी तस्या विक्रमस्तत्र विक्रमे, किं कृत्वा इति उक्त्वा इति अभिधाय, इतीति किं, हे दानवारे ! विष्णो ! यत् पद्मसद्मा इह सङ्ग्रामे द्रुतं शीघ्रं महिषच्छद्मनो मायामहिषात् देवारेः सकाशात् विद्राति पलायते इ [37a]त्यत्र तव किमिव चित्रं अपि तु न किमपि, यतः स पद्मसद्मा भवन्नाभिजातः भवतो नाभिर्भवन्नाभिस्तस्या जातो भवन्नाभिजातः, अत्रायमभिसन्धिः, दानवानां अरिर्विष्णुस्तन्नाभिजातत्वात् ब्रह्मणो देवारेः सकाशाद्भयं भवत्येव, हे विष्णो ! अत्राहं विस्मिताऽस्मि यतो न केवलं स्वयम्भूर्ब्रह्मा नाभीतोऽभूत् नु पुनः समरभुवि त्वमपि स्वयम्भूरपि नाभीतो भूः, अत्र नाभीशब्दश्छलास्पदं, ब्रह्मपक्षे नाभीतो नाभिसकाशात्, पञ्चम्यास्तस्य तसिलिति तसुप्प्रत्ययान्तं, विष्णुपक्षे न भीतोऽभीतः न अभीतः किन्तु भीत इत्यर्थः, महिषवदिति यावत्, द्वौ नञौ प्रकृतमेवार्थं गमयतः ॥६९॥

सं.व्या.–६९. देवारेरिति ॥ जयया गौरीप्रतीहार्या यद्विस्मितं स विस्मयः वो युष्मान् अव्यात् पातु, क्व विस्मितं स्मररिपुर्महिषीविक्रमे स्मररिपोर्या महिषी

---

१. का. दानवारेः
२. का. नो भीतो ।
३. का. स्वयंभूरिव ।
४-५. का. विस्मितास्मींस्त्यक्त्वा ।; विस्मितासीत्युक्त्वा चेति पाठान्तरं पादटिप्पणे टङ्कितम् ।
६. 'जया वः' इति का. प्रतौ टिप्पणे ।

भार्या तस्याः विक्रमे अतिशयोक्तौ, किं कृत्वा विस्मितं, इत्युक्त्वा एवमभिधाय, कथं तदुच्यते देवारेरित्यादि, हे भगवन् हे शङ्कर असौ पद्मसद्मा देवारेर्देवशत्रोः महिषस्य महिषछद्मनः मायामहिषात् द्रुतं क्षिप्रं इह विद्राति पलायति(ते) ग्लायति अत्र तव किं चित्रं आश्चर्यं अपि तु न किमपि, भवन्नाभिजातो यतः सः, हे भगवन् शङ्कर इत्यध्याहार्यं, साहचर्यात् नाभेर्जातो नाभिजातो यस्मात् स, कस्य नाभिजातो दानवारेर्विष्णोस्तस्य दानवारेर्नाभिजातस्य शत्रुभावत्वात्तदरेर्भयमुपपद्यते एव इति भावः, न केवलं ब्रह्मणो भीतो नान्यात् सकाशात् भूतः स्वयंभूरिव त्वं पुनर्यत् यस्मात् समरभुवि नाभिभूः, अतो विस्मिताऽहं, अत्र पक्षेऽतीतेऽपि तु भीत इति द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमर्थं गमयतः अत्राद्यमिति शब्दद्वयं उभयवाक्यसमाप्तौ द्रष्टव्यं तृतीयस्त्वेवमर्थमिति ॥ ६९ ॥

*चक्षुर्दिक्षु क्षिपन्त्याश्चलितकमलिनीचारुकोशाभिताम्रं
मन्द्रध्वानानुयातं झटिति वलयिनो मुक्तबाणस्य पाणेः ।
चण्ड्याः सव्यापसव्यं सुररिपुषु शरान्प्रेरयन्त्या जयन्ति
त्र्युटयन्तः पीनभागे स्तनचलनभरात्[1] सन्धयः कञ्चुकस्य ॥७०॥

कुं.वृ.–चण्ड्याः कञ्चुकस्य सन्धयो जयन्ति, स्तनचलनभरात् स्तनयोश्चलनं स्तनचलनं तस्मात् भरो गुरुत्वं तस्मात् पीनश्चासौ भागश्च पीनभागस्तस्मिन् पीनभागे उपरितनभागे त्रुटचन्तः, किंविशिष्टायाः चण्ड्याः, सुररिपुषु देवशत्रुषु शरान् प्रेरयन्त्याः क्षिपन्त्याः, कथं यथा भवति सव्यं च अपसव्यं च सव्यापसव्यं तद्यथा भवति तथा, क्रियाविशेषणानां एकवद्भावो नपुंसकत्वं च, पुनः किं कुर्वन्त्या दिक्षु चक्षुः क्षिपन्त्याः, किंभूतं चक्षुः चारुश्चासौ कोशश्च चारुकोशः, कमलिन्याश्चारुकोशः कमलिनीचारुकोशः, चलितश्चासौ कमलिनीचारुकोशश्च चलितकमलिनीचारुकोशः तद्वदाताम्रं, कथं शरान् क्षिपन्त्या, पाणेर्मन्द्रध्वानानुयातं यथा भवति तथा, मन्द्रध्वानानुगतं यथा भवति तथेत्यर्थः, किंभूतस्य पाणेः, झटिति मुक्तबाणस्य शीघ्रं मुक्तशरस्य, पुनः किंभूतस्य, वलयानि विद्यन्ते यस्मिन्निति वलयी तस्य वलयिनः ॥७०॥

---

*जयपुरसंग्रहस्थायां प्रतौ श्लोकोऽयं व्युत्क्रमेण ७१ संख्यायां लिखितः, काव्यमाला-प्रतावपि संख्याऽस्य ७१ एव ।

१. ज. का. स्तनवलनभरात् ।

सं.व्या.–७०. चक्षुरिति ।। चण्डचाः चण्डिकायाः सन्धयः पीनश्चासौ भागश्च पीनभागः तस्मिन् पीनभागे उपचितविभागे त्रुटचन्तो जयन्ति, कस्मात् हेतोः त्रुटचन्तः, स्तनयोर्वलनं तस्य भरः स्तनवलनभरः तस्मात्, किं कुर्वंत्याः चण्डचाः, चक्षुर्नयनं द्विक्षु आशासु क्षिपन्त्याः, सुररिपुषु महिषपक्षेषु शरान् बाणान् प्रेरयन्त्याः प्रेषयन्त्याः, सव्यापसव्यं दक्षिणापसव्यं वा सव्यं चापसव्यं च सव्यापसव्य-मिति कृत्वैकभावो द्वन्द्वः, सव्यापसव्यं यथा भवत्येव शरान् मुञ्चन्त्याः, किंविशिष्टं चक्षुः चलितकमलिनीचारुकोशाभिताम्रं कमलिनी पद्मिनी तस्याः कोशः पद्ममध्य-भागः, चलितासौ कमलिनी च चारु स चासौ कोशश्च चारुकोशः (तद्वत् ताम्रं रक्तं) चलितकमलिनीचारुकोशाभिताम्रं, कथं शरान् क्षिपन्त्याः मन्द्रध्वानानुयातं मन्द्रश्चासौ ध्वानश्च मन्द्रध्वानः तेन मन्द्रध्वानेन अनुयातं, अन्वितं तद्यथा भवत्येवं प्रेरयन्त्याः, कस्य मन्द्रध्वानानुयातं पाणेस्तस्य किंविधस्य वलयिनः वलया विद्यन्तेऽस्येति तद्धित इति, पुनरपि किंविशिष्टस्य मुक्तबाणस्य, मुक्ता बाणा येन इति विग्रहः, कथं मुक्तबाणस्येति क्षिप्रं अत एव देवी वलयहस्ता शीघ्रमुक्त-बाणस्य अत एव तदीयमन्द्रध्वनिनानुयातः शरान् प्रेरयन्तीत्युक्तम् ।। ७० ।।

निस्त्रिंशे नोचितं ते विशसनमुरसश्चण्डि कर्मास्य घोरं
व्रीडामस्योपरि त्वं कुरु दृढहृदये ![1] मुञ्च शस्त्राण्यमूनि ।
इत्थं दैत्यैः सदैन्यं समदमपि सुरैस्तुल्यमेवोच्यमाना
रुद्राणी दारुणं वो द्रवयतु दुरितं दानवं दारयन्ती ॥७१॥

कं.वृ.–रुद्राणी रुद्रपत्नी वो युष्माकं दुरितं पापं द्रवयतु अपनयतु, किंविशिष्टा दारुणं रौद्रं दानवं दारयन्ती, किंविशिष्टा दैत्यैः सुरैश्च इत्थं अनेन प्रकारेण सदैन्यं समदमपि तुल्यं उच्यमाना, तुल्यमिति भिन्नार्थत्वेऽपि समानाक्षरं, दैत्यैः सदैन्यं देवैः समदमिति विवेकः, इत्थं इति किं, दैत्यपक्षे, हे निर्स्त्रिंशे ! हे निर्दये ! चण्डि ! कोपने ! अस्य पशुमात्रस्य मारणे तव लज्जा न, अमूनि शस्त्राणि मुञ्च त्यज, अथ देवपक्षे, हे चण्डि ! अस्य उरसः विशसनं विदारणं निर्स्त्रिंशेन खड्गेन उचितं यतः अस्य कर्म्म लोकविध्वंसनादिकं घोरं भयङ्करं, हे दृढहृदये ! अस्य महिषस्योपरि त्वं व्रीडां लज्जां त्यज, परं व्री [37b] डां प्रेरणां त्वरां कुरु विधेहि, एनं प्रति अमूनि सर्व्वाणि शस्त्राणि मुञ्च क्षिप, अयं सर्व्वासिना (सर्वात्मना ?) वध्य एव, (अतः) प्रमादं मा कार्षीः ॥७१॥*

---

१. का. दृढहृदयमिति पादे ।

*श्लोकस्यास्य व्याख्या प्रतौ नोपलब्धा तदस्माभिरेवमनुपूर्यते — रुद्राणी रुद्रपत्नी वः

बाहूत्क्षेपसमुच्छ्वसत्कुचतटप्रान्तस्फुटत्कञ्चुकं[1]
गम्भीरोदरनाभिमण्डलगलत्काञ्चीधृतार्द्धांशुकम् ।
रुद्राण्या[2] महिषासुरव्यतिकरव्यायामरम्यं[3] वपुः
पर्यस्तावधि[बन्ध]बन्धुरलसत्केशोच्चयं पातु वः ॥७२॥

कुं.वृ.–रुद्राण्याः वपुर्वो युष्माकं पातु, किंभूतं महिषासुरेण व्यतिकरः संग्रामस्तत्र व्यायामः प्रयासस्तेन रम्यं मनोहरं, किंभूतं वपुः, बाह्वोरुत्क्षेपस्तेन समुच्छ्वसन् उल्लसत् यत् कुचतटं तस्य प्रान्ते स्फुटन् त्रुटचन् कञ्चुको यत्र तत्, पुनः किंभूतं गम्भीरोदरनाभिमण्डलगलत्काञ्चीधृतार्द्धांशुकं गम्भीरोदरं गम्भीरमध्यं यत् नाभिमण्डलं तस्मात् गलत् काञ्च्या धृतं काञ्चीधृतं च तत् अर्द्धांशुकं च, गम्भीरोदरनाभिमण्डलगलच्च तत् काञ्चीधृतार्द्धांशुकं यत्र तत्; अन्यच्च, पर्यस्तः अवधिर्येन सः पर्यस्तावधिः, बन्धबन्धुरश्चासौ लसच्चासौ केशोच्चयश्च बन्धबन्धुरलसत्केशपाशश्च पर्यस्तावधिबन्धबन्धुरलसत्केशोच्चयो यत्र तत् ॥७२॥

सं.व्या.–७२. बाह्वोत्क्षेपेति ॥ रुद्राण्याः गौर्याः सम्बन्धि वपुः वो युष्मान् पातु रक्षतु, किंविशिष्टं महिषासुरव्यतिकरव्यायामरम्यं महिषासुरस्य, व्यतिकरो युद्धद्वारे-

---

युष्माकं दारुणं घोरं दुरितं पापं द्रवयतु नाशयतु, किंविशिष्टा रुद्राणी, दानवं महिषाख्यमसुरं दारयन्ती व्यापादयन्ती, पुनः किंविशिष्टा रुद्राणी, दैत्यैः सुरैश्च तुल्यमेवोच्यमाना, सुरैः देवैः दैत्यैरसुरैस्तुल्यं युगपद् एवं उच्यमाना सम्बोधिता तदाह, हे निस्त्रिंशे अकरुणे ! उरसः अस्य महिषस्य विशसनं व्यापादनं नोचितं, हे चण्डि ! कोपने ! महिषवधरूपं घोरं भीषणं कर्म अस्य क्षिप, अस्योपरि त्वं व्रीडां त्रपां लज्जां कुरु, पशुवधः लज्जाजनकः, दृढं हृदयं यस्मिन् कर्मणि तत् तथा कुरु, अमून्येतानि शस्त्राण्यायुधानि मुञ्च परिहर, एवं दैत्यैरुच्यमाना; देवैस्तु हे चण्डि ! निस्त्रिंशेन खड्गेन उरसः महिषासुरस्य वक्षसः ते विशसनं विदारणं उचितं भविष्यति, यतः यस्मात् कारणात् अस्य कर्म कृत्यं घोरं दारुणं अस्ति, अस्योपरि त्वं व्रीडां मा कुरु, यदि त्वं अस्य वधं न करोषि तव कृते लज्जास्पदं एतत् कर्म भविष्यतीति भावः, अपि च, दृढहृदयं कुरु अपगतकरुणा भूत्वा दानवं जहि, अस्योपरि एतानि शस्त्राणि मुञ्च प्रहर, सर्वैः शस्त्रैः एकवारमेव प्रहरेति भावः; एवं दैत्यैः समदं सगर्वं सदैन्यं सार्जवं तु देवैः तुल्यं सदृशं उच्यमाना रुद्राणी वः दारुणं दुरितं द्रवयत्विति सम्बन्धः ॥ ७१ ॥

१. ज. बाह्योत्क्षेपसमुच्छ्वसत्कुचतटप्रान्तस्फुटत्कञ्चुकं; का. बाहूत्क्षेपसमुल्लसत्कुचतट प्रान्तस्फुटत्कञ्चुकं ।

२. का. पार्वत्या । ३. का. महिषासुरव्यतिकरे व्यायामरम्यं; शृंगाररम्यमिति टिप्पणे; व्याघातरम्यमिति प्रती ।

णामीलनं तत्र व्यायाम आयासस्तेन रम्यं रमणीयं, कथं रमणीयमित्यभिप्रायेण बहुशो विशिनष्टि, बाह्योत्क्षेपसमुच्छ्वसत्कुचतटप्रान्तस्फुटत्कञ्चुकं बहिर्भावो बाह्यउत्क्षेप ऊद्‌र्ध्वप्रेरणं बाह्यश्चासावुत्क्षेपश्च बाह्योत्क्षेपस्तेन समुच्छ्वसन् उल्लसन् स चासौ कुचतटश्च [त]स्य प्रान्तः पर्यन्तस्तेन स्फुटन् कञ्चुको यस्मिन् वपुषि तत् तथोक्तं, उदरं च नाभिमण्डलं च उदरनाभिमण्डलं गम्भीरं च तत् उदरनाभिमण्डलं च गम्भीरोदरनाभिमण्डलं तेन गलन्तो लसन्ती सा चासौ काञ्ची च तया धृतं अर्द्धं अंशुकं यस्मिन् वपुषि तत् गम्भीरोदरनाभिमण्डलगलत्काञ्चीधृतार्धांशुकं, पर्यस्तावधिबन्धबन्धुरलसत्केशोच्चयं, पर्यस्तो अवधिर्येन सः पर्यस्तावधिस्त्यक्तमर्यादः स चासौ बन्धश्च पर्यस्तावधिबन्धस्तेन बन्धुरः ईशदानतो लसत् ध्वंसमानः केशोच्चयः केशपाशो यस्मिन् वपुषि तत् तथोक्तम् ।। ७२ ।।

चक्रं चक्रायुधस्य क्वणति निपतितं रोमणि ग्रावणीव[1]
स्थाणोर्बाणश्च लेभे प्रतिहतिमुरुणा चर्म्मणा वर्म्मणेव ।
यस्येति क्रोधगर्भं हसितहरिहरा तस्य गीर्वाणशत्रोः
पायात्पादेन मृत्युं महिषतनुभृतः कुर्वती[2] पार्व्वती वः ।।७३।।

कुं.वृ.–पार्वती वः पायात्, किं कुर्व्वती तस्य गीर्वाणशत्रोः पादेन मृत्युं कुर्व्वती, कथं क्रोधगर्भं यथा भवति तथा, कथंभूता हसितहरिहरा हसितौ विडम्बितौ हरिहरौ यया, तस्य कस्य चक्रायुधस्य चक्रं यस्य रोमणि पतितं सत् क्वणति क्वणत् क्वणत् इति शब्दं करोति, कस्मिन्निव, ग्रावणि पतितं सत् इव, अवकाशं न लभते, च पुनः स्थाणोर्बाणः शरः यस्य चर्म्मणा प्रतिहतिं लेभे प्रतिघातं प्राप, केनेव चर्मणेव, किंविशिष्टेन चर्म्मणा, उरुणा विशालेन, किंविशिष्टस्य दैत्यस्य महिषितवपुषः ।।७३।।

सं.व्या.-७३. चक्रं चक्रायुधस्येति ।। महिषस्य तनुर्महिषतनुस्तां बिभ्रतीति महिषतनुभृत् तस्य महिषतनुभृतो गीर्वाणशत्रोः देवारेः पादेन मृत्युं मरणं कुर्वती विदधती पार्वती पर्वतपुत्री वो युष्मान् पायात् रक्षतु, किंविशिष्टा पार्वती, हसितहरिहरा,हसितौ हरिहरौ ययेति विग्रहः, कथं(हसित)हरिहरा इत्येवं क्रोधगर्भं क्रोधो गर्भो भवति यस्मिन् हसिते तत् क्रोधगर्भमिति क्रियाविशेषणं तदेव हास्यं हरिहरयोः क्रमेण प्रतिपादयन्निदमाह, चक्रं चक्रायुधस्येत्यादि, यस्यां महिषतनौ ग्रावणीव च

१. ग्रामणीवेति प्रतौ ।

२. गुर्वतीति प्रतौ ।

यथा पाषाणे निपतितं चक्रं रथाङ्गं चक्रायुधस्य हरेः क्वणति शब्दायते रोमाणि नाच्छिनत्तीत्यभिप्रायः, स्थाणोः शङ्करस्य बाणश्च लेभे लब्धवान् प्रतिघातं यस्य चर्मणा अजिनेन तत्, उरुणा विस्तीर्णेन चर्मणेत्र संनाहेनेव यथा वर्मणा बाणाः प्रतिहन्यन्ते न यथास्य चर्मणापीत्यर्थः ।। ७३ ।।

कृत्वा वक्त्रेन्दुबिम्बं चलदलकलसद्भ्रूलताचापभङ्गं
क्षोभव्यालोलतारं[1] स्फुरदरुणरुचिस्फारपर्यन्तचक्षुः ।
सन्ध्यासेवापराधं[2] भवमिव पुरतो वामपादाम्बुजेन
क्षिप्रं दैत्यं क्षिपन्ती महिषितवपुषं पार्व्वती वः पुनातु ।।७४।।

कुं.वृ.–पार्व्वती वः पुनातु पवित्रीकरोतु, किं कुर्व्वती, पादाम्बुजेन पुरतोऽग्रतः दैत्यं क्षिपन्ती, कथंभूतं महिषितवपुषं, कमिव भवमिव, किंभूतं भवं, सन्ध्यासेवापराधं सन्ध्यासेवैव अपराधो यस्य स तं, यथा सापराधं भवं पादाम्बुजेन क्षिपति, किं कृत्वा, वक्त्रेन्दुबिम्बं एवंविधं कृत्वा, एवंविधं किमित्याह, किंविशिष्टं चलदलकलसत् चलदलकैः सकाशात्, पुनः किंभूतं, भ्रूरेव लता सैव चापं भ्रूलताचापं तस्य भङ्गो यत्र तत्; अन्यच्च, क्षोभेण महिषव्यतिकरेण व्यालोले चञ्चले तारे कनीनिके यत्र तत्; अन्यच्च, स्फुरन्ती अरुणा आरक्ता रुचिर्यस्य तत्, किंविशिष्टं, स्फारपर्यन्ते चक्षुषी यत्र(38a) तत्, भव क्षिपन्ती अपि वक्त्रेन्दुबिम्बं ईर्ष्यया एवंविधं करोति, इन्दोरपि एतद्धर्म्मसादृश्यादुपमानम् ।।७४।।

सं. व्या.–७४. कृत्वेति ।। पार्वती पर्वतपुत्री वः युष्मान् पुनातु पवित्रीकरोतु, किं कुर्वती महिषितं वपुर्येन स महिषितवपुस्तं दैत्यं दितिजं क्षिप्रं शीघ्रं क्षिपन्ती प्रेरयन्ती, पुरतो अग्रतः, केन वामपादाम्बुजेन वामश्चासौ पादश्च वामपादः वामपाद एव अम्बुजं वामपादाम्बुजं तेन, कमिव यथा भवं शङ्करं वामचरणकमलेन क्षिपन्त्येवं महिषं क्षिपन्ती, किंविशिष्टं भवं संध्यासेवापराद्धं, सन्ध्यायाः सेवा सन्ध्यासेवा तयाऽपराद्धं कृतापराधं, वक्त्रमेव इन्दुबिम्बं, भ्रूलते एव चापे भ्रूलताचापे तयोर्भङ्गो भ्रूलताचापभङ्गः, चलदलकेषु लसद् भ्रूलताचापभङ्गो यत्र तच्चलदलकलसद्भ्रूलताचापभङ्गं वक्त्रेन्दुबिम्बं वदनचन्द्रमण्डलं कृत्वा विधाय क्षिपन्ती; पुनरपि किंविशिष्टं, क्षोभव्यालोलतारस्फुरदरुणरुचिस्फारपर्यन्तचक्षुः, क्षोभेण व्यालोले चञ्चले तारके यत्र तत् तथोक्तं, स्फुरिता अरुणा आरक्ता रुचिः कान्तिर्ययोश्चक्षुषोस्ताभ्यां स्फुरदरुणरुचिनी स्फारपर्यन्ते चक्षुषी यस्येति विग्रहः ।। ७४ ।।

---

१. का. कोपाद्व्यालोलतारमिति पादटिप्पणे । २. ज. का. सन्ध्यासेवापाराद्धं ।

गङ्गासम्पर्कदुष्यत्कमलवनसमुद्भूतधूलीविचित्रो[1]
वाञ्छासम्पूर्णभावादधिकतररसं तूर्णमायान् समीपम्।
क्षिप्तः पादेन दूरं वृषग इव यथा वामपादाभिलाषी
देवारिः कैतवाऽऽविष्कृतमहिषवपुः साऽवतादम्बिका वः ॥७५॥

कुं.वृ.–सा अम्बि(का) जगदम्बिका वो युष्मान् अवतात्, सा का, यया देवारिर्देववैरी पादेन दूरं क्षिप्तः, क इव वृषग इव हर इव, किंभूतो देवारिः कैतवेन आविष्कृतं प्रकटीकृतं महिषवपुर्येन स तथा, कथं यथा भवति, अधिकतररसं यथा भवति तथा, अधिकतरस्वेच्छं यथा भवति, किं कुर्व्वन्, तूर्णं वेगेन समीपं आयान् सविधमागच्छन्, कस्मात् वाञ्छासम्पूर्णभावात् वाञ्छासम्पूर्णतया; किंविशिष्टो महिषः, गङ्गासम्पर्क्केण अवगाहनेन दुष्यत् विकृतिं गच्छत् यत् कमलवनं तस्मात् समुद्भूतो यो धूलिः परागस्तेन विचित्रः कर्बुरः; हरपक्षे, गङ्गासङ्गविलुलितः कमलवनधूलिधूसरः, इदमेव कोप कारणं; महिषपक्षे, वाञ्छाया असम्पूर्णभावात् इति योज्यं; किंविशिष्टः महिषः, वामपादाभिलाषी वामश्चासौ पादः तत्र अभिलाषी च वामपादाभिलाषी पादाकर्षणाभिलाषी, अथवा वामपादात् मृत्युं अभिलषतीति कृत्वा; ईश्वरपक्षे, प्रसादयितुं वामेन वक्रेण पादाभिलाषी वामग्रहणं मूर्ध्नं उपलक्षणं, स्त्रैणे कर्म्मणि तस्य वक्रस्य प्राधान्यात्, अथवा स्त्रिया वामपादप्राधान्यात् वामपादाभिलाषीति ॥७५॥

सं. व्या.–७५. गङ्गेति ॥ सा अम्बिका गौरी वो युष्मान् अवतात् रक्षतु, यया देवारिर्दूरं वृषग इव पादेनाङ्घ्रिणा क्षिप्तः प्रेरितः; किंविशिष्टो देवारिः, कैतवाविष्कृतमहिषवपुः, कैतवेन शाठ्येन आविष्कृतं प्रकटीकृतं महिषवपुर्येन सः तं तथोक्तं, किंभूतो हरो महिषश्च, वामपादाभिलाषी वामश्चासौ पादश्च वामपादस्तमभिलषितुं शीलमस्य एवं वामपादाभिलाषी, प्रसादयितुं अपकर्तुं लगितकाम इत्यर्थः, यो भवो महिषश्च किमकरोत्, तूर्णं क्षिप्रं आदायागतः समीपमन्तिकं, कुतो वाञ्छासंपूर्णभावात् इच्छायाः परिपूर्णत्वात्, कथं आर्या[भावा]धिकतररसं अधिकतररसः शृङ्गारादिकोपावेगाद्यथा भवत्येवं, कथंभूतः शम्भुर्महिषश्च आयान् गङ्गासम्पर्कदुष्यत् कमलवनसमुद्भूतधूलीविचित्रः, कमलानां वनं कमलवनं कमलवनसंपर्केण संयोगेन दुष्यत् विकृतिं गच्छत् संपर्काद्दुष्यत् तच्च तत् कमलवनं च सम्पर्कदुष्यत्कमलवनं गङ्गायाः सम्पर्कदुष्यत् कमलवनं तेन समुद्भूता समुत्क्षिप्ता सा चासौ धूली च तया विचित्रः कर्बुरः ॥ ७५ ॥

१. का. समुद्धूतधूलीविचित्रो।

भद्रे भ्रूचापमेतच्छमय मम रुषा[1] विस्फुरन्नेत्रबाणं
नाहं केलौ रहस्ये प्रतियुवतिकृताऽऽख्यातिदोषः पिनाकी।
देवी सोत्प्रासमेवं धृतमहिषतनुं[2] दृप्तमन्तःसकोपं[3]
देवारिं पातु युष्मानतिपरुषपदा निघ्नती भद्रकाली ॥७६॥

कुं.वृ.–भद्रकाली युष्मान् पातु, किं कुर्व्वती, देवारिं निघ्नती, किंभूतं धृतमहिषतनुं, पुनः किंविशिष्टं दृप्तं गर्विष्ठं; अन्यच्च, अन्तः सकोपं अभ्यन्तरसक्रोधं, किंविशिष्टा देवी अतिपरुषपदा अतीवकठोरपदा, किंविशिष्टं महिषं, एवं देवीसोत्प्रासं देव्यां सोत्प्रासं सोपहासं, एवमिति किं, हे भद्रे ! एतद्भ्रूचापं शमय शान्ति नय, कथंभूतं भ्रूचापं, मम मत्सम्बन्धिन्या रुषा कोपेन विस्फुरन्नेत्रमेव बाणो यस्मिन् तत्, यतोऽहं पिनाकी न, किंभूतः पिनाकी रहस्ये केलौ एकान्ते क्रीडायां प्रतियुवतिकृताख्यातिदोषः, प्रतियुवतेः कृता या आख्यातिः आख्यानं नामग्रहणं स एव दोषो यत्र स तथोक्तः ॥७६॥

सं० व्या०–७६. भद्रे भ्रूचापमिति ।। महिषस्य तनुर्महिषतनुर्धृता येन स तथोक्तः तं धतृमहिषतनुं सुरारातिं निघ्नती व्यापादयन्ती भद्रकाली वो युष्मान् पातु रक्षतु, किंभूता अतिपरुष(पदा) अतीवपरुषं निष्ठुरं पदं यस्याः सा तथोक्ता, किंविशिष्टं सुरारातिं, एवमित्थं सोत्प्रासं सोपहासं दृप्तं दर्प्पिष्ठं अतः सकोपं अभ्यन्तरे सक्रोधं, कथं सोत्प्रासमिति तदुच्यते, भद्रे ! भ्रूचापमित्यादि, भ्रूरेव चापं नेत्रमेव बाणं, भद्रे कल्याणि ! उपशमय उपसंहर बाणं, नाहं पिनाकी शङ्करः, कीदृशो यः प्रतियुवतिकृताख्यातिदोषः, प्रतियुवतेः कृता ख्यातिः कीर्तिः सैव दोषो यस्य स प्रतियुवतिकृताख्यातिदोषः कृतगोत्रस्खलन इत्यर्थः, क्व रहस्ये केलौ एकान्ते, भावे भावः परिहासस्तस्मात् भ्रूचापमिदं शमयेति संबन्धः ॥७६॥

अन्योन्याऽऽसङ्गगाढव्यतिकरदलितभ्रष्टकापालमालां[4]
स्वां भोः संत्यज्य[5] शम्भोः[6] खुरपुटदलितप्रोल्लसद्धूलिपाण्डुः।
भद्रे ! क्रीडाभिमर्दी[7] तव सविधमहं कामतः प्राप्त ईशो-
ऽत्रैवं सोत्प्रासमव्यान्महिषसुररिपुं निघ्नती पार्व्वती वः ॥७७॥

---

१. का. भ्रूचापमेतन्नमयसि तु वृथा; शमयसि तु रुषा, शमय मम चेति पाठान्तरद्वयमपि सूचितम्। ज. शमयसि तु रुषा। २. का. टिप्पणे, महिषितवपुषं।
३. ज. सकोपात्। ४. का. टि. ०कापालमालं। ५. का. टि. स्वाङ्गं विन्यस्य।
६. का. शम्भो। ७. का. क्रीडाभिमर्दी।

कुं.वृ.–पार्व्वती वो युष्मान् अव्यात् किं कुर्व्वती महिषसुररिपुं निघ्नती, कथंभूतं एवं सोत्प्रासं सोल्लुण्ठं सावलेपमिति यावत्, एवमिति किं, हे भद्रे ! कल्याणि ! अहं अत्र तव सविधं भवत्याः समीपं प्राप्तः, कुतः कामतः अभिलाषात्, यतः कारणात् अहं ईशः समर्थः, यो हि ईशो भवति स कामतो भवत्याः समीपमागच्छति, कुतः प्राप्तः, शम्भोः सकाशात् अयमर्थः, शम्भुना सह युद्धं कृत्वा त्वत्समीपमागत इत्यर्थः, किं कृत्वा, भो देवि ! स्वां स्वकीयां अन्योन्याऽऽसङ्गगाढव्यतिकरदलितभ्रष्टकापालमालां संत्यज्य त्यक्त्वा, अन्योन्यस्य परस्परस्य आसङ्गः तत्परत्वं तेन गाढश्चासौ व्यतिकरश्च संमर्द्द इति यावत् तेन पूर्व्वं दलिता चूर्णिता पश्चात्प्रभ्रष्टा पतिता या कापालमाला तां सन्त्यज्येति सम्बन्धः, अयमर्थः, शम्भुना सह युद्धे महिषो मायावान् बहूनि शरीराणि कृतवान्, तेषां च कापालमालां संत्यज्य पुनरपि महिषरूपमास्थाय देवीसमीपमागतः, स्वाङ्गं विन्यस्य अर्थादात्मनि तत्र पक्षे कथंभूतं स्वाङ्गं, अन्योन्यव्यतिकरसञ्चूर्णितेश्वरनृकरोटिस्रगित्यर्थः, कपालानामियं कापाला सा च माला च तां, कथंभूतोऽहं क्रोडं अभिमर्द्दितुं शीलमस्येति क्रोडाभिमर्द्दी, पुनः किंभूतः, खुरपुटदलितप्रोल्लसद्धूलिपाण्डुः, खुराणां पुटैर्दलिता सती उल्लसन्ती ऊर्ध्वं गच्छन्ती या धूलिः तया पाण्डुर्धवलः, ईशोऽपि भस्मधवलो भवतीति उपमाऽलङ्कारः ॥७७॥

सं० व्या०–७७. अन्योऽन्येति ॥ भ्रष्टा स्रस्ता सा चासौ माला तां संत्यज्येति संबन्धः, अयमर्थः, ब्रह्मणा सह गाढयुद्धे महिषो मायया बहूनि शरीराणि कृतवान् तेषां च कापालमालां संत्यज्य पुनरपि महिषो देवीसमीपं युद्धाय संप्राप्तः शङ्करपक्षस्तु जल्पनेवेत्यलं, अन्योन्यासङ्गेत्यादि, महिषश्चासौ सुररिपुश्च तं महिषसुररिपुं निघ्नती व्यापादयन्ती पार्वती पर्वतपुत्री वो युष्मान् अव्यात् रक्षतु, किंविशिष्टं महिषं एवमित्थं सोत्प्रासं सोपहासं, सहोत्प्रासेन वर्त्तत इति विग्रहः, कथं सोत्प्रासमिति तदुच्यते, अन्योन्यासङ्गगाढेत्यादि; भद्रे कल्याणि ! अहमीशः कान्तः कामस्तव सविधं भवत्याः समीपं प्राप्तः आगतः, कथंभूतोऽहं तत्र क्रोडाभिमर्दी क्रोडो हृदयस्थानं क्रोडमभिमर्दितुं शीलमस्येति विग्रह, कुतः प्राप्तः शम्भोर्ब्रह्मणः सकाशात् ब्रह्मणा सह युद्ध्वेत्यभिप्रायः, शङ्करेणापि किल ब्रह्मणा सह युद्धं कृतं यत्र पञ्चशिरोच्छेदकलहः सवृत्तः तद्गर्दभशिरश्छिन्नमिति, किंभूतोऽहं ईशः खुरपुटदलितप्रोल्लसद्धूलिपाण्डुः, खुराणां पुटाः खुरपुटास्तैर्दलिता प्रोल्लसन्ती ऊर्ध्वं गच्छन्ती सा चासौ धूलिश्च तया पाण्डुर्धवलः, किं कृत्वा धूलिधवलोऽहमीशः प्राप्तः, स्वां स्वकीयां, भोः भवति ! संत्यज्य कापालमालां, कीदृशीं कापालमालां इत्यभिप्रायेण सविशेषणसमानं दर्शयन्निदमाह, अन्योन्यासङ्गगाढव्यतिकरदलितभ्रष्टकापालमालां, कपालानामियं कापाला सा चासौ माला च

कापालमाला तां ब्रह्मणा च सहायोन्यस्य परस्परस्यासङ्गमालिङ्गनं अन्योन्यासङ्गस्तेन गाढो दृढः स चासौ व्यतिकरश्चान्योन्यासङ्गगाढनिमीलनं तेन दलितपूर्वां पश्चात् (भ्रष्टाम्) ।।७७।।

ज्वालाधाराकरालं ध्वनितकृतभयं[1] यत्र कर्त्तुं न शक्तं[2]

चक्रं विष्णोर्दृढास्थि[3]प्रतिविहितरयं[4] दैत्यमायाविलावि[5] ।

क्षुण्णस्तस्याऽस्थिसारो विबुधरिपुविभोः[6] पादपातेन यस्या

रुद्राणी पातु सा वः प्रशमितसकलोपद्रवा[7] निर्विघातम् ।।७८।।

कुं.वृ.–सा रुद्राणी रुद्रभार्या वः पातु, किंभूता, प्रशमितः सकल उपद्रवो यया सा तथा, निर्विघातं निर्विघ्नं यथा भवति तथा, सा का, यस्याः पादपातेन तस्य विबुधरिपुविभोर्महिषस्य अस्थिसारः क्षुण्णः पिष्टः, अस्थीन्येव सारः, अथवा अस्थ्नः सारो मध्यं यत्र, विबुधरिपुविभोः विष्णोश्चक्रं कर्त्तुं छेत्तुं न शक्तः न प्रभुः, कथंभूतं चक्रं, ज्वालाभिर्विशिष्टा धाराः ताभिः करालं; अन्यच्च, ध्वनितेन कृतं भयं येन तत्; अन्यच्च, दृढाः समर्थाः अस्थयो यत्र तत्; पुनः किंभूतं, प्रतिविहितो निराकृतो रयो यस्य तत्; पुनः किंभूतं, दैत्यमायाविलावि दैत्यानां मायां विलुनातीत्येवं शीलम् ।।७८।।

सं० व्या०–७८. ज्वालेति ।। रुद्राणी रुद्रपत्नी वो युष्मान् पातु रक्षतु, किंविशिष्टा, प्रशमितसकलोपप्लवा, उपप्लव उध्वान्तः, प्रशमितः सकलोपप्लवो यया सा तथोक्ता, निर्विघातं निर्विघ्नं यथा भवत्येवं, प्रशमित इति क्रियाविशेषणं; यस्याः पादपातेन तस्य विबुधरिपुविभोर्महिषस्यास्थिसारः प्राणो जीवः क्षुण्णः पिष्टसार इति स्थितोऽथ उच्यते, तस्यास्थिशब्देन कर्मधारयः यथा खदिरसार इति; विबुधा देवास्तेषां रिपवोऽसुरा विबुधरिपूणां विभुर्विबुधरिपुविभुः यत्र विबुधरिपुविभोर्विश्णोश्चक्रं कर्त्तुं छेत्तुं न शक्तमत्र कृते विशेषश्चिन्त्यः, अथ

१. का.टि. स्वनितकृतभयं ।
२. का. यं प्रभेत्तुं न शक्तं ।
३. ज. दृढाश्रि; का. ०दृढास्रि ।
४. का.टि. सृति विहितरयं; प्रतिविहतरयं ।
५. का. दैत्यमालाविनाशि ।
६. का. विबुधरिपुपतेः ।
७. ज.का. प्रशमितसकलोपप्लवा ।

कृतप्रायं प्रयोगस्तदा किञ्चिदित्यवधार्य, कीदृशं प्रतिविहितरयं प्रतिविहितो रयः यस्य तत् तथोक्तं; पुनरपि तदेव वक्तुं बहुशो विशिनष्टि, ज्वालाधाराकरालं ज्वालाश्च धाराश्च ज्वालाधारास्ताभिः करालं, स्वनितेन कृतं भयं येन तत् तथोक्तं, दृढाश्रीः दृढाः श्रियो यस्येति विग्रहः, दैत्यमायाविलावि दैत्यानां माया दैत्यमाया तां विलावितुं शीलमस्येति दैत्यमायाविलावीति ताच्छील्ये णिनिः, अयमर्थः ज्वालाधाराकरालमित्यादिविशेषविशिष्टमपि वैष्णवं चक्रं प्रतिविहितरयस्त्वात् यत्र महिषे किञ्चित् कर्तुं न शक्तमिति ॥७८॥

गाढावष्टम्भपादप्रबल[1]भरनमत्पूर्व्वकायार्द्धभागं
दैत्यं निर्ज्ञातशिक्षं[2] जनमहिषमिव न्यक्कृताग्र्याङ्गभागम्[3] ।
आरूढा शूलपाणिः कृतविबुधभयं[4] हन्तुकामा[5] सगर्व्वं[6]
देयाद्वश्चिन्तितानि द्रुतमहिषवधावाप्ततुष्टिर्भवानी[7] ॥७९॥

कु.वृ.—भवानी भवपत्नी वो युष्मभ्यं चिन्तितानि वाञ्छितानि देयात्, किंविशिष्टा, द्रुतं शीघ्रं महिषवधेन अवाप्ता प्राप्ता तुष्टिः सन्तोषो यया सा तथोक्ता, किंभूता, महिषं दैत्यमारूढा. किमवस्था सती, शूलपाणिः शूलं पाणौ यस्याः सा, किंभूता, हन्तुकामा हन्तुं कामयते इति हन्तुकामा, हन्तुंकाममनसोरपीति म-लोपः, किंभूतं दैत्यं, सगर्व्वं; अन्यच्च, कृतविबुधभयं कृतं विबुधानां भयं येन स तं, किंभूतं, कायस्य अर्द्धभागः कायार्द्धभागः पूर्वश्चासौ कायार्द्धभागश्च पूर्वकायार्द्धभागः, गाढोऽवष्टम्भोऽवष्टम्भावधिर्यस्य स चासौ पादश्च तस्य प्रबलः बहुर्यो भरः तेन नमत्पूर्वकायार्द्धभागो यस्य स तं, कथम्भूतं तं, निर्ज्ञातशिक्षं निश्चितं ज्ञाता शिक्षा येन स तथा तं, यो हि निर्ज्ञातशिक्षो (39a) भवति स आरोहणकाले नमितपूर्वकायाऽर्द्धभागो भवत्येव अत एव न्यक्कृताग्र्याङ्गभागमिति न्यक्कृतोऽग्र्योऽग्रिमोऽग्र्याङ्गभागो यस्य स तं, कमिवारूढा जनमहिषमिव प्राकृतमहिषमिव आरोहणकाले पादपातेन साम्यमापाद्य प्राकृतमहिषेण विशेषितवान्; उपमाऽलङ्कारः ॥७९॥

---

१. का.टि. प्रचुर ।
२. का. संजातशिक्षं ।
३. का.टि. प्राकृताग्र्याङ्गभागम् ।
४. ज. कृतविबुधरुषं ।
५. का. हन्तुकामं ।
६. ज. सगर्वा ।
७. ज. ॰पुष्टिर्भवानी ।

सं० व्या०–७९. गाढावष्टम्भेति ॥ भवानी भवपत्नी वो युष्मभ्यं चिन्तितानि देयात् अभिलषितवस्तूनि ददातु, किंविशिष्टा, द्रुतमहिषवधावाप्तपुष्टिः महिषस्य वधः महिषवधः द्रुतश्चासौ महिषवधश्च द्रुतमहिषवधस्ततोऽवाप्ता पुष्टिर्यया सा तथोक्ता, या, पूर्वं कृतविबुधरुट् कृता विबुधानां रुट् येन स कृत-विबुधरुट् तं कृतविबुधरुषं दैत्यं महिषमारूढा, किं कर्तुंकामा हन्तुकामा, कथं सगर्वा सह गर्वेण वर्त्तत इति सगर्वा, किमवस्था भवानी, शूलपाणिः शूलं पाणौ यस्याः सा तथोक्ता, किंविशिष्टं महिषरूपिणं दैत्यमारूढा, प्रबलश्चासौ भरश्च प्रबलभरो भूरिभर इत्यर्थः, पादस्य प्रबलभरो गाढोऽवष्टम्भोऽवष्टम्भावधिर्यस्य स गाढावष्टम्भः स चासौ पादप्रबलभरश्च तेन नमत्पूर्वकायोर्ध्वभागो यस्य स गाढावष्टम्भपादप्रबलभरनमत्पूर्वकायोर्ध्वभागः तं, कमिवारूढा जनमहिषमिव, निर्ज्ञातशिक्षं निश्चितं ज्ञाता शिक्षा येनेति विग्रहः, यो हि निर्ज्ञातशिक्षः स आरोहणकाले नमदोद्गमभागो (भवति नमद् उद्गमभागो) यस्येति विग्रहः ॥७९॥

ब्रह्मा[1] योगैकतानो विरहभवभयाद्धूर्जटिः[2] स्त्रीकृतात्मा[3]
वक्षः शौरेर्विशालं प्रणयकृतपदा पद्मवासाऽधिशेते ।
युद्धक्षमामेवमेते विजहतु [4]विदिशं द्राक् त्यजत्वेष शक्रो[4]
दृप्तं[5] दैत्येन्द्रमेवं सुखयतु समदा निघ्नती पार्व्वती वः ॥८०॥

कु.वृ.–पार्व्वती पर्वततनया वो युष्मान् सुखयतु सुखीकरोतु, किं कुर्व्वती निघ्नती नितरां हननं कुर्वती, कं निघ्नती, दैत्येन्द्रं महिषं दैत्यानामधीशं, किंविशिष्टं दैत्यं दृप्तं सगर्वं, केन प्रकारेण तदाह, एवं अमुना प्रकारेण, समदा सगर्वा कृत-मधुपाना, मधु पीत्वा तस्य हतत्वात् इति मार्कण्डेयपुराणे, एवमिति किं तदाह, ब्रह्मा योगैकतानः, योगो नाम यमाद्यष्टाङ्गनियतोऽपि समाधौ योगाङ्गविशेषोऽवतिष्ठते तानो विस्तारः, एकाग्र्यं वा योगे एकस्तानो यस्य स तथा योगैकचित्तो ब्रह्मा परिव्राजकत्वात् युद्धे नाधिकृत इति; अन्यच्च, धूर्जटिः महेश्वरः स्त्रीकृतात्मा

---

१. का. टि. ब्रह्मन् ।

२. का. टि. भवविरहभयाद्धूर्जटिः ।

३. का. टि. स्वीकृतात्मा ।

४–४. का. धिगिमं यस्त्यजत्येष शक्रो; का. टि. विदिशं द्राक् त्यजत्येष शक्रो; ज. धिगिमान् त्यजत्येष शत्रुः ।

५. ज. दृष्टं ।

स्त्री कृता आत्मा येन असौ अर्द्धशरीरदानात्, कुतः विरहभवभयात् विरहो वियोगः तस्माद्भवतीति विरहभवं तच्च तद्भयं च विरहभवभयं तस्मात्, अत एव शङ्करस्त्यक्तपुंभावो युद्धे नाधिकारी एवेति; अनु च, शौरिः श्रीनारायणोऽपि युद्ध-भूमिं मा व्रजतु, कथं, यतः शौरेर्वक्षसि पद्मवासा लक्ष्मीः अधिशेते अधितिष्ठति, पद्मे वासो यस्याः सा पद्मवासेति, अतिसुकोमलेति व्यज्यते; अन्यच्च, प्रणयकृत-पदा प्रणयेन कृतं पदं स्थानं यया अनेन स्निग्धया अपरित्यागो द्योत्यते, वक्षः किं-विशिष्टं विशालं विस्तीर्णं विशेषतो विशेषाद् वा शालते भजते इति, अतः उक्तैस्त्रिभिर्हेतुभिः शौरेर्युद्धानधिकारो दर्शितः, एवं एते त्रयो युद्धक्ष्मां सङ्ग्राम-भूमिं विजहतु त्यजन्तु; अनु च, एष शक्र इन्द्रो द्रागिति शीघ्रं विदिशं विशिष्टां दिशं प्राचीं वा विदिशं विमार्गं त्यजतु, अथ एष शक्रः, शक्लृ शक्तौ शक्त इति कृत्वा, विदिशं विमार्गं त्यजतु, एतैरसामर्थ्यात्त्यज्यते अनेन तु शक्तेन कथं त्यज्यते इति उपहासार्थः, अत एते तिष्ठन्तु अहमेवैनं हनिष्यामिति उक्त्वा महिषं निघ्नती, अथ एवं दृप्तं यथा भवति तथोक्तिलेशः, महिषं निघ्नतीति वाक्यार्थः ॥८०॥

सं० व्या०–८०. ब्रह्मेति । दैत्यानामिन्द्रो दैत्येन्द्रस्तमेव दृष्टमालोकितं निघ्नती व्यापादयन्ती पार्वती पर्वतसुता वो युष्मान् सुखयतु सुखिनः करोतु, किंविशिष्टा एवमित्थं समदा सदर्पा, सह मदेन वर्तत इति विग्रहः, कथं समदा कथं च महिषं निरूपितवती तदाह, ब्रह्मा योगैकतान इत्यादि, योगसमाधिस्तानो विस्तारः योगे एकस्तानो यस्य स योगैकतानो ब्रह्मा ततस्तस्मात् परिव्राजकत्वात् अनधिकृत इति; विरहो वियोगः, विरहाद्भवं विरहभवं तच्च तद् भयं च विरह(भव)भयं तस्माद् विरहभवभयात् हेतोः स्त्रीकृतात्मा येनार्द्धशरीरवान् स स्त्रीकृतात्मा धूर्जटिः, अत एषोऽपि शङ्करस्त्यक्तस्वभावो युद्धेऽनधिकृत एवेति; पद्मे वासो यस्याः सा पद्मवासा लक्ष्मीः शौरेर्विष्णोर्वक्ष उरो विशालं विस्तीर्णमधिशेते अधितिष्ठति, किंभूता प्रणयकृतपदा प्रणयेन कृतः पदः प्रदेशः स्वस्थानं यया सा तथोक्ता, तस्मादसावपि त्यज्यते एवान्यथाऽस्मत्सङ्गेन व्यतिकरेणास्या वराक्या नियतं स्थानभ्रंशो भवानीत्य-भिप्रायेण एष शत्रुर्महिष इमान् परित्यजति परिहरति, इमान् धिग् युद्धभूमिं विजहतु त्यजन्तु इति निन्दत्तान् इमान् त्यजति, कर्मणि धिक् योगे च द्वितीया, एवमिच्छति एते ब्रह्मादयो युद्धक्ष्मां विजहतु युद्धभूमिं त्यजन्तु अहमेव महिषं निहन्मीति भावः, एवं समदा पर्वतीत्युक्तम् ॥८०॥

एवं मुग्धे किलासीः करकमलरुचा[1] मा मुहुः केशपाशं
सोऽन्यस्त्रीणां रतादौ कलहसमुचितो यः प्रिये दोषलब्धे[2] ।
वैदग्ध्यादेवमन्तःकलुषितवचनं दुष्टदेवारिनाथं
देवी वः पातु पार्ष्ण्या दृढतनुमसुभिर्मोचयन्ती भवानी ॥८१॥

कुं०वृ०– देवी भवानी वो युष्मान् पातु, किं कुर्व्वती दुष्टदेवारिनाथं देवारीणां नाथो देवारिनाथः, दुष्टश्चासौ देवारिनाथश्च दुष्टदेवारिनाथस्तं असुभिः प्राणैर्मोचयन्ती मरणं प्रापयन्ती, कया पार्ष्ण्या पादपाश्चात्यभागेन, किं[39b]विशिष्टं तं, दृढा तनुर्यस्य स तं, दृढा स्थूला बलिष्ठा वा, पुनः किंविशिष्टं वैदग्ध्यात् चातुर्यात् एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण अन्तःकलुषितवचनं, अन्तर्मध्ये कलुषितं प्रसन्नगम्भीरं वचनं यस्य स तं, अन्तःकलुषितमिति कोमलपदं कठोरार्थ-मित्यर्थः, कथमित्येतद्विवृणोति, हे मुग्धे ! मूर्द्धजायुधविशेषविवेकविरहान्मुग्धे-त्युच्यते, हे विवेकरहिते ! एनं केशपाशं किल मा आसीः मा क्षिप, अथवा असु-गतिदीप्त्योः मा गृहीः, कथं मुहुर्बारम्बारं, केशो वरुणस्तस्य पाशः अथवा कचसमूहः तं अन्यासु[यु]धेनान्यस्य युद्धादर्शनात्, अथ त्वं स्त्रीभावमापन्ना स्व-भर्तृसङ्गमभ्रान्त्या केशपाशं मा गृहीः, इतो मुग्धा इति पदं औचितीं आवहति, सोऽन्यः अन्य एव यः स्त्रीणां रतादौ प्रिये भर्त्तरि दोषलब्धे सपत्नीनामग्रहद्योष-लब्धे यः कलहसमुचितः कलहयोग्यः, अथवा अन्यस्त्रीणां योग्यः न तव, कया कृत्वा करकमलरुचा, अत्राऽसमर्थसमासत्वात् करकमलेनेति व्याख्येयं, अथवा कर-कमलकान्त्यामासीरिति योज्यम्, माङ्योगे लटार्थे लकारः, मा दीप्तिं नय अयमभिसन्धिः, त्वं कोमलकरा युद्धे पाशग्रहणयोग्या न किन्तु रते केशपाशग्रहण-योग्येति वाक्यार्थः ॥८१॥

सं० व्या०–८१. एवमिति ॥ भवस्य पत्नी भवानी वो युष्मान् पातु रक्षतु, किं कुर्वती असुभिः प्राणैर्मोचयन्ती, पार्ष्ण्या पादपश्चिमभागेन, कं देवाना-मरयोऽसुरास्तेषां नाथः, दुष्टश्चासौ देवारिनाथस्तं दुष्टदेवारिनाथं महिषं, किंविशिष्टं, दृढतनुं दृढा स्थूला तनुर्यस्येति विग्रहः, पुनः किंभूतं अन्तःकलुषित-वचनं अन्तर्मध्ये कलुषितं वचनं यस्येति विग्रहः, कुतोऽन्तःकलुषितवचनं वैदग्ध्यात् विदग्धभावात्, अन्तःकलुषितवचनमेवमित्थं तदुच्यते, हे मुग्धे

१. का० करकमलतया ।
२. ज० कोपलब्धे ।

किलात्यादि, कर एव कमलं करकमलं तस्य भावः करकमलता तया हेतौ भूतया, केशपाशं कचनिकरं, मुग्धे ! एवमित्थं किल मुहुः पुनर्मासीर्मा गृहीस्त्वमासीरिति, असुगतिदीप्त्यादानेष्टीत्यतो माङिल् यदिति लुट्, यः केशपाशो रतादौ सुरतारम्भे प्रिये वल्लभे कोपलब्धे कोपप्राप्ते कलहः समुचितो विग्रहयोग्यः सोऽन्यस्त्रीणां अपरयोषितां अस्मदीयानां तु न तु परस्त्रिया इति भावः ॥८१॥

बालोऽद्यापीशजन्मा समरमुडुपभृत्[1] भस्मलीलाविलासी[2]

नागास्यः शातदन्तः स्वतनुकरमदाद्विह्वलः सोऽपि शान्तः।

धिग्यासि क्वेति दृप्तं[3] मृदिततनुमदं[4] दानवं संस्फुरोक्तं[5]

पायाद् वः शैलपुत्री महिषतनुभृतं निघ्नती वामपार्ष्ण्या ॥८२॥

कुं०वृ०— शैलपुत्री पर्व्वतेन्द्रतनया वो युष्मान् पायात्, किं कुर्वती महिषं महिषतनुभृतं दानवं निघ्नती, महिषतनुं बिभर्तीति क्विबन्तः, गजादिरूपपरित्यागात् पुनर्महिषतामापन्नमित्यर्थः, कया वामपार्ष्ण्या मायावित्वात् कूटयोधिनस्तस्योपरि अवज्ञया वामपादाघातस्यैवोचितत्वात्, किंविशिष्टं दानवं दृप्तं सगर्वं, पुनः किंविशिष्टं मृदिततनुमदं मृदितस्तनोर्मदो यस्य स तथा तं, पुनः किंविशिष्टं, हे देवि त्वां धिक्, क्व यासि क्व यास्यसि इति संस्फुरोक्तं स्फुरणं स्फुरः सस्फुरं उक्तं वचो यस्य स तथा तं, किं तद्वचनं तदाह, स्त्रियः खलु पतिपुत्रबलं भवति, ननु तत्तव नास्ति, कुतः यत ईशजन्मा कार्तिकेयोऽद्यापि समरं प्रति बाल (अ)समर्थ(:) पुत्रो बालश्च सङ्ग्रामानभिज्ञो भवति, तर्हि पतिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह, उडुपभृत् चन्द्रशेखरो भस्मलीलाविलासी, भस्मना लीला तया विलासी शीतलसेवनं भस्मलेपश्च तस्य सरुक्त्वं रोगसहितत्वं व्यञ्जयतः; तर्हि गणेशोऽस्तीत्याशङ्क्याह, नागास्यो गजाननः शातदन्तः नागस्येवाननं यस्य स तथा, शातो भग्नो दन्तो यस्येति, महिषेण किल धनुर्विधातु तस्य दन्तस्य गृहीतत्वात्, 'शो तनूकरणे' क्त-प्रत्यये, अदन्त इति; अनु च, स्वतनुकरमदाद्विह्वलोऽपि, स्वं तनुं कृशं करोति इति स्वतनुकरश्चासौ मदश्च तस्मात् अवशिष्टदन्तग्रहणभीत्या विह्वलत्वाच्च न तवालम्बनं भवितुमर्ह-

---

१. ज०का०-टि० सुरपतिर्भस्मलीलाविलासी ।

२. का० पांशुलीलाविलासी; पांशुलीलाभियोग्यो ।

३. ज० दृष्टं; का० दुष्टं ।

४. ज० मुदिततनुमदं ।

५. का० संस्फुटोक्तमिति टिप्पणे ।

तीति भावः; अथ यः पूर्वं स्वतनुकरं स्वशरीरदण्डं दन्तव्याजेन अदात् स कथं युद्धयोगमिष्य [40a]तीत्यभिप्रायः, यतः सोऽपि शान्तः स(श)मं प्राप्तः, इति दृप्तं जल्पन्तं दानवं निघ्नती वः पायादिति वाक्यार्थः ॥८२॥

सं०व्या०–८२. बालोऽद्यापीशजन्मेति ॥ महिषस्य तनुर्महिषतनुस्तां बिभर्ति इति भृतः क्विप्, महिषतनुभृतं दानवं दनुजं वामपर्ष्ण्या निघ्नती निपातयन्ती शैलपुत्री पार्वती वो युष्मान् पायात् रक्षतु, किंविशिष्टं महिषं, इत्येवं संस्फुरोक्तं, संस्फुरं स्फुरणयुक्तं उक्तमभिहितमिति विग्रहः, मुदिततनुमुदं हृष्टमवलोकितं, मुदितासौ तनुश्च मुदिततनुः रोमाञ्चितशरीरं तत्र मुत् हर्षो यस्य स मुदिततनुमुत् तं मुदिततनुमुदं बहिरन्तश्च हर्षमित्यर्थः; कथं संस्फुरोक्तं तदाह, बालोऽद्यापीशजन्मा इत्यादि, ईशाज्जन्म यस्य स ईशजन्मा कुमारः, समरसुरपतिः समरसुराणां प्रभुः अद्यापि बालो डिम्भः, अत एव पांशुलीलाभियोग्यः इति विशेषितवाचं, पांशुना लीला तस्या अभियोग्यो धूलिक्रीडायोग्य इत्यर्थः; नागास्येवास्यं यस्य स नागास्यो विनायकः शातदन्तः, शातो दन्तः यस्येति विग्रहः, ननु कृशं करोतीति तनुकरः अतनुकरः स चासौ मदश्च अतनुकरमदः तस्माद् विह्वलो विवशः, अतः सोऽपि शान्तः शमं गतः, न केवलमस्य दन्त इति, धिग् यासि क्वेति, क्व गच्छसि त्वां धिक्, पुत्रबालभावादस्मद्वशे पतितासीति भावः ॥८२॥

मूर्द्ध्नः शूलं ममैतद्विफलमभिमुखं शङ्करोत्खातशूलं
सङ्ग्रामाद्दूरमेतद्धृतमरि[1] हरिणा मन्मनः कर्षतीव ।
गर्वादेवं क्षिपन्तं विबुधजनविभू[2] दैत्यसेनाधिनाथं
शर्वाणी पातु युष्मान् पदभरदलनात्प्राणतो दूरयन्ती ॥८३॥

कुं०वृ०– शर्वाणी शर्वदयिता युष्मान् पायात्, इन्द्रवरुणेत्यादिनाऽऽनुगि शर्वाणीति रूपं, किं कुर्वती दैत्यसेनाधिनाथं प्राणतः प्राणेभ्यो दूरयन्ती दूरीकुर्वती, दूरयन्तीत्यत्र स्थूलदूरेत्यादिना यणादिलोपो नाशङ्कनीयः कालिदासादिमहाकविप्रयोगदर्शनात्, कस्मात् पदभरदलनात्, पदस्य भरः पदभरः तेन दलनात्, दैत्यनाथमित्येव सिद्धे सेनाग्रहणं ससेनस्य विनाशनादुद्युक्तं, किं कुर्वन्तं गर्वात् अहङ्कारात् बिबुधजनविभू शङ्करनारायणौ एवं क्षिपन्तं निन्दन्तं, विबुधजनविभू इत्येव कृच्, तद्भयाद् विबुधानां भुवि जनवद् भ्रमणात् विबुधजनविभू इत्युक्तं, एवमिति किं

१. का० दूरमस्मत्स्थितमरि, इति टिप्पणे ।
२. का० विबुधजनविभून् ।

तदाह, हे देवि ! तव शूलेन अलं यतः एतदेव मम मूर्ध्नः शूलं, 'शूलं रोगे प्रहरणे च', किं तत् यत् शङ्करोत्खातशूलं अभिमुखं सत् विफलं जातम्, विफलमिति निष्फलं, अथ फलेनाग्रभागेन रहितं, 'सम्भावितस्य चाशक्ति (कीर्ति)-र्मरणादतिरिच्यत' इति न्यायात्; मयि पतितं शङ्करशूलं भग्नाग्रमभूदिति, इयं मम व्यथा; अनु च, हरिणा विष्णुना एतत् अरि चक्रं, अरा विद्यन्ते यस्मिन् अरि, सङ्ग्रामाद् दूरे धृतं, मयि अकिञ्चित्करं ज्ञात्वा साङ्ग्रामाद्बहिष्कृतं, एतदपि मम मनः कर्षतीव पीडयतीव, एवं सगर्ववचन दैत्यं निघ्नती वः पायादिति ॥८३॥

सं०व्या०—८३. **मूर्ध्नः शूलमिति** ॥ पदस्य भरः पदभरस्तेन दलनं पदभरदलनं ततः पदभरदलनात्, प्राणतः प्राणेभ्योऽपि दूरयन्ती दूरीकुर्वती, कं दैत्यसेनाधिनाथं महिषं, शर्वाणी शर्वपत्नी वो युष्मान् पातु रक्षतु, दूरयन्ती तत्र स्थूलदूरेत्यादिना यणादिलोपो नाशङ्कनीयः कालिदासादिमहाकविप्रयोगात्, किं कुर्वन्तं दैत्यसेनाधिनाथं, एवमित्थं क्षिपन्तं निन्दितं निन्दन्तं गर्वात् गर्वेण विबुधजनविभू शङ्करनारायणौ, कथं क्षिपन्तमित्याह, मूर्द्धनः शूलमित्यादि, एतत् शङ्करेणोत्खातशूलं हरेणोद्यतं शूलं अभिमुखं शूलं शूलहेतुत्वात्, अरा विद्यन्ते इत्यरि चक्रं एतदिदं सङ्ग्रामाद्दूरं विप्रकृष्टं हरिणा विष्णुना धृतं मन्मनो मन्मानसं कर्षतीवात्मानं प्रति नयतीत्यर्थः ॥८३॥

भ्राम्यद्भीमोरुदेहक्षुभितचलजलव्यस्तवीचीसकम्पान्[1]
कृत्वा द्रागप्रसन्नान्[2] पुनरपि जलधीन्मन्दरक्षोभभाजः ।
दर्प्पादायान्तमेवं[3] श्रुतिपुटपरुषं[4] नादमभ्युद्गिरन्तं
कन्याऽद्रेः पातु युष्मान् चरणभरनतं पिंषती दैत्यनाथम् ॥८४॥

कु०वृ०— अद्रेः कन्या युष्मान् पातु, किं कुर्व्वती दैत्यनाथं पिंषती चूर्णयन्ती, किंविशिष्टं, चरणभरनतं वामचरणन्यासवशात् नतं, पुनः किं कुर्वन्तं, दर्पाद् गर्वादायान्तं आगच्छन्तं, किं कुर्व्वन्तं एवं श्रुतिपुटपरुषं नादं अभ्युद्गिरन्तं श्रवणपुटकठोराणि पूर्वोक्तानि वाक्यानि जल्पन्तं, किं कृत्वा जलधीन् समुद्रान् द्राक् शीघ्रं अप्रसन्नान् कृत्वा कलुषान् विधाय, किंविशिष्टान् जलधीन्, पुनरपि मन्दर-

---

१. ज० का० भ्राम्यद्भामौर्वदाहक्षुभितजलचरव्यस्तवीचीन् सकम्पान् ।

२. ज० का० कृत्वैवाशु प्रसन्नान् ।

३. का० दर्पादायान्तमेव ।

४. ज० श्रुतिपदपरुषं ।

क्षोभभाजः, मन्दरेण क्षोभस्तमिव भजन्ते, यथा मन्दरेण क्षोभं नीताः तथा पुनरपि तेन नीता इत्यर्थः; पुनः किंविशिष्टान् पुनरपि हेतुगर्भं विशेषणमाह, भ्राम्यद्भीमोरुदेहक्षुभितचलजलव्यस्तवीचीसकम्पान्, भ्राम्यन् योऽसौ भीमो रौद्र उरुर्विशालो देहः तेन क्षुभितं यत् चलं चञ्चलं जलं तेन व्यस्ता या वीचयः ताभिः सह कम्पेन वर्तमानान् कृत्वेत्यर्थः ॥८४॥

सं०व्या०–८४. भ्राम्यदिति ॥ दैत्यानां नाथो दैत्यनाथस्तं पिषती चूर्णयन्ती अद्रेः पर्वतस्य कन्या कुमारी वो युष्मान् पातु रक्षतु, किंविशिष्टं, चरणभरनतं चरणभरेण नतं, किं कुर्वन्तं एवमित्थं दर्पात् दर्पेणायान्तमागच्छन्तं, श्रवणं श्रुतिस्तस्याः पदं स्थानं श्रुतिपदं श्रवणेन्द्रियं तस्य परुषो निष्ठुरः तं श्रुतिपदपरुषं नादं शब्दमुद्गिरन्तं अतीवोत्सृजन्तं, किं कृत्वाऽयान्तं, सह कम्पेन वर्तन्त इति सकम्पास्तान् जलधीन् कृत्वेवं कृत्वा, आशु क्षिप्रं, किंविशिष्टान् जलधीन् भ्राम्यद्धामौर्वदेहक्षुभितचलजलचरव्यस्तवीचीन्, ऊर्वो बाडवाग्निः, धाम तेजः भ्राम्यद्धाम तेजो यस्य स भ्राम्यद्धामा स चासौ ऊर्वश्च भ्राम्यद्धामौर्वस्तस्य दाहस्तापस्तेन चलिता क्षुभिता ये जलचरा मत्स्यादयस्तैर्व्यस्तस्य इतस्ततः क्षिप्ता वीचयस्तरङ्गा येषां जलनिधीनां ते तान् यथोक्तान्, पुनरपि किंविशिष्टान् कृत्वा प्रसन्नान् अनाविलान्, पुनरपि भूयोऽपि मन्दरक्षोभभाजः कृत्वेदमुक्तं भवति, यथापूर्वं मन्दराद्रिणा जलधयः क्षोभभाजः कृतास्तथेदानीं महिषेणापि इति ॥८४॥

मैनामिन्दो[1]ऽभिनैषीः श्रितपृथुशिखरां शृङ्ग[40b]युग्मस्य पात्र्यं[2]
युद्धक्ष्मायां तनुं स्वां रतिमदविलसत्स्त्रीकटाक्षक्षमेयम् ।
भानो ! किं वीक्षितेन क्षितिमहिषतनौ त्वं हि सन्यस्तपादो[3]
दर्पादेवं[4] हसन्तं व्यसुमसुरमुमा कुर्वती त्रायतां वः ॥८५॥

कुं०वृ०– उमा वस्त्रायतां, किं कुर्वती असुरं दैत्यं व्यसुं विगतप्राणं कुर्वती, किंविशिष्टं, दर्पाद् गर्वादेव वक्ष्यमाणं हसन्तं, एवमिति किं तदाह, हे इन्दो ! एनां स्वां तनुं युद्धक्ष्मायां सङ्ग्रामभूमौ शृङ्गयुग्मस्य पात्र्यं मदीयशृङ्गयुगलपात्रतां मा अभिनैषीः मा प्रापय, किंविशिष्टां श्रितपृथुशिखरां श्रितं पृथु विशालं पर्वतशिखरं यया सा तथा तां, यत इयं ते तनुः रतिमदविलसत्स्त्रीकटाक्षक्षमा, रत्यर्थं

१. का० मैनां मुग्धे., इति टिप्पणे ।

२. का० पार्श्वं ।

३. सन्यस्तपादो इति प्रतौ ।

४. पर्दादेवं, इति प्रतौ ।

मदो रतिमदः तेन विलसन् यः स्त्रीणां कटाक्षः तस्य क्षमा, स्त्रीकटाक्षमेव सोढुं शक्नोति न शृङ्गयुग्मं, अत्र पर्वतशृङ्गभ्रान्त्या शृङ्गयुगं नारोहणीयमिति वाच्योऽर्थः, अतोऽत्र मुग्धपदेन भ्रान्तिमदलङ्कारता ध्वन्यते; अन्यच्च, हे भानो ! अत्राहं पादन्यासं करोमीति किं तव जीवितेन, हि यस्मात् त्वं क्षितिमहिषतनौ प्राकृतमहिषशरीरे आरोपितपादः, पादशब्देन कराश्चरणौ च कथ्येते; अहं तु तादृशो महिषो न भवामि यत्र त्वं पादन्यासं करोषि, सम्यक् न्यस्ताः स्थापिताः पादा रश्मयो येन पादश्चरण इति शब्दच्छलं त्यक्तचरणस्त्वमिति हास्यार्थः ॥८५॥

सं०व्या०-८५. मैनामिन्दोऽभिनैषीरिति ॥ विगता असवः प्राणा यस्य स व्यसुः, विगतप्राणमसुरं महिषरूपिणं कुर्वती उमा गौरी वो युष्मान् त्रायतां रक्षतु, असुरमेवमित्थं दर्प्पात् दर्पेण हसन्तं चन्द्रादित्यौ, कथं तदुच्यते, मैनामिन्दो इति, हे इन्दो चन्द्र ! स्वां तनुं निजं शरीरं मा शृङ्गयुग्मस्य पात्र्यं पात्रभावमभिनैषीः अभिमुखं नय, श्रितमाश्रितं पृथु विस्तीर्णं शिखरं पर्वतशृङ्गं यया तां तनुं तथोक्तां, अनेनैतदुक्तं भवति पर्वतशृङ्गं विपुलं तु चन्द्रो यथा तथा श्रयते, इयं तु शृङ्ग-युग्मं अस्मदीयं तीक्ष्णं, भवता आश्रयितुं अशक्यं, अत एवंविधा भवतस्तनुरियं रतिमदविलसत्स्त्रीकटाक्षक्षमेति रतेर्मदेन या विलसन्ती अभिसारिका स्त्री तस्याः कटाक्षो ह्रस्वतिर्यक्प्रेक्षितं यत् तस्याः क्षमा सहा इति; भानो ! भास्कर ! वीक्षितेन अवलोकितेन क्षितौ महिषस्तस्य तनुः क्षितिमहिषतनुस्तस्मिन् हि यस्मात् त्वं सन्यस्तपादः, अहं तु तादृशो महिषो न भवामि यत्र पादन्यासं करोषीति भावः, सम्यक् न्यस्ताः स्थापिताः पादा रश्मयो यस्येति विग्रहः, छलपक्षे तु, पादश्चरण इति, हास्यपक्षे तु, सन्यस्तपादस्त्यक्ताङ्घ्रिः कुष्ठीत्यर्थः ॥८५॥

सङ्ग्रामात्त्रस्तमेतं[1] त्यज निजमहिषं लोकजीवेश मृत्यो !
स्थातुं शस्त्राग्रभूमौ[2] गतभयमजयं मत्तमेनं[3] गृहाण ।
दैत्ये पादेन यस्याश्छलमहिषतनौ प्रापिते[4] दीर्घनिद्रां
द्राग् दुर्भेदे[5] जयैवं हसितपितृपतिः[6] सा शिवा[7] वः पुनातु ॥८६॥

१. ज० संग्रामात्त्रस्तमेनं ।
२. ज० का० शूलाग्रभूमौ ।
३. का० मत्तमेतं ।
४. ज० का० शायिते ।
५. ज० का० भावोत्पत्तौ ।
६. ज० का० हसति पितृपतिं ।
७. ज० का० साऽम्बिका ।

कुं०वृ०– यस्याः पादेन दैत्ये दीर्घनिद्रां मरणं प्रति [प्रापि] ते जया देवीसखी एवं हसित-[पितृ]-पतिरासीत् सा शिवा वः पुनातु, किंविशिष्टा, दैत्ये छलमहिषतनौ मायामहिषे, कथ द्राक शीघ्र रूपपरिवृत्तिसमसमयमेव इति नोक्तं विवृणोति, देवीचरणक्षिप्तं महिषं प्रदर्श(र्श्य) जया यमं आह, हे यम ! मृत्यो ! लोकेजीवश ! प्राणिप्राणेश ! एवं भवदीयं कीनाशं [यानं, महिषं] त्यज, किंभूतं सङ्ग्रामात् त्रस्तं पलायितं; अनु च, एनं शूलाग्रभूमौ स्थातुं गतभयं अजयं मत्तं दानरूपिणं महिषं गृहाण वाहनत्वेन स्वीकुरु ।।८६।।

सं० व्या०–८६. सङ्ग्रामादिति ।। सा अम्बिका गौरी वो युष्मान् पुनातु पवित्रीकरोतु, छलेन महिषतनुर्यस्य स तथोक्तः तस्मिन् छलमहिषतनौ दैत्ये यस्याः पादेन दीर्घनिद्रां शायिते सति, जया प्रतीहारी भावोत्पत्तौ भावस्य दासकरणस्य उत्पत्तौ पितृपतिमेवमित्थं हसति, कथं तदाह, सङ्ग्रामात्त्रस्तमित्यादि, लोकानां जीवितस्येशः प्रभुर्लोकजीवेशः, हे लोकजीवेश ! मृत्यो ! निजं स्वकीयं एनं महिषं सङ्ग्रामात् भ्रस्वं[त्रस्तं]सङ्गराद्भीतं त्यज जहिहि, शूलस्यायुधस्याग्रभूमिः शूलाग्रे या भूमिस्तस्यां शूलाग्रभूमौ स्थातुं स्थिरतरं गतभयं मत्तं मदोत्कटं एनं गृहाण आदत्स्वेति, गतं भयं यस्येति विग्रहः ।।८६।।

श्रुत्वेदृक् कर्म्म[1] भावादनिभृतरभसं शम्भुनाऽऽगत्य[2] दूरात्
शिलष्टं[3] बाहूपसारं[4] श्वसितभरचलत्तारकोद्धूतहस्ता[5] ।
दैत्ये गीर्वाणशत्रौ[6] भुवनसुखमुषि प्रेषिते प्रेतकाष्ठां
गौरी वोऽव्यात् स्वरूपं[7] त्रिदशपतिपुरो[8] लज्जया धारयन्ती[9] ।।८७।।

कुं० वृ०—गौरी वोऽव्यात् इत्यन्वयः, भुवनानां सुखं मुष्णातीति स तथा, तस्मिन् गीर्वाणानां रिपौ, गीर्वाणा इत्यनेन देवानां वाक्शूरत्वमेव न साक्षात्

१. ज० का० श्रुत्वैतत्कर्म ।
२. ज० का० स्थाणुनाऽभेत्य ।
३. ज० का० श्लिष्टा ।
४. ज० बाहूपसादं; का० बाहुप्रसारं ।
५. का० ०तारका धूतहस्ता ।
६. ज० संतापितारौ ।
७. ज० का० वोऽव्यान्मिलत्सु ।
८. ज० का० त्रिदिविषु तमलं; प्रतौ पङ्क्तेरस्या वर्णा विपर्यस्ताः ।
९. ज० का० चारयन्ती ।

हननसामर्थ्यं इति द्योत्यते, किंविशिष्टा देवी, ईदृक् महिषवधलक्षणं कर्म श्रुत्वा भावात् अनुरागात् दूरात् आगत्य शम्भुनाऽऽश्लिष्टा आलिङ्गिता, कथं एत्य, अनिभृत उल्वणो रभसो यत्र तद्यथा भवति, रभस उत्कर्षः, पुनः कथं यथा भवति, बाहुं भुजं उपसृ[41a]त्य भुजोपपीड[न]मित्यर्थः, अत एव देवी विशिष्यते, श्वसित-भरचलत्तारकोद्धूतहस्ता श्वसितस्य श्वासस्य पीडनात् यो भरः प्राचुर्यं तेन चलन्ती [चलन्त्यौ] तारके यस्याः सा तथा, अत एव उद्धूतौ हस्तौ यया सा श्वसितभर-चलत्तारका चासौ उद्धूतहस्ता च श्वतिभरचलत्तारकोद्धूतहस्ता ।।८७।।

सं० व्या०–८७. श्रुत्वैतत्कर्मेति ।। संतापिता अरयः शत्रवो देवा येन स संतापितारिः, भुवनानां सुखं मुष्णातीति भुवनसुखमुट् तस्मिन् संतापितारौ तथा भुवनसुखमुषि दैत्ये प्रेतकाष्ठां याम्यां दिशं प्रेषिते प्रहिते सति गौरी वो युष्मान् अव्यात् रक्षतु, किंविशिष्टा, श्लिष्टा आलिङ्गिता स्थाणुना शङ्करेण दूराद्दे व्यभिमुख अभ्येत्य आगत्य, कथमभ्येत्य अनिभृतर[भ]सं अनिभृति निभृतिरहितो उल्वणो रसः स उत्कर्षो यस्मिन् अभ्यागमने तद् यथा भवत्येवं, कुतोऽनिभृतिरसं भावाद-नुरागात्, किं कृत्वा श्रुत्वैतत् इदं देव्या महिषवधलक्षणं कर्म कर्माण्याकर्ण्य, किंकृत्वा श्लिष्टा, बाहूपसादं बाहू भुजौ उपसद्य उपसृत्य बाहूपपीडनमित्यर्थः, अत एव श्व-सितभरचलत्तारका धूतहस्तेति देवी, श्वसितस्य श्वासस्य पीडनाद्भरः प्राचुर्यं तेन चलन्त्यौ तारके यस्याः सा तथोक्ता, धूतौ हस्तौ ययेति विग्रहः, किंकुर्वती गौरी शङ्करेण श्लिष्टा, तं शङ्करं त्रिदिविषु देवुषु मिलत्सु सत्सु अलमत्यर्थं लज्जया व्रीडया वारयन्ती प्रतिषेधयन्ती मैवं कुर्विति व्याहरन्तीति भावः ।।८७।।

भद्रे स्थाणुस्तवाङ्घ्रिः क्षतमहिषरणव्याजकण्डूतिरेष-[1]
स्त्रैलोक्यक्षेमदाता भुवनभयहरः[2] शङ्करोऽतो हरोऽपि ।
देवानां नायकत्वादगुणकृतवचनो[3] नो महादेव एष[4]
केलावेवं स्मरारौ वदति[5] रिपुवधे पार्व्वती वः पुनातु[6] ।।८८।।

---

१. ज० का० ०रेष; का० ०रेवेति टिप्पणे ।

२. ज० त्रैलोक्यक्षेमदानाद्भुवनभयहरः ।

३. का० देवानां नायिके ! त्वद्गुणकृतवचनो; ज० देवैर्ब्रह्मादिभिस्त्वद्गुणकृतवचनो ।

४. ज० एव ।

५. ज० का० स्मरारिर्हसति ।

६. ज० का० यां शिवा पातु सा वः ।

कुं०वृ०-पार्वती वो युष्मान् पवित्रयतु, क्व सति रिपुवधे जाते सति, केलौ क्रीडानिमित्तं स्मरारौ हरे एवं वक्ष्यमाणं वदति सति, इतीति किं, अत्र स्थाणुशङ्करहरमहादेवा इति इमाश्चतस्रः स्वीयाः संज्ञाः स्वात्मनि अयथार्था मन्यमानः पराचरणे तासां च वृत्तिनिवृत्तिमाह, हे भद्रे ! विश्वकल्याणकारिणि ! अत्र स्थाणुशब्देन तव अङ्घ्रिरेव, न अहं तथा, यतो रणात्पलाय्य गतः, अयं तु स्थास्नुर्भूत्वा क्षतमहिषरणव्याजकण्डूतिः, क्षता महिषस्य रणव्याजकण्डूतिः खर्ज्जूलभुजत्वं येन; अनु च, त्रैलोक्यक्षेमदाता इति कृत्वा शङ्करोऽप्ययमेव, शं सुखं करोतीति, अहं तु न शङ्करः, प्रत्युत मां पलायमानं दृष्ट्वा लोकाः पलायिता इति भयहेतुरपि ; अनु च, भुवनभयहर इति कृत्वा हरोऽप्ययमेव, नाहं, रिपुहरणलक्षणहरशब्दार्थाभावादित्यभिप्रायः ; अनु च, एष अहं महादेवोऽपि स(न)किन्तु त्वच्चरण एव महादेवः, महांश्चासौ दीव्यतीति कृत्वा (महा)देवः, अयं तु देवानां नायकत्वात् गुणकृतवचनः, गौणेयं संज्ञा महादेव इति, न मुख्येत्यर्थः, अतस्तु प्रधानत्वात् त्वच्चरणस्यैव इमाः संज्ञाः, निरर्थकत्वात् न मम, इति भावेन पतिपरीहासतुष्टा भवानी वः पायात्, इति वाक्यस्यार्थः ।।८८।।

सं०व्या०-८८ भद्रे स्थाणुरिति ।। रिपोर्वधः रिपुवधस्तस्मिन् रिपुवधे महिषहते एवमित्थं केलौ केलिनिमित्तं स्मरारौ कामशत्रौ वदति जल्पति सति पार्वती पर्वतपुत्री वो युष्मान् पुनातु पवित्रीकरोतु, स्थाणुः शङ्करो महादेवो हरश्चेति चतस्रो मम संज्ञाश्च साम्प्रतमयथार्था इत्यभिप्रायेण परिहासमधिकृत्य शम्भुरिदमाह, भद्रे ! स्थाणुस्तवेत्यादि, अत्र नो इति प्रतिषेधवचन एव शब्दः, च रणस्य व्याजो रणव्याजः, कण्डूयनं कण्डूतिः, रणव्याजेन कण्डूतिः रणव्याजकण्डूतिः, क्षता महिषरणव्याजकण्डूतिर्येन स तथोक्तः ; भद्रे कल्याणि ! तवैष अंह्रिः स्थाणुः, छलपक्षेषु ढः, कथं क्षतमहिषरणव्याजकण्डूतिः महिषरणव्याजेन या कण्डूतिः सा स्थाणुना न हता किन्तु तवाङ्घ्रिणा हतेत्यर्थः, क्षेमं शिवं क्षेमस्य दानं क्षेमदानं त्रैलोक्यस्य क्षेमदानं त्रैलोक्यक्षेमदानं तस्मात् तथोक्तः, अत एव तव एष अंह्रिरेव शङ्करः सुखकरः शब्दमात्रेणैव शङ्करः सर्वत्रानुगत एष इत्यनेन स्मरारेरालापनं निर्दिशति; हरतीति हरः 'कृतः पचादित्वादच्' हरोऽपि नो भुवनभयहरः तवाङ्घ्रिरेव भुवनभयहरः, हरस्तु शब्दमात्रेणैव; देवानां नायकत्वात् प्रधानत्वात् गुणकृतवचनोऽपि तव चरण एष महादेवः किन्तु शब्दमात्रेणैव महादेव एव, गुणानां कृतं वचनं अभिधानं येनेति विग्रहः, अनेनैतदुक्तं भवति, महिषवधेनार्थप्रधानत्वात् एताः स्थाण्वादयः संज्ञास्तवाङ्घ्रिर्युज्यन्ते, वयं तु निरर्थकनामान इति ।।८८।।

खड्गः कृष्णस्य नूनं रहितगुणगतिर्नन्दकाख्यां प्रयातः[1]
शत्रोर्भङ्गेन वामस्तव मुदितसुरो नन्दकस्त्वेष[2] पादः।
भावादेवं जयायां[3] नुतिकृति नितरां सन्निधौ देवतानां
सव्रीडा भद्रकाली हतरिपुरवताद्वीक्षिता शम्भुना वः ॥८९॥

कुं०वृ०–भद्रकाली वो युष्मान् अवतात्, किंविशिष्टा हतरिपुः, पुनः किंविशिष्टा शम्भुना वीक्षिता, पुनः किंविशिष्टा सव्रीडा सलज्जा, कस्यां सत्यां देवतानां सन्निधौ जयायां भावात् अनुरागतः नुतिकृति सत्यां, नुतिं करोतीति नुतिकृत् तस्यां, एवमिति किं तदाह, हे भद्रकालि ! एष ते वामः पाद एव त्वां प्रति नन्दको जातः, नन्दयतीति नन्दकः, किंलक्षणः, शत्रोर्भङ्गेन मुदितसुरः, महिषस्य वधेन मुदिताः सुरा येनेति कृत्वा, यतो नूनं निश्चितं कृष्णस्य खड्गो रहितगुणगतिः सन् नन्दकाख्यो नन्दक इति संज्ञामात्रमेव गतः, गुणस्य गतिः प्रतिपत्तिः प्रसन्नत्वा-द्गुणगतिः रहिता त्य[41b]क्ता गुणगतिर्येन, यदृच्छया डित्थादिशब्दवत् तस्य नन्दक इति संज्ञा, गुणैः कृत्वा तव वामश्चरण एव नन्दक इति ॥८९॥

सं० व्या०–८९. खड्ग इति ॥ हतो रिपुर्महिषो यया सा हतरिपुर्व्यापादित-शत्रुर्भद्रकाली भगवती वो युष्मान् अवतात् रक्षतु, अत्र 'तुह्योस्तातङ्ङन्यतरस्यां', किंविशिष्टा भद्रकाली वीक्षिता अवलोकिता शम्भुना शङ्करेण, कथंभूता वीक्षिता सव्रीडा सह व्रीडया वर्त्तत इति विग्रहः सलज्जेति, क्व सति सव्रीडा, देवतानां सन्निधौ सन्निधाने एवमित्थं तावदनुरागस्ते(न)जयायां प्रतीहार्यां नितरां सुतरां नुतिकृति स्तुतिकारिण्यां सत्यां, महान्तो हि शिष्टसन्निधौ प्रत्यक्षप्रशंसया लज्जन्ते इति भावः, देवतानामिति 'देवात्तल् इति स्वार्थे कस्तल्', कथं जयायां नुतिकृति सव्रीडा तदुच्यते, खड्गः कृष्णस्येत्यादि, गुणस्य गतिः प्रतिपत्तिर्गुणगतिः, रहिता त्यक्ता गुणगतिर्येन स रहितगुणगतिः, कृष्णस्य विष्णोः खड्गो नूनं निश्चितं नन्दकाख्यां नन्दकसंज्ञां प्रयात एव एतदुक्तं भवति, यदृच्छया कृष्णस्य खड्गो नन्दक इत्युच्यते, तेन नन्दयतीति गुणेनेति नन्दकस्तवैष वामपादो दक्षिणेतरश्चरणः, किंभूतो मुदितसुरः मुदिताः सुरा येनेति विग्रहः, केन हेतुना मुदितसुरः शत्रोर्भङ्गेन महिषस्य भञ्जनादिति ॥८९॥

---

१. प्रयान्तः, इति प्रतौ। २. नन्दकस्स्वस्य इति प्रतौ। ३. का. गतानामिति पाठे।

एकेनैवोद्गमेन[1] प्रविलयमसुरं[2] प्रापयामीति पादो

यस्याः कान्त्या नखानां हसति सुररिपुं[3] हन्तुमुद्यन्[4] सगर्व्वम् ।

विष्णोस्त्रिः पादपद्मं बलिनियमविधावुद्गतं[4] कैतवेन

क्षिप्तं[5] सा वो रिपूणां वितरतु विपदः[6] पार्व्वती क्षुण्णशत्रुः॥९०॥

कुं०वृ०–सा पार्व्वती वो युष्माकं रिपूणां विपद आपत्तीर्वितरतु ददातु, रिपूणामिति सम्प्रदानत्वाभावाद्राज्ञो दण्डं ददातीतिवत् षष्ठी, किंविशिष्टा पार्व्वती क्षुण्णशत्रुः व्यापादितारिः, सा का यस्याः पादो विष्णोः पादपद्मं इति हसति, कया कृत्वा, नखानां कान्त्या, किं कुर्व्वन्, सुररिपुं हन्तुं सगर्व्वं यथा भवति तथा उद्यन् ऊर्द्ध्वं गच्छन्, उद्यदिति पादपद्मविशेषणं वा उद्यच्च तत्सगर्वं च उद्यत्सगर्वं, किंलक्षणं विष्णोः पादपद्मं बलनियमविधौ कैतवेन कपटेन वामनतया पदत्रययाच्ञाकपटेन त्रिः त्रीन् वारान् उद्गतं, नियमनं नियमः, बलेर्नियमो बलिनियमः तस्य विधिस्तस्मिन्, इतीति किं, अहं तु एकेनैवोद्गमेन ऊर्ध्वगमनेन असुरं दैत्यं प्रविलयं नाशं प्रापयामि, परं क्षिप्रं शीघ्रमेव, तत्र त्रिरुद्गमनं कपटनियमनं, च, अत्र तु एक एवोद्गमः, प्रकृष्टं हननं क्षिप्रमिति हासे कारणम् ॥९०॥

सं०व्या०–९०. एकेनैवोद्गतेनेति ॥ पाद एव पद्मं पादपद्मं, नियमनं नियमो, बलेर्नियमस्तस्य विधौ बलिनियमविधौ वैरोचनिबन्धनविधाने विष्णोः कृष्णस्य पादपद्मं चरणसरोजः(जं) त्रिः त्रीन् कैतवेन शाठ्येन उद्गतं ऊर्ध्वं गतं, अहं तु थक्कयमकेनैवाजमेन(?) ऊर्ध्वं गमनेन प्रलयं विनाशं असुरं प्रापयामीति, अत एव पादश्चरणो नखानां कान्त्या सह विबुधरिपुं देवशत्रुं महिषं हन्तुं व्यापादयितुं सगर्वं साभिमानं यथा भवत्येवं ऊर्ध्वमगच्छत् उद्यत्, सा पार्वती पर्वतपुत्री वो युष्माकं रिपूणां विपद आपदो वितरतु ददातु, किंभूता पार्वती, क्षुण्णशत्रुः क्षुण्णः संपिष्टः शत्रुर्ययेति विग्रहः, अत्रोद्यदिति लुड्वद्वृबुह्याद्योग (लुड्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्त) इत्यडागमः प्राप्नोति शत्रुं आगमेप्सितानि त्वन्यमिति (नित्यमिति) वचनं भवति यथा मातेरिट् भवति, यथायं पक्षः क्लिष्टः शिष्टेभ्यो न रोचते तथा पाठान्तरेण केनाप्याद्या व्याख्या कर्तव्या अस्माभिस्तु यथादृष्टं व्याख्यातमिति ॥९०॥

---

१. ज. एकेनैवोद्गतेन । २. का. प्रविजयमपरमिति टिप्पणे । ३. ज. सह विबुधरिपुं । ४. ज. उद्यत् । ४. का. बलिनियमविधावुद्धृतं । ५. ज. का. क्षिप्रं । ६. का. विपदं ।

खट्वाङ्गं खड्गयुक्तं[1] युवतिरपि विभो ते शरीरार्द्धलीना
लब्धं प्रागेव हास्यं[2] सुरजनसमितौ दुःकृतेन त्वयैवम् ।
याता[3] भूयोऽपि लज्जा रणत इयमलं हास्यता शूलभर्त्त-
र्दर्प्पादेवं हसन्तं भवमसुरमुमा[4] निघ्नती त्रायतां वः ॥६१॥

कुं० वृ०—इत्थं वक्ष्यमाणं अमुना प्रकारेण दर्प्पात् भवं हसन्तं असुरं निघ्नती उमा वस्त्रायतां, कथं भवं हसन्तं तदाह, हे विभो ! त्वया सुरजनसमितौ देवजनस्थाने देवसभायां एवं दुष्कृतेन दुश्चेष्टितेन प्रागेव हास्यं लब्धं, किं तद्दुश्चेष्टितं तदाह, खट्वाङ्गं खड्गयुक्तं खट्वाया अङ्गं, तदेव खड्गयुक्तं खड्गमुष्टिस्थानीयं खट्वाङ्गं, नरकपालः प्रेतनरशरीरास्थिपञ्जरः, एकं हास्यं; अन्यच्च, युवतिरपि स्त्री ते न च (तव) शरीरार्द्धलीना, शरीरार्द्धे लीना एतदेव विकृतं रूपं हास्यहेतुः; परन्तु, हे शूलभर्तः शूलधर ! तव रणतो यातो गच्छतो या लज्जा इयं भूयोऽपि अलं हास्यता अत्यर्थं हास्यता; अथवा, इय भूयोऽपि या हास्यता तया अलं पूर्यतां एका एवास्तु ॥६१॥

सं०व्या०—६१. खड्गमिति ॥ असुरं महिषं निघ्नती पातयन्ती उमा गौरी वो युष्मान् त्रायतां रक्षतु, किं कुर्वन्तं असुरं निघ्नती, एवमित्थं दर्पेण भवं शङ्करं हसन्ती (तं), कथं हसन्तमित्याह, खड्गं खट्वाङ्गयुक्तमित्यादि, हे शूलभर्तः ! हे शूलधर ! प्रागेव पूर्वमेव हास्यं त्वया भवता लब्धं प्राप्तं, क्व सुरजनसमितौ सुरलोकसभायां, एवमित्थं दुष्कृतेन दुश्चेष्टितेन, कथं दुष्कृतमिदमाह, खड्गं खट्वाङ्गयुक्तमित्यादि, खट्वस्याङ्गं (?) खट्वाङ्गं दक्षिणेन पाणिना न युक्तं संबद्धं खड्गं कृपाणः, युवतिरपि तरुण्यपि तव विभोः शरीरार्द्धलीना शरीरस्यार्द्धे श्लिष्टा तदेव दुष्कृतं अतश्च हास्यं प्रागेव [दुष्टा-] चरणात् त्वया लब्धमिति, रणतो रणात् याताऽपगता भवता च या पुनरपि लज्जा त्रपा अलमित्यर्थः, हास्यता हास्यमिति ॥६१॥

---

१ ज. का. खड्गं खट्वाङ्गयुक्तं; गङ्गा मौलौ विलग्ना युवतिरिति पाठः का. प्रतौ टिप्पणे ज. प्रतौ च पार्श्वे दृश्यते।

२. ज. का. हास्यं प्रागेव लब्धं; ०लग्नमिति का. टिप्पणे।

३. ज. का. जाता।

४. ज. हरमसुरमुमा।

स्थाणौ कण्डूविनोदो नुदति[1] दिनकृतस्तेजसा तापितं न[2]
तोयस्थाने[3] न वाप्तं[4] सुखमधिकतरं गाहने नाङ्गजातम् ।
शून्यायां युद्धभूमौ वदति हि धिगिदं माहिषं रूपमेवं[5]
रुद्राण्याऽरोपितो वः सुखयतु महिषे प्राणहृत् पादपद्मः ॥९२॥

कु०वृ०—रुद्राण्याः पादपद्मो वो युष्मान् सुखयतु, किंलक्षणः पादपद्मः, पद्मशब्दो वा पुंसि पद्ममिति पुँल्लिङ्गः, किंविशिष्टः पादपद्मः, रुद्राण्या रुद्रशक्त्या रुद्रभार्यया महिषे[42a]आरोपितः, किंलक्षणः पादपद्मः, प्राणहृत् प्राणान् हरतीति प्राणहृत् मरणदाता अर्थान्महिषस्य, किंलक्षणे महिषे शून्यायामिति रुद्रादिरहितायां युद्धभूमौ एवं वदति सति, एवमिति किं, इदं नोऽस्माकं माहिषं रूपं धिक्, अस्माकमिति बहुरूपापेक्षया बहुवचनं, एकस्य निन्दनादितरसद्भावो द्योत्यते; तथा च, न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्त्तते किन्तु निन्द्यादितरं स्तोतुं इति न्यायात्, माहिषमिति धिग्योगे द्वितीया, कथं निन्द्यमिति तदेव विवृण्वन्नाह, महिषस्य खलु व्यसनद्वयं भवति, स्थाण्वादौ घर्षणेन कण्डूविनोदोऽनु च कर्द्दमलोलनञ्च, तच्च यदैकत्रोभयमापद्यते तदा सुखाय भवति, व्यस्तं सत् विपर्यासाय, इदं च विरुद्धद्विकं, स्थाणोः स्थलाश्रयत्वात् तोयस्थानस्य जलाश्रयत्वं, सार्वजनीनत्वेन निगदव्याख्यानं, तच्च माहिषरूपे विषमां दशां आवहतीत्युच्यते, कण्डूविनोदो नोऽङ्गजातं सर्वाण्यङ्गानि इति समूह्यार्थं अङ्गजातमिति प्रयोगः, अङ्गजातं स्थाणौ स्थाणुविषये नुदति प्रेरयति, कण्डूं ज्ञात्वा तद्विनोदार्थं स्थाणुं प्रति यामीति विनोद एव प्रेरणकर्त्तृत्वेन प्रतीयते, इदं कृत्वा अचेतनस्य कथं प्रेरणकर्त्तृत्वं इति न पर्यनुयोज्यं, अचेतनस्य क्षीरादेः प्रवृत्तेर्दर्शनात्; अनु च सुखकर्तृ तदेवाङ्गजातं तोयस्थाने नुदति, तोयस्य स्थानं तोयस्थानं सान्द्रकर्द्दमो देशः अधिकतरं गाहनेन विलोडनेन अनवाप्तं अप्राप्तमिति यावत्, किंविशिष्टं अङ्गजातं दिनकृतस्तेजसा तापितं, अवितप्तस्य जलावगाहात् क्षणं तापप्राचुर्योपलब्धेः, एवं विषममवस्थानं अवगाहमाने तस्मिन् रुद्राण्या पादपद्मो न्यधायीति तस्मै द्वयमेकस्थं प्रभवति, पादः स्थाणुरूपः कण्डूं विनुदति तस्य च पद्मत्वं तोयस्थानत्वेन शैत्यापादनार्थं, एवं सति भवान्यामपि तद्वैषम्यविघाताय प्रवृत्तायां महतामधिक्षेपो न कार्य इति महाजनाचारपरम्परातिक्रमलक्षणपातात्, लाभार्थं

---

१. का. कण्डूविनोदान्नुदतीति टिप्पणे। २. का० नो; नः, वश्चेति पादे। ३. स्थैर्यस्थाने इति प्रतौ। ४. का. चाप्तं। ५. ज. का. रूपमेकं।

प्रयतमानस्य तस्य मूलमपि विनष्टं यतः स एव पादपद्मः प्राणहरो जातः; अत्र रुद्राण्येति पदं हरनिन्दार्थं प्रवृत्ते तस्मिन् सकोपायां औचित्यमावहतीति औचित्यालङ्कारः, स्थाणुः कीलको हरश्च तोयस्य स्थानमिति, अथवा तोयं स्थानमस्येति बहुव्रीहिः; तथा तोयस्थानं पङ्कः पद्मश्चेति श्लेषालङ्कारोऽपि विरोधव्यतिरेकौ चेति ॥९२॥

सं०व्या०–९२. स्थाणाविति ॥ स्थाणौ शङ्करे छलपक्षे खुंटे नुदति प्रेरयति सति, नोऽस्माकं नवकण्डूविनोदः कण्ड्वा व्युदास इति एतदुक्तं भवति, यो हि स्थाणुः स्थिरो न भज्यते न च नमति तत्र कण्डूविनोदोऽयं तु न तथाविध इति अङ्गानि पादादीनि तेषां जातं समूहोऽङ्गजातं नोऽस्माकं दिनकृततेजसा आदित्यतेजसा तापितं दग्धं, तोयस्थानेनाधिकतरं पटुतरं सुखमाप्तं धिगिदं निन्दिततममेतन्माहिषं रूपं हि स्फुटमस्माकमेवमित्थं युद्धभूमौ रणभुवि शङ्करादिरहितायां वदति क्वाणे ?)महिषे महिषासुरे रुद्रपत्न्या आरोपितो न्यस्तः प्राणहृत् प्राणहरः पादपद्मः चरणपङ्कजः वो युष्मान् सुखयतु सुखिनः करोतु, रुद्राण्येव रुद्रः भूतः मुढानामामुकतेति ('इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्' इति ङीप्) ङीप् ॥९२॥

पिंषन् शैलेन्द्रकल्पं महिषमतिगुरुर्भग्नगीर्वाणगर्व्वः[१]
शम्भोर्यातो[२] लघीयान्[३] श्रमरहितवपुर्दूरमभ्यूह्यपातः[४] ।
वामो देवारिपृष्ठे कनकगिरिसदां क्षेमकारोंऽह्रिपद्मो[५]
यस्या दुर्वार एवं विविधगुणगतिः साऽवतादम्बिका वः ॥९३॥

कु०वृ० – सा अम्बिका वोऽवतात्, सा का यस्या वामांऽह्रिपद्मोऽत्र एवं विविधगुणगतिः, विविधा गु(42b)णानां गतिर्यस्य स तथा, कथं तदाह विशेषणद्वारा, किंविशिष्टः पादपद्मः अतिगुरुः अतिशयेन गरीयान्, किं कुर्व्वन् शैलेन्द्रकल्पं महिषं पिंषन् सञ्चूर्णयन्, शैलानामिन्द्रः शैलेन्द्रः ईषदपरिसमाप्तः शैलेन्द्रः शैलेन्द्रकल्पस्तं हिमाद्रेः किञ्चिन्न्यूनं, पुनः किंविशिष्टं भग्नो गीर्वाणानां गर्वो येन, अत्र महिषं पिंषता देवगर्वो भग्न इति विविधत्वं, अन्यदारभतो अन्यत्कृतं

१. का० भग्नगीर्वाणगर्वं; शीर्णगीर्वाणगर्वमिति विशेषः पाठः ।

२. ज० का० जातो ।

३. गरीयानिति का० टिप्पणे ।

४. का० वपुर्न्यस्त उत्पात्य कोपादिति टिप्पण्याम् ।

५. का० क्षेमकारो हि यस्याः पादोऽतुल्यप्रभाव इति विशेषः पाठः प्रदर्शितः ।

दृश्यते, कस्य सतः शम्भोः पश्यतः सतः, अत्राऽपि विविधत्वं; शम्भोर्देवनाथस्य पश्यतो देवानां गर्वभञ्जनं, पुनः किंविशिष्टः लघीयान् सन् दूरं यातः; गुरोर्दूरगमनासम्भवे दूरगमनाऽनुमितं लघुत्वं, अत्राऽपि गुरोर्लघिमेति विविधत्वं, पुनः किंविशिष्टः श्रमरहिततनुः अत्राऽपि यो दूरं याति स श्रमं प्राप्नोत्येव, अस्य च श्रमो नास्ति, पुनः किंविशिष्टः, अभ्यूह्यपातः अभ्यूह्योऽभ्यूहनीयः पातः पतनं यस्य, यस्तु दूरं यात इति दृश्यते योऽनुमेयगमन इति विविधत्वं, किंविशिष्टः वामः प्रतिकूलः इहापि यः प्रतिकूलः स देवारिपृष्ठे कथं यातीति चित्रं, पुनः किंविशिष्टः देवारिपृष्ठे वर्त्तमानः, पुनः किंविशिष्टः कनकगिरिसदां क्षेमकारः कनकगिरौ मेरौ सीदन्तीति तेषां क्षेमकारः, क्षेमं करोतीति क्षेमकारः, इहापि अन्यत्र वर्त्तमानोऽन्येषां क्षेमकर्तेति चित्रं, पुनः किंविशिष्टः, दुर्वारः न केनापि निवारयितुं शक्यः अत्राऽपि यः पद्मो भवति पदे माति पदा मीयते वा इति पद्मः, इति कृत्वा स दुर्वारः कथं भवति, अथ 'वारष्टाबन्तत्वात्' दुर्गतवारत्वमिति दुर्गतजलत्वं न सम्भाव्यते पद्मस्येति निरोधनात् सोऽलङ्कारः, अतो विचित्रगुणप्रतिपत्तिश्चरणो वः पायादिति वाक्यार्थः ॥६३॥

सं०व्या० ६३.—पिंषन्निति ॥ सा अम्बिका गौरी वो युष्मान् अवतात् रक्षतु, यस्या दुर्वारोऽङ्घ्रिपद्मश्चरणपङ्कज एवमित्थं विविधगुणगतिः, विविधा बहुप्रकारा गुणगतिः प्रतिपत्तिर्यत्र स तथोक्तः, कथं विविधगुणगतिस्तदुच्यते, पिंषच्छैलेन्द्रकल्पमित्यादि, यस्या अङ्घ्रिपद्मः अतिगुरुरतिशयेन गुरुः, किं कुर्वन् पिंषन् चूर्णयन् महिषं शैलेन्द्रकल्पं महीन्द्रतुल्यं, पुनरपि किंविशिष्टो भग्नगीर्वाणगर्वः, गीर्वाणा देवास्तेषां गर्वो अभिमानो भग्नो गीर्वाणगर्वो येन स तथोक्तः एतदपि गुरुत्वस्यैव लक्षणं यत् परभङ्गकरणं, शम्भोः शङ्करस्य लघीयान् लघुवरो जातोऽङ्घ्रिपद्मः कीदृशः श्रमरहितवपुः श्रमेण रहितो वपुर्यस्येति विग्रहः, पुनः किंविशिष्टो दूरमभ्यूह्यपातः, दूरं यथा भवत्येवं अभ्यूह्योऽभ्यूहनीयः पातो गतिर्हि यस्येति विग्रहः, यो हि गुरुर्भवति स श्राम्यति दूरं न च याति, अयं तु श्रमरहितवपुर्दूरं याति अत एव शम्भोर्लघुतरत्वबुद्धिः सन् वामः प्रतिकूलो देवारिपृष्ठे महिषस्य पृष्ठे अंह्रिपद्मः कनकगिरिर्मेरुस्तत्र सीदन्ति चरन्ते ये तेषां कनकगिरिसदां देवानां क्षेमकारी इत्येवं विविधगुणगतिर्व्याख्यातोऽर्थः ॥६३॥

मार्गं शीतांशुभाजां सरभसमलघु हन्तुमुद्यन् सुरारिं
नेत्रैरुद्वृत्तपत्रैः[1] सचकितमसुरैरुन्मुखैर्वीक्ष्यमाणः[2] ।
यस्या वामो महीयान् मुदितसुरमनाः प्राणहृत् पादपद्मः
प्राप्तस्तन्मूर्धसीमां सुखयतु भवतः सा भवानी हतारिः ॥९४॥

कुं०वृ०—सा हतारिर्व्यापादितशत्रुर्भवानी वः सुखयतु, सा का यस्या वामपादपद्मः मुदितसुरमना आसीत्, मुदितानि सुराणां मनांसि येन स तथा, किंविशिष्टः तन्मूर्द्धसीमां प्राप्तः, तस्य महिषस्य मूर्द्धा तस्य सीमा तां अत एव प्राणहृत् अर्थान्महिषस्य प्राणहरः, पुनः किंविशिष्टः महीयान् महत्तरः, पुनः किंविशिष्टः सुरारिं हन्तुं शीतांशुभाजां नक्षत्राणां मार्गं उद्यन् उद्गच्छन्, कथं यथा भवति सरभसं यथा भवति तथा, किंविशिष्टं नक्षत्रमार्गं, अलघु आकाशस्य महत्परिमाणत्वात्, किंविशिष्टं सचकितं यथा भवति तथा असुरैः ईक्ष्यमाणः, किंविशिष्टैरसुरैः, उन्मुखैरूर्द्ध्ववक्त्रैः, कैः नेत्रैः, किंविशिष्टैः उद्वृत्तपत्रैः उद्वृत्तानि ऊर्द्ध्वं वलितानि पत्राणि पक्ष्मदेशा येषां तानि ॥९४॥

सं०व्या० ९४.-मार्गमिति ॥ हतोऽरिर्महिषो यया सा हतारिः भवानी भवपत्नी वो युष्मान् सुखयतु सुखिनः करोतु, यस्या वामः दक्षिणेतरो महीयान् महत्तरः प्राणहृत् प्राणान् हरिष्टान् पादपद्मश्चरणसरोजो मूर्द्धसीमां तदीयाशिखरावधि प्राप्तो गतः, किंभूतो मुदितसुरमनाः मुदितानि हृष्टानि सुराणां मनांसि येन स तथोक्तः यत एव महिषस्य प्राणहृत् पादपद्मस्तत एव मुदितसुरमनाः, किं कुर्वन् तन्मूर्द्धसीमां प्राप्तः सुरारिं देवशत्रुं अलघुं महान्तं सरभसं सोत्कर्षं हन्तुं उद्यत् उत्पतत् कं मार्गं पन्थानं, केषां शीतांशुभाजां नक्षत्राणां शीतांशुं भजन्तीति, 'भजेः विण्', किं क्रियमाणोऽङ्घ्रिपद्मः उद्यत् उत्पतत् वीक्ष्यमाणो विलोक्यमानः, कैः अमरैर्देवैः उन्मुखैरूर्द्ध्वमुखैः सचकितं यथा भवत्येवं, कैः करणभूतैर्वीक्ष्यमाणो नेत्रैः नयनैः उद्वृत्ततारैः उत् ऊर्ध्वं वृत्तानि तारकाणि येषां ते इति विग्रहः ॥९४॥

---

१. ज० का० नेत्रैरुद्वृत्ततारैः ।

२. ज. सचकितममरैरुन्मुखैर्वीक्ष्यमाणः ।

मूर्द्धन्याघातभुग्ने[1] मिषमहिषतनुः[2] सन्नतः शब्दकण्ठः[3]
शोणाब्जाताम्रकान्तिप्रततघनबृहन्मण्डले[4] पादपद्मे ।
यस्या लेभे सुरारिर्मधुरसनिभृत[5]द्वादशार्द्धाङ्घ्रिलीलां
शर्वाणी पातु सा वस्त्रिभुवनभयहृत्स्वर्गिभिः[6] स्तूयमाना ॥९५॥

कुं०वृ०—सा स्वर्गिभिर्देवैः स्तूय(43a)यमाना भवानी वः पातु, किंविधा त्रिभुवनभयहृत् त्रिभुवनभयहर्त्री, यस्याः पादपद्मे सुररिपुमधुरसनिभृतद्वादशार्द्धाङ्घ्रिलीलां लेभे, मधुरसे निभृतो निश्चलो यो द्वादशार्द्धाङ्घ्रिः षट्पदः तस्य विलासं शोभां लेभे; किंलक्षणे पादपद्मे, शोणं च तदब्जं च रक्तोत्पलं तस्येवाताम्रा रक्ता कान्तिर्यस्य तत् तथा, प्रततं प्रकर्षेण विस्तीर्णं घनं निबिडं बृहत् मण्डलं आभोगो यस्य तत् शोणाब्जाताम्रकान्तिप्रततघनबृहन्मण्डलं च तत्तथा। तस्मिन्, किंविशिष्टः सुरारिः मिषमहिषतनुः व्याजमहिषरूपः, पुनः किंभूतः सन्नतः सम्यङ्नम्रः शब्दकण्ठः अर्द्धनिःसृतः शब्दः कण्ठे यस्य, स्थिरा भव इति अर्द्धनिःसृता वाक्, निपातितः क्व सति मूर्द्धनि आघातेन पादप्रहारेण नम्रे सति, एवं सति सुरैः स्तूयमाना शर्वाणी वः पायादिति वाक्यार्थः ॥९५॥

सं०व्या०—९५. मूर्धन्यापातभुग्न इति ।। शर्वाणी शर्वपत्नी त्रिभुवनभयहृत् त्रैलोक्यभयहरा स्वर्गिभिः देवैः स्तूयमाना वो युष्मान् पातु रक्षतु, मिषेण तनुर्मिषतनुः व्याजशरीरः, मिषतनुश्चासौ महिषश्च मिषतनुमहिषः सुरारिर्यस्याः पादपद्मे लब्धवान् मधुपसुनिभृतद्वादशार्धाङ्घ्रिलीलां, द्वादशानां अर्द्धं द्वादशार्द्धं षड् अङ्घ्रयो यस्य स द्वादशा[र्धा]ङ्घ्रिः, मधु पिबतीति मधुपः, सुष्ठु निभृतः सुनिभृतः मधुपश्चासौ निभृतश्च सुविनीतो द्वादशा[र्द्धा]ङ्घ्रिस्तस्य लीलां विलासं प्राप्तवान्, किंविशिष्टे पादपद्मे शोणाब्जाताम्रकान्तिप्रततघनमहन्मण्डले, शोणं च तत् अब्जं शोणाब्जं रक्तोत्पलं शोणाब्जस्येवाताम्रा कान्तिर्यस्य तत् शोणाब्जाताम्रकान्ति, प्रततं प्रकर्षेण विस्तीर्णं, घनं निबिडं महद्बृहन्मण्डलं आभोगो यस्य पादपद्मस्य तत् तथोक्तं, क्व सति मूर्ध्न्यापातभुग्ने सति आपातेना-

१. का० भग्ने; ज० मूर्धन्यापातभुग्ने ।
२. ज. मिषतनुमहिषः; सुरमहिषतुनुरिति का. टिप्पणे ।
३. ज० का० सन्ननिःशब्दकण्ठः ।
४. ज० शोणाब्जाताम्रकान्तिप्रततघनमहन्मण्डले ।
५. ज० मधुपसुनिभृत० ।
६. ज० सर्वत्रिभुवनभयहृत् ।

हननेन भुग्नं कुटिलीभूतं आपातभुग्नस्तस्मिन् आपातभुग्ने सति मूर्ध्नि शिरसि, पुनरपि किंविशिष्टः निःशब्दकण्ठः निःशब्दो विगतशब्दः कण्ठो यस्येति विग्रहः ॥ ९५ ॥

पादोत्क्षेपाद्व्रजद्भिर्नखकिरणशतैर्भूषितश्चन्द्रगौरै-
मूर्द्धाग्रे वापतद्भिश्चरणतलगतैरंशुभिः[1] पद्मशोणः[2]।
सन्न्यस्तालीनरत्नप्रविरचितकरैश्चर्चितः क्षिप्तकायै-
र्यस्या देवैः प्रणीतो हविरिव महिषः साऽवतादम्बिका वः ॥९६॥

कु०वृ०—साऽम्बिका वोऽवतात्, सा का यस्याः मूर्द्धाग्रे देवैर्महिषः प्रणीतः उपनीतः, किमिव हविरिव सुसंस्कृत उपहार इव, किंभूतं हविर्महिषश्च, उभयोः साधर्म्यमाह, नखकिरणशतैर्भूषितः नखानां किरणास्तेषां शतानि तैः, किंभूतैः नखकिरणशतैः, पादोत्क्षेपात् चरणस्य ऊर्ध्वं नयनात् उद्गच्छद्भिः, किंभूतैश्चन्द्रगौरैः चन्द्रोज्वलैः; अनु च, मूर्द्धाग्रे आपतद्भिः आगच्छद्भिः चरणतलगतैरंशुभिः किरणैः पद्मशोणः पद्मवदारक्तः, चरणतलस्य रक्तत्वात् रक्तांशुमत्त्वं; अनु च, सन्न्यस्तालीनरत्नप्रविरचितकरैश्चर्चितः पूजितः, सम्यङ् न्यस्तानि अत एव आलीनानि रत्नानि येषु ते तथा तथा प्रविरचिता विभागेन विरचिताः कराः प्रविरचितकराः सन्न्यस्तालीनरत्नाश्च ते प्रविरचितकराश्च तैस्तथा, किंविशिष्टैर्देवैः, क्षिप्तकायैः क्षिप्तो दण्डवत् कायो यैस्ते, तथा हविरिव उपकल्प्यमानो महिषो वा कुंकुमचन्दनादिना रक्तश्वेतो भवति पुष्पैश्चर्चितो भवति, विभूषितो बलिर्देय इति च, एवं महिषोपहारतुष्टा भवानी युष्मभ्यं तुष्टिं ददातु इति वाक्यार्थः ॥९६।

सं०व्या०—९६. पादोत्क्षेपादिति ॥ यस्या अम्बिकाया देवैर्हविरिव संस्कृतं हव्यमिव महिषश्चर्च्चितः उक्तप्रकारेण पादतलेन नखरत्नधवलप्रभाभिरिव लिप्तः प्रणीतः उपनीतः सा अम्बिका गौरी वो युष्मान् अवतात् रक्षतु, किंविशिष्टैः देवैः सन्न्यस्तालीनरत्नप्रविरचितकरैः क्षिप्तकायैः, सन्न्यस्तानि रत्नानि आलीनानि आलिप्तानि सन्न्यस्तालीनरत्नानि तैः प्रविरचिता आभूषिताः करा येषां तैः तथोक्तास्तैः, वामं न्यस्तानि त्यक्तानि आलीनानि आलिप्तानि रत्नानि यैस्तैः तथोक्तैः, क्षिप्तो निहतः कायो यैरिति विग्रहः महिषापमानादिति भावः, किंविशिष्टो महिषः पादस्योत्क्षेपः ऊर्ध्वप्रेरणं पादोत्क्षेपस्तस्मात् पादोत्क्षेपात् व्रजद्भिर्नखकिरणशतैश्चन्द्रगौरैः चन्द्रवदावदातैर्भूषितोऽलङ्कृतः, पुनरपि किंविशिष्टः

---

१. का. मूर्धाग्रे चापतद्भिश्चरणतलगतैरंशुभिः।
२. का. शोणशोभः।

पद्मशोण: पद्मवदारक्त: मूर्द्धाग्रे चकार पूर्वापेक्षया समुच्चकै: पद्मशोणश्चरणतलगतै: पादतलवर्तिभि: किरणैरापतद्भिरागच्छद्भिरित्यर्थ:, एतदुक्तं भवति यो महिषो देव्यै दीयते स मूर्द्धाग्रे च सालक्ष(क्त)त:(क) पद्मशोणो भवति असावपि नखकिरणप्रभाभिस्तथाविध इति ॥६६॥

क्वायं [1]तीक्ष्णाग्रधाराशतनिशितवपुर्वज्ररूपः सुरारिः
पादश्चायं सरोजद्युतिरनतिगुरुर्योषितः[2] क्वेति देव्याः ।
ध्यायं ध्यायं[3] स्तुतो यः सुररिपुमथने विस्मयाविद्धचित्तैः[4]
पार्वत्याः सोऽवताद्वस्त्रिभुवनगुरुभिः सादरं वन्द्यमानः[5] ॥६७॥

कुं०वृ०—स: पार्वत्याश्चरणो वो युष्मान् अवतात्, किंभूत: त्रिभुवनगुरुभिर्ब्रह्माद्यै: सादरं यथा भवति तथा वन्द्यमान:, पुन: किंविशिष्ट: य: सुररिपुमथने दैत्यमर्द्दने विस्मयाविद्धचित्तैस्तै: आश्चर्याविष्टचित्तै: [43b] इति ध्यायं ध्यायं ध्यात्वा ध्यात्वा स्तुत:; इतीति किं, अयं सुरारि: क्व, अनु च, अयं देव्याश्चरण: क्व, महदन्तरमनयोरित्यर्थ:, किंभूत: सुरारि: तीक्ष्णाग्रधाराशतनिशितवपुर्वज्ररूप: तीक्ष्णाग्राणि यानि धाराशतानि तैर्निशितं, वपुर्यस्य स चासौ वज्रश्च तीक्ष्णाग्रधाराशतनिशितवपुर्वज्र: प्रकृष्टत्वेन तत्सदृश:, प्रकृष्टे रूपेऽप्, अतिकठोरतनुरित्यर्थ; चरणश्च किंभूत: योषित: सम्बन्धी स्वभावकोमल: अतिगुरुश्च सरोजद्युति: सुकुमारतरत्वादनयोर्महति अन्तरेऽपि सुकुमारेण कठोरहननं आश्चर्यभूमिरिति विस्मितैर्ब्रह्मादिभि: स्तुत इत्यर्थ: ॥६७॥

सं०व्या०—६७. क्वायमिति ॥ त्रिभुवनगुरुभिस्त्रैलोक्याराध्यैर्ब्रह्मादिभिर्देव्या: पार्वत्या: सम्बन्धी य: पाद: इत्येवं ध्यायं ध्यायं ध्यात्वा ध्यात्वा सुररिपुमथने महिषवधे स्तुत: प्रशंसित: सादरमादरेण वन्द्यमान: प्रणम्यमानो वो युष्मान् अवतात् रक्षतु, कथं ध्यायं ध्यायं य: स्तुत इत्याह, क्वायं तीक्ष्णाग्रेत्यादि, क्वायं वज्ररूप: सुरारिर्देवशत्रुर्वज्रस्य रूपमस्येति विग्रह:, किंविशिष्ट: तीक्ष्णाग्रधाराशतनिशितवपु:, तीक्ष्णं अग्रं येषां तानि तीक्ष्णाग्राणि धाराणां शतानि धाराशतानि, तीक्ष्णाग्राणि च तानि धाराशतानीति तीक्ष्णाग्रधाराशतानि, तैर्निशितं तीक्ष्णं

१. का. तीक्ष्णोग्रधारा० ।
२. का. अमरगुरोर्योषित:, इति टिप्पणे ।
३. का. टिप्पणे 'ध्यात्वा ध्यात्वा' ।
४. का. विस्मयाबद्धचित्तै:
५. का. वीक्ष्यमाण: वन्दितायाश्चेति पाठद्वयं पादे प्रदर्शितम् ।

वपुः शरीरं यस्य स तीक्ष्णाग्रधाराशतनिशितवपुः, वज्रोऽप्येवंविध एव, पादश्चायं योषितः स्त्रियः, स कथंभूतः, सरोजद्युतिरनतिगुरुः सरोजस्येव द्युतिरस्येति विग्रहः, अतीवगुरुः अतिगुरुः न अतिगुरुः अनतिगुरुः, एवंविधोऽपि महिषो देव्या इत्थंभूतेनापि चरणेन मथित इति त्रिभुवनगुरूणां विस्मयः ॥९७॥

वज्रित्वं वज्रपाणेर्दितितनयभिदः[1] शार्ङ्गिणश्चक्रकृत्यं[2]

शूलित्वं शूलभर्तुः सुरसमितिविभोः[3] शक्तिता षण्मुखस्य ।

यस्याः पादेन सर्व्वं कृतममररिपोर्बाधयैतत्सुराणां

रुद्राणी पातु सा वो दनुविफलयुधां स्वर्गिणां क्षेमकारी ॥९८॥

कुं०वृ०-सा रुद्राणी वः पातु, किंभूता दनुविफलयुधां दानवेषु विफलसंप्रहाराणां स्वर्गिणां क्षेमकारी, क्षेमं करोतीति क्षेमप्रियमद्रेष्विति अण्, टिड्ढाणञ् इति ङीषि रूपं, सा का, यस्याः पादेन अमररिपोर्बाधया सुराणां सर्व्वमेतत्कृतं, किं तदित्याह वज्रपाणेरिन्द्रस्य वज्रित्वं महिषे हते जातं, सति तु न वज्रं बभारेत्यर्थः, दितितनयभिदो दैत्यद्रुहः शार्ङ्गिणः चक्रित्वं चक्रकृत्यं चक्रकार्यं, अनु च, सुरमसित्ये(तौ)देवसभायां विभोर्महेश्वरस्य शूलभर्तुरपि शूलिकार्यकारित्वं तथा षण्मुखस्य कार्तिकेयस्य शक्तिमत्त्वं, एताः सर्व्वाः संज्ञा गुणतो महिषं हत्वैव यस्याश्चरणेन सुराणां विहिता सा वः पातु इति फलितार्थः, वज्रत्वं वज्रपाणौ शूलत्वं इति च पाठान्तरे अकारोऽत्र मत्त्वर्थीय. कल्पनीयः । ९८॥

सं०व्या०-९८. वज्रित्वमिति ॥ सुराणां रिपु सुररिपुः तस्य सुररिपोर्दितितनयभृतः दैत्यबालस्य बाधया पीडया यस्याः पादेनाङ्घ्रिणा सुराणां सर्वमेतत्कृतं निर्वर्तितं सा रुद्राणी रुद्रपत्नी वो युष्मान् पातु रक्षतु, किंविशिष्टानां दनुविफलयुधां दनुषु दनुजेषु विफलं निष्फलं युद्धं येषां ते तथोक्तास्तेषामिति विग्रहः, किं तस्य कृतमित्याकाङ्क्षायां आह, वज्रित्वं वज्रपाणेरित्यादि, वज्रित्वं वज्रभावो वज्रपाणेः इन्द्रस्य, चक्रकृत्य रथाङ्गकार्यं शार्ङ्गिणो विष्णोः, शूलित्वं शूलभावोऽपि शूलभर्तुः शूलधरस्य, सुराणां समितिः सभा सुरसमितिस्तस्या विभोः स्वामिनः षण्मुखस्य स्कन्दस्य शक्तिता शक्तिभावः कृतः इति सम्बन्धः, एतदुक्तं भवति वज्रादिभिः शत्रूणां वधः क्रियते साध्यते (तत्) कर्तुमशक्ता देव्याश्चरणेन कृतवन्तः अतश्चेन्द्रादीनां वज्रिभावोऽपगत इति ॥९८॥

---

१. ज. दितितनुजभृतः; दितिदनुजभिद इति पार्श्वे, का. प्रतौ टिप्पण्याञ्च ।

२. का. चक्रिणश्चक्रकृत्य ।

३. ज. का. सुरकटकविभोरित्यतिरिक्तः पाठः ।

पङ्गुर्नेता हरीणामसमहरियुतः स्यन्दनश्चैकचक्रो
भानोः सामग्र्यपेतः कृत इति विधिना त्यक्तवैरः पतङ्गे ।
दर्प्पाद्भ्राम्यन् रणक्ष्मां प्रतिभटसमराश्लेषलुब्धः सुरारि-
र्यस्याः पादेन नीतः पितृपतिसदनं साऽवतादम्बिका वः ॥९९॥

कुं०वृ०—यस्याः पादेन प्रतिभटसमराश्लेषलुब्धः, भटं भटं प्रतिभटं यः समरः संयोगः तत्र लुब्धो गृध्नुः सन् दर्प्पात् रणभूमिं भ्राम्यन् सुरारिर्यमसदनं नीतः साऽम्बिका वोऽवतु किंभूतः सुरारिः, पतङ्गे सूर्ये त्यक्तवैरः, त्यक्तं वैरं येन, कुत इति हेतोः, इतीति किं, विधिना ब्रह्मणा भानोः स्यन्दनो रथः सामग्र्यपेतः सामग्रीविकलः कृतः, हरीणां अश्वानां नेता सारथिः पङ्गुश्चरणहीनः, असमहरियुतो विषमाश्वयुक्तश्च; अनु च, एकचक्रोऽपि अन्यसुरान्तरेषु सत्स्वपि भानुग्रहणं सुरेषु भानोर्मुख्यत्वादेव ।९९।

स०व्या०—९९. पङ्गुर्नेतेति ॥ सा अम्बिका गौरी वो युष्मान् अवतात् रक्षतु; किं कुर्वन् [सुरारिः] भ्राम्यन् पर्यटन् रणक्ष्मां युद्धभूमिं, दर्पात् दर्पेण मदात्, किंभूतः प्रतिभटसमराश्लेषलुब्धः प्रतिभटं प्रति समराश्लेषो युद्ध-सम्बन्धी योगः तस्मिन् लुब्धो गृध्नः, अत एव त्यक्तवैरः, यस्याः पादेन सुररिपुर्महिषः पितृपतिर्यमः तस्य सदनं वेश्म नीतः प्रापितः इत्युक्तं, पतङ्गः सूर्यः तस्मिन् त्यक्तं वैरं येनेति विग्रहः, इदानीं भानोः मृदुत्वं प्रतिपादयन्नाह, पङ्गुर्नेतेत्यादि, हरीणामश्वानां नेता सारथिः अरुणः पङ्गुः [जङ्घाविकलः], स्यन्दनो रथः असमहरियुतः असमैर्विषमैः अश्वैर्युक्तः, पुनरेकचक्रः एकं चक्रं यस्येति विग्रहः, इत्येवं विधात्रा सामग्र्यपेतः सामग्र्याऽसम्पूर्णतया अपेतश्च्युतः कृतः युक्तः ।।९९।।

युक्तं तावद्गजानां प्रतिदिशमयनं[1] युद्धभूमेर्दिगीशां
हीयेताशागजत्वं सुभटरणयुधां[2] कर्म्मणा दारुणेन ।
[3]यत्वेषांस्थाणुसंज्ञो भयचकितदृशां[3] नश्यतीत्यद्भुतं तद्
दर्प्पादेवं हसन्तं सुररिपुमवताज्जिघ्नती पार्व्वती वः ॥१००॥

१. ज. का. प्रतिदिशगमनमिति पार्श्वे टिप्पणे च पाठः ।

२. ज. का. सुभटरणकृतां ।

३. ज. या चैषां स्थाणुसंज्ञा भयचकितदृशां; का. यद्येष स्थाणुसंज्ञो भयचकितदृशा ।

कुं०वृ०—दर्प्पात् एवं हसन्तं सुररिपुं निघ्नती पार्वती वोऽवतात्, [44a] एवं इति किं, युद्धभूमेः सकाशात् दिगीशां दिङ्नाथानां गजानां प्रतिदिशं अयनं गमनं तावत् युक्तं, साधु नश्यन्ति एते, सुभटरणयुधां एषां सुभटस्य रणे युध्यन्त इति सुभटरणयुधः तेषां तथा दारुणेन कर्म्मणा आशागजत्वं हीयेत, सुभटेन सङ्ग्रामे मरणं प्राप्तो दिग्गजत्वमेव याति, यतो मूलोच्छेदाय प्रवर्तन्ते साधवः, परं तु यच्च एषां मध्ये स्थाणुसंज्ञो न पश्यति एतदद्भुतं चित्रं, स्थाणुना निश्चलेन भाव्यं, किंविशिष्टानामेषां, भयचकितदृशां भयेन चकिता दृशो येषां भयचकितदृशां तेषां, एवं हसन्तं [सुरारिं] निघ्नती पार्व्वती युष्मान् अवतात्, इति रहस्यम् ॥१००॥

सं०व्या०—१००. युक्तं तावदिति ॥ सुराणां रिपुस्सुररिपुर्महिषस्तं निघ्नती पातयन्ती पार्वती पर्वतपुत्री वो युष्मान् अवतात् रक्षतु, किं कुर्वन्तं, दर्पात् दर्पेण एवमित्थं हसन्तं, कथं हसन्तमित्याह, युक्तं तावदित्यादि, दिक्षुर्दिशेत दिगीशास्तेषां दिगीशां दिक्प्रभूणां प्रतिदिशं दिशं प्रति अयनं गमनं युद्धभूमेः सकाशात् युक्तं साधु, सुभटस्य रणः सुभटरणः स्व(त)स्मिन् युद्धान्ते (युध्यन्ते) इति सुभटरणयुधः तेषां सुभटरणयुधां दारुणेन कर्मणा रौद्रेण मरणात्मककर्मणा आशागजत्वं दिग्गजत्वं हीयेत, आशागजत्वस्य हानिः स्यात्, तस्मादुक्तं दिग्गजादीनां गमनमित्यादि, स्थाणुः संज्ञा यस्य स स्थाणुसंज्ञः शङ्करशूलपक्षे स्थाणुः खुंटः, यश्चैषां दिग्गजानां भयचकितदृशां वित्रस्तलोचनानां स्थाणुसंज्ञो नश्यति पलायते तदद्भुतमिति, इति स्यात् वाक्यसमाप्तौ, बिभ्रत्स्थाणुः स्थिरो तत्तथाविध इति आश्चर्यमिति ॥१००॥

स्रस्ताङ्गः सन्नचेष्टो[१] भयहतवचनः[२] सन्नदोर्दण्डशाखः
स्थाणुर्दृष्ट्वा यमाजौ[३] क्षणमिव सभयं स्थाणुरेवोपजातः[४] ।
तस्य ध्वंसात्सुरारेर्महिषितवपुषो लब्धमानावकाशः
पार्व्वत्या वामपादः शमयतु [५]दुरितं दारुणं वः सदैव[५] ॥१०१॥

---

१. ज०का० यं दृष्ट्वा स्रस्तचेष्टः, इत्यप्यतिरिक्तः पाठः पार्श्वे टिप्पणे च प्रदर्शितः ।

२. ज०का० भयहतवचनः ।

३. ज० स्थाणुर्दृष्ट्वा सुरारिं; स्थाणुर्दैत्यं तमाजौ, स्थाणुर्दैत्यं यमाजौ इत्यपि पाठान्तरद्वयं प्रतिद्वये प्रदर्शितम् ।

४. ज० क्षणमिव सरुषं; का. क्षणमिह सरुषं; क्षणमिव सभयमिति टिप्पणे ।

५. का० भवतां ध्वान्तमन्तर्हिताकः, इति टिप्पणे ।

कुं०वृ०—पार्वत्याः वामपादो वो युष्मकं सदैव दारुणं रौद्रं दुरितं शमयतु शमं नयतु, किंभूतो वामचरणः, तस्य महिषितवपुषो मायामहिषस्य सुरारेर्ध्वंसात् लब्धमानावकाशः, लब्धो मानस्य अवकाशो येन स तथा, तस्य कस्य, स्थाणुर्महेश्वरः आजौ सङ्ग्रामे यं दृष्ट्वा क्षणमिव सभयं यथा स्यात् तथा स्थाणुरेव कीलक एव उपजातः, विशेषणद्वारेण उभयोः साम्यमाह, किंभूतः, स्रस्ताङ्गः स्रस्तं ध्वस्तं अङ्गं यस्य स तथा, स्थाणुरपि स्रस्ताङ्गो भवति, पुनश्च सन्नचेष्टः सन्ना चेष्टा यस्य स तथा, स्थाणुरपि निश्चेष्टो निरङ्गश्च भवति; पुनश्च भयहृतवचनः भयेन हृतं वचनं यस्य, स्थाणुः स्वभावादवचनः; सन्नदोर्दण्डशाखः सन्ना दोर्दण्डा एव शाखा यस्य, यं दृष्ट्वा त्रिजगतां कोदण्डदीक्षागुरुरपि स्थाणुरेवमवस्थो जातस्तस्य सुरारेर्ध्वंसात् लब्धमानावकाशो देव्या जगदम्बाया वामचरणो वो युष्माकं सदैव अनवरतमेव सर्वं दुरितं नाशयतु, इति सकलस्तोत्रार्थः; एवं-शब्दो वाक्य-परिसमाप्तौ ॥१०१॥ इति चण्डीशतवृत्तिः ॥

सं०व्या०—१०१ स्रस्ताङ्ग इति ।। पार्वत्याः पर्वतपुत्र्याः वामपादः दक्षिणेतरश्चरणो वो युष्माकं सदैव नित्यमेव दुरितमशुभं दारुणं शमयतु नाशयतु, महिषितं वपुर्येन स महिषितवपुस्तस्य महिषितवपुषः सुरारेर्विध्वंसाल्लब्धमानावकाशः मानपूजायां मानं मानः अवकाशोऽवसरो मानस्यावकाशो मानावकाशः लब्धो मानावकाशो येन स तथोक्तः, स्थाणुः शङ्करो महिषितवपुषं सुरारिं सरुषं सकोपं यथा क्षणं दृष्ट्वा अवलोक्य स्थाणुः च खुंटक एवोपजातः, किंविशिष्टः स्थाणुः स्रस्ताङ्गः सन्नचेष्टो भयहृतवचनस्सन्नदोर्दण्डशाखः, स्रस्तं अधःपतितं अङ्गहस्तादिकं यस्य स तथोक्तः, इतरस्तु स्रस्तावयवः सन्ना गता चेष्टा व्यापारो यस्य स तथोक्तः, भयेन हृतं वचनं यस्येति विग्रहः, अपरस्तु निसर्गादेव अवचनः, दोर्दण्डा एव शाखा इति दोर्दण्डशाखः, एकत्र सन्ना ग्लाना विस्तीर्णा दोर्दण्डशाखा यस्य सन्नदोर्दण्डशाख इति ॥१०१॥

*कुन्ते दन्तैर्निरुद्धे धनुषि विमुखितज्ये विषाणेन शूलाल्[1]-
लाङ्गूलेन प्रकोष्ठे वलयिनि पतिते तत्कृपाणे स्वपाणेः ।
शूले लोलाङ्घ्रिघातै[2]र्ललितकरतलात् प्रच्युते दूरमुर्व्यां
सर्वाङ्गीणं लुलायं जयति चरणतश्चण्डिका चूर्णयन्ती ॥१०२॥

इति श्रीमहाकविबाणभट्टविरचितं चण्डीशतकं समाप्तम् । सं० १९१२ श्रावण कृष्णा १ भौमे शुभमस्तु ॥

---

*श्लोकोऽयं प्रतौ नोपलभ्यते । ज. अतावयं व्याख्याविरहित एव, तदस्माभिः प्रपूरिताऽग्रिमे पृष्ठे संक्षिप्तव्याख्या द्रष्टव्या—

१. का० मूलात् । २. का० पातैः ।

[वृत्तिकृतः प्रशस्तिः]

अस्ति स्वस्तिगृहं समस्तजगतां श्रीजीववापान्वयाद्-
ब्रह्मर्षेरुदयाचलादिव रविर्जातो निधिस्तेजसाम् ।
वंशः कंसनिषूदनव्रतपरप्राप्तप्रकर्षो महान्
क्रोडाहीश्वरकूर्मगोत्रगिरिदिग्नागैकधुर्यः परम् ॥१॥

तत्रानन्दपुराधिवासकलिते श्रीवाष्पनामाभवद्-
विप्रः क्षिप्रतरप्रबोधमधुरानन्दैकनिष्ठः परम् ।
यस्त्यक्त्वा वसतिं महत्तरवणां युक्तो नियत्येयिवान्
श्रीमन्नागह्लदाभिधं पुरवरं श्रीमेदपाटावनौ ॥२॥

प्रोद्यच्छृङ्गसहस्रविस्तृतनवक्षौमध्वजास्फालन-
प्रोतोत्क्षिप्तपयोदसंहतिमिलद् ब्रह्मास्पदं भास्करः ।
यं दृष्ट्वा स्वरथैकचक्रदलनप्रादुर्भवत्संभ्रमा
दक्षोदागमनस्त्वसौ विजयते यत्रैकलिङ्गालयः ॥३॥

हारीतराशिमुनिपुङ्गवपादपद्म-
सेवाप्तसम्यगपसादवरप्रसादः ।
बाष्पान्नवाय(न्वयाय)मभिषिच्य चिरा [44b] य साख- (?)
नाराज्जितेन्द्रियाणां द्युनिवासभूयं(?) ।४॥

तत्र क्रमाद्भव्यपरम्परायां हम्मीरनामा नृपतिर्बभूव
लक्ष्मादिरत्नोद्भवनक्रमेण रत्नाकरः कल्पतरुर्य आसीत ।।५॥

कल्पद्रुर्यदि भूपतिः कथमसौ दाताऽधिकं कल्पनात्
स्वर्धेनुर्यदि वा पशुः कथमिदं जानाति तच्छालनाम् ।
चिन्तास्मा(श्मा)पि न तन्वतो नृपतयोर्वाचः किमेतादृशाः
इत्थं योऽर्थिचयैर्मितो नवनवो हम्मीरभूपोऽन्वहम् ।।६॥

चण्डिका देवी जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते, किंकुर्वती देवी, चूर्णयन्ती मृद्नती, कं लुलायं महिषं, 'लुलायो महिषो वाहद्विषत्कासरसैरिभा' इत्यमरः, कथं सर्वाङ्गीणं सर्वाण्यङ्गानि सम हृत्य, कुतः चरणतः पादतः, क्व भगवत्याः कुन्ते प्रासे दन्तैर्महिषेण निरुद्धे सति, विषाणेन शृङ्गेण धनुषि चापे मूलात् (शूलात्) विमुखितज्ये विमुखीभूतमौर्वीके सति, लाङ्गूलेन पुच्छेन देव्याः प्रकोष्ठे वलयिनि वेष्टिते सति; अनु च, तत्कृपाणे खड्गे स्वपाणेः स्वहस्तात् पतिते सति, लोलाङ्घ्रिपातैर्ललितकरतल त् लोलः चञ्चलो योऽङ्घ्रिपातः पादाघातः तत्कारणात् ललितो विभ्रमशीलो यः करः तस्य तलं तस्मात् शूले दूरं यथा भवति ऊर्व्यां पृथिव्यां पतिते सति चरणत एव महिषं मर्दयन्ती चण्डिका जयतीति वाक्यार्थः ॥१०२॥

स क्षेत्रसिंहे तनये निधाय तेजः, स्वकीयं (तु) दिवं जगाम ।
वह्नौ यथाऽर्कोऽस्तमयं हि भावो, महात्मनामत्र निसर्गसिद्धिः ॥७॥
यस्य क्षोणिपतेर्यशोविधुकरैर्वैरिप्रतापार्कभा
लुप्ताऽयुक्तमहो यतोऽरिसमये कोऽन्यो लभे वाऽस्पदम् ।
एतन्नूतनमत्र भाति यदहो तस्मिन् स्ववर्गोदये-
ऽरातिस्त्रैणमुखेन्दवो गतरुचो म्लानिं परां यद्ययुः ॥८॥
माद्यन्माद्यन्महेभप्रखरस(श)रहतिक्षिप्तराजन्ययूथो
यं खानः यत्रनैशो (पत्तनेशो) दफर इति समासाद्य कुण्ठीबभूव ।
सोऽयं मत्तो (ल्लो) रणादिः शककुलवनितादत्तवैधव्यदीक्षः
कारागारे यदीये नृपतिशतयुते संस्तरं नापि लेभे ॥९॥
यत्प्रोत्तुङ्गतुरङ्गकुञ्जरखुराघातोत्थितै रेणुभिः
सेहे यस्य न लुप्तरश्मिपटलव्याजात्प्रतापं रविः ।
तच्चित्रं किमु सातलादिकनृपा यत्प्राकृतास्तत्रसु-
स्त्यक्त्वा स्वानि पुराणि, कस्तु बलिनां सूक्ष्मो गुरुर्वा पुरः ॥१०॥
शस्त्राशस्त्रिहताजिलम्पट [भट]व्राते (तो)च्छलच्छोणित-
च्छन्नप्रोद्गतपांशुपुञ्जविसरत् प्रादुर्भवत्कर्दमम् ।
तप्तः (त्रस्तः)सामहितो रणे शकपतिर्यस्मात्तथामालव-
क्ष्मापोऽयाति (पि) यथा भयेन चकितः स्वप्नेऽपि तं पश्यति ॥११॥
तज्जातो भूरिगुणः पृथिव्यां श्रीलक्षसिंहो नृपतिर्बभूव ।
सद्रूपनिर्माणपरम्परायाः फलं श्रमस्येव जगद्विधातुः ॥१२॥
अस्य क्षोणिपते रणे रिपुबलप्राणानिलाऽकम्पनं
पाणौ खड्गलता करोति यदहो तन्नैव चित्रीयते ।
यच्चैवं...प्रतिभटज्योतिर्गणालोपनात् (?)
वैरिक्ष्मापयशःकलानिधिकलादानात् स्वतो द्योतनात् ॥१३॥
सच्चेतः कमलौघजृम्भणरसादस्य प्रतापो रवि-
र्मेरु यांति (मेरुं याति) परिभ्रमन्नविषयं नो विस्मयोऽयं महान् ॥१४॥
अस्यारिभूपरमणीमुखवर्द्धमानं
यत्कज्जलेन मलिनीकुरुते प्रतापः ।
दीपोऽस्तु तज्ज्वलति यद्हृदये तदीये
स्नेहं विनाऽद्भुतमिदं नवमेतदत्र ॥१५॥
यक्षेशः किमयं न सोऽन्यवशगः किं धर्मसूनुर्नाऽनुजः
स्फीतः सोऽयमयं बलिस्त्रिपदिकामात्रप्रदः किं न सः ।

इत्थं तुल्यसुवर्णदानसमये[यः] पारिशेष्यान्मितो
विद्वद्भिः स्वभुजार्जिताधिकवसुः श्रीलक्षसिंहो नृपः ॥१६॥
जाताः सत्यमधिक्षिति क्षितिभुजो दातृत्वकाष्ठापरा-
ऽनेके मा वृणतो जनो झटिति यैरेकैकतस्त पुनः ।
किं तैश्चर्वितचर्वणव्यवसितैरूनोव्य(ऽद्य) हेम्ना गया-
मित्थं विश्वजनीनकर्मनिरतो योऽमू(भूद्) भुवनत्रयात् ॥ ७॥
तदनु विश्रुतिमाप स मोकलः
प्रतिभटक्षितिपैरसमो कलः ।
रविसुराधिपशेषसमो कल(ः)
प्रतिनिधि(45a)भुवनेऽपि स मोकलः ॥१८॥
वर्ण्यः किं स नृपाग्रणीर्नतनृपप्राग्भारमौलिक्षरन्-
मालाऽऽमोदि मधुव्रतस्म(स्न)पितविभ्राजत्पदाम्भोरुहः ।
यस्योत्तुङ्गतुरङ्गचञ्चलखुरो(रै)र्यद्रेणुभिः पण्डितैः
स्वर्धुन्यम्बुनि भूमुखं विरह(हर)तामर्कायतामम्बरे ॥१९॥
लीलालोलमदिष्णुकुञ्जरवरव्रातैर्गिरीन्द्रप्रभां
बिभ्रद्भिः समरावनीपरिसरे यत्राऽभ्यमित्रीयति ।
न(च)ञ्चद्भूमिरसातलोद्गतजलप्रोत्तुङ्गरङ्गच्छटा-
वीचिक्षोभमवाप्य संभ्रमवशात्सेतोः स्मरत्यम्बुधिः ॥२०॥
प्रतापार्के यस्य क्षितिक्रमितुरुच्चोच्चतरतां
गतेऽरातिस्त्रैणप्रबलमुखचन्द्रा गतरुचः ।
निसर्गोऽयं सर्गः पुनरयम(मि)मे योऽरिहृदये
यतः प्रादुर्भावं गतमतितरां मोहतिमिरम् ॥२१॥
वीरस्य यस्य समरेऽधिकरं कृपाणी-
मुत्कञ्चुकामरिभटानिलबद्धतृष्णाम् ।
दृष्ट्वा भुजङ्गयुवतीमिव वैरिवर्गा-
स्त्रासात्समुद्रमपि गोष्पदतामनैषुः ॥२२॥
नध्य(व्य)तां सकलभूमि[प]वधानां शेखरावधितः कमलत्त्वम् ।
यस्य भूमिकमितुश्चरणस्य प्राप संख्या विजिताऽरिभटस्य ॥२३॥
यस्य प्रतापस्य मृषा न जाता
कृशानुताऽऽरिद्रुमदाहदानात् ।
एतन्न जाने यदभूत्सुधात्वं
सत्सङ्गिनस्तस्य तथाविधस्य ॥२४॥

यशो यदीयं करिदन्त-कुन्द-
हिमाद्रिशुभ्रं मलिनीकरोति ।
वैरिव्रजस्त्रैणमुखाम्बुजानि
जगच्चमत्कारकरं किलैतत् ॥२५॥
यस्यानेकरणाङ्गणप्रशमिता[रा]तिव्रजैर्मूर्च्छित-
प्रोद्यद्गातु(भानु)निभप्रतापपटलैरापूरिते भूतले ।
लिप्त्वा कुङ्कमपङ्कवारिमधियाऽस्यां कज्जलैः स्त्रीगणो-
ऽरीणां नाथगृहानहस्यत मुदाऽऽलीभिः सतालं व्रजन् ॥२६॥
चरद्रणे शोणितदिग्धदेशे यशो यदीयं मलिनं न जातम् ।
एतन्न चित्रं (नु) निसर्गशुद्धा न पापिसङ्गादपि विक्र(क्रि)यन्ते ॥२७॥
तज्जः पूर्वमहीपतिप्रतिनिधिः श्रीकुम्भकर्णो भुवं
पाति प्राप्तपराप्रसादविलसत्प्राज्याग्र्यभाग्यस्थितिः ।
यं विद्या विजयश्रियो नयकथाः सन्मार्गसुश्रेणयः
कान्तं प्राप्य लसन्ति हर्षविहितस्थाना अनन्यादराः ॥२८॥

इति श्रीप्रशस्तिः समाप्ता, तत्समाप्तौ च समाप्तेयं श्रीकुम्भ-
श्रीकुम्भकर्णविनिर्मिता चण्डीशतकमहाकाव्यवृत्तिः ॥
ग्रन्थाग्रं २४०० ॥ श्रीरस्तु ॥

विशिखेन्द्रियरसपृथ्वीसङ्ख्ये वर्षे सुनागपुरे नगरे ।
वाचकमस्तकचूडामणयः श्रीज्ञानविमलाख्याः ॥१॥
विजयन्ते भुवि तेषां शिष्येणालेखि वृत्तिरेषा ॥ शम् ।
चण्डोशतके काव्ये स्वार्थं श्रीवल्लभाह्वेन ॥२॥ युग्मम् ॥
श्रेयः श्रेयः स्यात् सर्वदा सर्वदाशारदाप्रसादात् ॥
२३०० (45b)

परिशिष्टम्

चण्डीशतके

श्लोकानामनुक्रमणिका

* प्रथमा सङ्ख्या पद्याङ्कमपरा च पृष्ठाङ्कं सूचयति ।

चण्डिकास्तुतिः

(कन्हव्यासकृता)

अथ चण्डिकाशवितः (स्तुतिः)

गुणगणसदनजितकमले, मुररिपुहृदयनिवासिनि कमले ।
जय जय सुरसेवितपदकमले, नृपकुम्भसमर्पितजयकमले ॥४८॥

श्रीभुवनेशी भवभयहर्त्री, कुम्भमहीशोदयसुखकर्त्री ।
चन्द्रकिरीटा रविरुचिरम्या, सा जयति(ते) दुर्गा सु[र]गम्या ॥४९॥

निखिलकला सकला सु[मु]खी, रचितजयाबिजयातिसखी ।
जयति जया(यी) नृप एष सुखी, निजमह[से] मृगनाभिनखी॥५०॥

भाति विभास्वरचम्पकमाला, कुम्भनृपेष्टश्रीजयमाला ।
गोधिकयासनचित्रगतिं, कुम्भकृतेभतुरङ्गजितिम् ॥५१॥

त्वां भुवनेशि भवानि नवे, सच्चरणं शरणं हि शिवे ।
चण्डी खण्डीकृतरिपुखण्डा, मत्ता कृताऽसुरहतिचण्डा ॥५२॥

कुम्भप्रता[पाव निनवखण्डा, भूतोद्भूतौ पृथुलपि(प्र)चण्डा ।
या मधुकैटभमिश्रैश्चित्रपदा, महिषाश्रैः[स्रैर्या च विचित्रपदा] ॥५३॥

शुम्भनिशुम्भ दुरंगा !?), साऽवतु कुम्भमभङ्गा ।
प्रामाणी पौराणी वाणी, यासो[सावु]क्ता शर्वाणी ॥५४॥

यस्यामोता विश्वश्रेणी, श्रीकुम्भश्रेयोनिश्रेणी ।
हिमगिरितनुजा, विदलितदनुजा
मधुमतिमुदिता, कलशनृपनुता ॥५५॥

कृष्णा ना (या) मधुकैटभान्तकनिभा कुम्भप्रसादप्रभा
या लक्ष्मीर्महिषापहाऽतिमहती धूम्राश(सु)रघ्नी शुभा ।
चामुण्डा क्षतचण्डमुण्डरुधिरोद्भूता च वागीडिता
यापाद्ध्वस्तनिशुम्भशुम्भदनुजा शार्दूलविक्रीडिता ॥५६॥

शौर्योदार्यार्यधर्मोद्धरणरणरणत्कारकीर्ते रसाक्ता
खुम्माणक्षोणिजानेर्गुणगरिमगिरा व्यासक न्हप्रयुक्ता ।
यावत् सूर्येन्दुताराजलधिजलधराधारगङ्गातरङ्गा
तावत्पञ्चाशिकेयं वसतु हृदि सतां कुम्भभूभृत्सुरङ्गा ॥५७॥

विघ्नेशो विघ्नहर्ता तदनु दिनकरो ध्वांतविध्वंसकर्ता
श्रीकान्तः श्रीनिवासः परपुरदहनः शङ्करो विश्वकर्ता ।
चण्डी चण्डासुरघ्नी त्रिदशगणवराः पञ्च पुण्यप्रपञ्चाः
पान्तु श्रीकुम्भकर्णबहुसुखविधये मूर्तिमन्तो विरञ्चाः ॥५८॥

श्रीकुम्भदत्तसर्वार्था गोविन्दकृतसत्पथा ।
पञ्चाशिकाऽर्थदासेन श्रीकल्लव्यासेन कीर्तिता ॥

इति चण्डिकाशक्तिः (स्तुतिः)